A HUMBLE EPISTLE

and

A Guide to the Young Aristocracy.

SHIVANATH SINGH VARMA.

AJMER
VEDIC YANTRALAYA.
1930.

MALSISAR HOUSE,
JAIPUR,
7th APRIL, 1930.

समर्पणम्

श्रीयुत हिज़ हाइनेस सरआमदे राजहाय
हिन्दुस्थान श्री राजराजेन्द्र महाराजा-
धिराजानां श्रीमन्मुकुटमणीनां छत्र-
पतीनां श्री १०८ श्री सवाई

मानसिंहजी बहादुर

देवजयपुरनृपतीनां श्रीमतां
करकमलयोरिदं
पुस्तकं सादरं समर्पितमस्ति

विषय-सूची

विषय-सूची

विषय-सूची

विनय-पत्र

Shreeman Purohit
Sri Gopinathji
With best wishes
From
The Author

4th September 1930.

मंवद्रुचिकरः स्यात् ।

जब से श्रीमान् की योरप-यात्रा के समाचार सुने तब से मेरा कुछ सेवा करने का विचार हुआ। इस संकल्प के स्फुरण होने पर कि मानसिक और शारीरिक दो प्रकार की सेवाओं में से कौनसी सेवा उत्तम है; कौनसी कर सकता हूं, किस सेवा का समय अनुकूल है यह विचार करके मानसिक सेवा, जिसको मैं शारीरिक सेवा से उत्तम मानता हूं, करने का साहस किया। अतः आज इस प्रार्थनापत्र द्वारा नम्रभाव से मेरे विचारों को आप की भेंट रूप से उपस्थित करता हूं और आशा करता हूं कि श्रीमान् आदि से अन्त तक ध्यानपूर्वक पढ़ने की कृपा करेंगे।

इसमें मैंने मेरे विचारों के साथ उन प्राचीन, प्रातः-स्मरणीय, अद्भुत, परम उपयोगी और सच्चे धर्मयुक्त सिद्धान्तों में से कुछ को आर्यग्रन्थों से बटोर कर एक जगह लिख दिया है जो समय समय पर अवतारों और महर्षियों के मुख से अमृत के समान इस संसार के भले के लिए टपकाये गये हैं।

विनय-पत्र

आज दिन आप योरप प्रदेश में भ्रमण कर रहे हैं और वहां की अनेक प्रकार की प्राकृतिक और मनुष्यकृत शोभायें देखेंगे और यह भी देखेंगे कि इस समय योरपवासियों ने अपने पुरुषार्थ से इस श्लोक को कितना सार्थक कर दिया है:—

उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः ।
नहि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥

अर्थ:—परिश्रम और साहस से संसार के कार्य सिद्ध हो सकते हैं, शिथिल होकर पड़े रहने से और अपने मन में केवल मानसिक विचार करने से कोई कार्य नहीं होता। यदि सिंह जंगल में सोता रहे तो अपने आप हरिण उसके मुँह में जाकर प्रवेश नहीं करते।

अनेक प्रकार के उद्यम से अनेक प्रकार के कला-कौशल से योरपवासी ठीक इसी पथ के अनुसार चलकर संसार को अपना प्रभुत्व दिखला रहे हैं, नीति द्वारा अनेक जटिल कार्यों को सिद्ध करते हैं और सरलता के साथ सफलता प्राप्त कर रहे हैं।

जब श्री भगवान् रामचन्द्र समुद्र तट पर बैठकर यह प्रार्थना करते थे कि समुद्र मार्ग दे उस समय श्री लक्ष्मणजी ने साहस और उद्यम करने की प्रार्थना भगवान् से की और वैसा ही करने से कार्य में सफलता हुई, समुद्र पर पुल बांधा गया, समुद्र का अभिमान तोड़ डाला गया और

रावण जैसा महाशत्रु मारा गया इससे यह सिद्ध हुआ कि पुरुषार्थ संसार में सब से बड़ा है।

आप भारत लौटने से पहले फ्रांस और जर्मन के युद्ध-क्षेत्र का भी अवश्य निरीक्षण करें और वहां जाकर यह उपदेश लें कि बड़ी चढ़ी जातियां जब अपने सिर को बहुत ऊंचा कर लेती हैं तो अकस्मात् उनको शिक्षा देने के निमित्त एक ऐसी घटना होती है जिससे उनको संसार में नीचा देखना पड़ता है। ऐसी दुर्घटनायें इस संसार में कई हो चुकी हैं, परन्तु जो आजकल मनुष्यों को विशेष याद हैं, उनमें दो ही हैं। एक कुरुक्षेत्र का महाभारत और दूसरा योरप का महायुद्ध। उसमें उस समय के क्षत्रियों के किये हुए हठ और अधर्म का धर्म से युद्ध हुआ और श्रीकृष्ण की कृपा से अधर्म पर धर्म की विजय हुई। योरप में अनेक देशों ने धर्म की रक्षा के निमित्त जर्मन का सामना किया और ईश्वर की कृपा से इनकी विजय हुई, जिसमें भारतवर्ष ने भी बड़ा योग दिया। फ्रांस की भूमि में जहां योरोपीय देशों के अनेक वीरों के अस्थि गड़े हुए हैं वहां भारत के अनेक वीर अभी तक वीरशय्या पर सो रहे हैं और संसार को यह परिचय दे रहे हैं कि भारत आज इस गिरी हुई दशा में भी दूर देश में जाकर धर्म की रक्षा के निमित्त औरों की सहायता करने में तत्पर है। इस युद्ध-भूमि में जयपुर के अनेक वीर भी लेटे हुए हैं, इसलिये इस भूमि

को स्नेह और सन्मान की दृष्टि से देखना आपके लिये अति लाभदायक है।

भ्रमण करते हुए ट्रेफेलगर स्क्वैर में वीर नेलसन की मूर्ति को अवश्य देखें और उससे यह शिक्षा ग्रहण करें कि हरएक बृटिश देशवासी बादशाह से गरीब तक के हृदय में उसके लिए कितने उच्चकोटि का भाव है। भारत लौटकर इस देश के प्रसिद्ध प्राचीन वा अर्वाचीन मनुष्यों से आप भी उसी प्रकार का प्यार करें जैसा बृटिश जाति नेलसन से करती है। भारत के गत इतिहास में ऐसे पराक्रमी, सुचरित्र, वीर, निष्पक्ष और अनेक शुभगुणों से भूषित महापुरुषों की कमी नहीं है। इतिहास का पूरा ज्ञान न होने से यहां के मनुष्यों ने उन वीरों और महापुरुषों का आदर करना छोड़ दिया। यह सब विद्या की कमी से और शिक्षा के अभाव से हुआ। योरप आदि देशों में वहां के प्रसिद्ध स्थानों में प्रसिद्ध मनुष्यों की मूर्ति बनाकर रक्खी जाती हैं और उन मूर्तियों को देख देख कर वहां के स्त्री, पुरुष और बालक उनके चरित्रों का स्मरण कर शिक्षा ग्रहण करते हैं। ठीक उसी प्रकार और उसी तात्पर्य को लेते हुए और उसी लक्ष्य को दृष्टि में रख कर भारत में भी महान् सिद्ध और वीर पुरुषों की मूर्तियों को स्थान स्थान पर रखकर उनके आदर करने की प्रथा सहस्रों वर्षों से चली आरही है। परन्तु अब कुछ काल से भारत की दशा उलटी है यहां पर श्रीकृष्ण

और रामचन्द्र की मूर्ति के सामने जाकर नमस्कार करने से भी लोगों को हटाया जाता है और यह कहा जाता है कि यह मूर्तिपूजा है, इसका निषेध है, इसके करने से कुछ फल नहीं है। हमको योरोपीय देशों से इस बात की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए कि वे अपने प्राचीन मनुष्यों की मूर्तियों को किस आदर से देखते हैं और उनके चरित्रों का स्मरण कर उनका हृदय प्रतिदिन किस प्रकार उत्साह से पूर्ण होता है और साहस तथा वीर्य से भर जाते हैं, क्या भारत के श्री रामचन्द्र और श्रीकृष्ण जैसे अवतारों की समता का नमूना रखने का अभिमान कोई और प्रदेश कर सकता है ?

क्या हनुमान जैसे महावीर किसी देश में हुए हैं, जिन्होंने आजन्म ब्रह्मचर्य धारण किया, श्री रामचन्द्र की अनन्य भक्ति द्वारा सब लोकों में सुयश को प्राप्त हुए और वीरता और बुद्धि के ऐसे कार्य किए जिनकी बराबरी करना तो असम्भव है परन्तु अणुमात्र करना भी कठिन है। महावीर हनुमान ने समुद्र के इस तट से कूद कर लंका में प्रवेश किया। बड़े बलशाली भयंकर शत्रु के देश में अकेले घूम कर उसका मानमर्दन किया। जगत्माता सीता की सुधि भगवान् रामचन्द्र को सुनाई। राम और रावण के युद्ध के समय भयंकर बड़े बड़े योद्धाओं को मारकर वीरता दिखाई। जब श्री लक्ष्मण को मूर्छा आई तब वैद्यों के कथनानुसार

अपूर्व ओषधि ठीक समय पर जहां लक्ष्मण मूर्छित पड़े हुए थे युद्धक्षेत्र में हिमालय से लेजाकर पहुंचाई जिससे लक्ष्मणजी की मूर्छा गई और श्री भगवान् को परम सुख मिला। ऐसे अद्‌भुत, साहसी और पवित्र चरित्र वालों की मूर्ति के सामने कौन दुराग्रही और बेसमझ होगा जो अपना सिर न झुकावे। श्री भगवान् रामचन्द्र की सन्तान के लिए तो हनुमान परम उपकारी मित्र हैं और पूजने योग्य देवता हैं क्योंकि इसी वीर ने लंका में जाकर सीता का संदेशा रामचन्द्र को उस शिला पर ऐसे समय में सुनाया जब उनका हृदय क्रोध और संताप से जल रहा था। रामचन्द्र की परमप्रिय महारानी सती सीता को उनसे मिलाने के लिए जो जो उद्योग किया उसको वाल्मीकि और तुलसीदास जैसे महात्माओं ने भलीभाँति गाया है। यदि किसी को मूर्तिपूजा करने में हिचक है तो न करे परन्तु यह कहां तक उचित है कि हनुमान जैसे वीर, पराक्रमी, सुचरित्र, सच्चे भक्त, परोपकारी और दयालु की मूर्ति के आगे तो सिर न झुकाना और आधुनिक साधारण मनुष्यों की पत्थर की मूर्तियों के सामने लम्बे लम्बे व्याख्यान देकर उनकी प्रशंसा को संसार में फैलाना। मेरा इन आधुनिक मनुष्यों से और इनकी मूर्ति स्थापन से द्वेष नहीं है। मैं इनको पूज्य भाव से देखता हूं और इनके गुणों की प्रशंसा करता हूं परन्तु साथ साथ हाथ जोड़ कर यह भी प्रार्थना करता

हूं कि उन प्राचीन उच्चकोटि के वीरों और परोपकारियों के सामने सिर झुकाने में संकोच क्यों किया जाता है जो अर्वाचीनों से बहुत उच्चकोटि के होगए हैं ।

क्या यहां के बहुत से प्रसिद्ध और धार्मिक राजाओं के बराबरी के राजा किसी प्रदेश में मिल सकते हैं ? परन्तु ऐसे उत्तम वीर और साहसी पुरुषों के इतिहास का यहां के मनुष्यों पर प्रभाव क्यों नहीं पड़ता ? इसका कारण अविद्या और शिक्षा की प्रणाली भ्रष्ट होना है, भर्तृहरि ने ठीक कहा है—"विद्याविहीनः पशुः" अर्थात् विद्याविहीन पुरुष पशु है ।

एक आश्चर्य-जनक बात इस देश के मनुष्यों में और भी देखी जाती है कि अच्छे विद्वान् होकर, इस देश के और परदेश के इतिहासों को जानकर, बहुत से देशों में घूमकर और सब कुछ जानते हुए भी सन्मार्ग को छोड़कर कुमार्ग की तरफ़ जल्दी से जाने की चेष्टा करते हैं । कई तो प्राचीन शास्त्रों की ओट लेकर, कई देश की सेवा करने का आडम्बर-रूपी वस्त्र धारण करके ऐसे कार्य कर रहे हैं जो लिखने योग्य नहीं हैं । संसार में तीन प्रकार की सहानुभूति और प्रीति होती हैं, धर्म-सम्बन्धी, जाति-सम्बन्धी और देश-सम्बन्धी, यहां के मनुष्यों में इन तीनों की कमी है । देखा-देखी बाहर का आडम्बर बहुत है परन्तु असली कार्य करने में बहुत पीछे रहते हैं ।

मैंने श्रीमान् को इस निवेदन-पत्र में भारत के अनेक धर्म-शास्त्रों के चुने हुए पुष्पों की गंध तो सुंघाई है परन्तु योरप देश में भी अनेक उत्तम ग्रंथों की कमी नहीं है, उनमें से भी कुछ इसी पत्र के साथ भेंट करता हूं, आशा है रुचिकर होंगे।

महत्त्वपूर्ण शिक्षा जो महात्मा क्राइस्ट सारे संसार को देगये हैं उसमें से कुछ उद्धृत करके लिखता हूं। ये उस व्यक्ति के मुख से निकले हुए शब्द हैं, जिसके उपदेश को आज दिन सब योरप और उसके अलावा अमेरिका इत्यादिक देश भी नाममात्र मानना कहते हैं। आप कृपा करके महात्मा क्राइस्ट के इन शब्दों को ध्यानपूर्वक पढ़ें। यह हिन्दू-धर्म से किसी प्रकार विरोध करने वाले नहीं हैं। मैं दृढ़ता से कह सकता हूं कि हिन्दू-धर्म के आर्य-ग्रन्थों में जो उपदेश हैं, वेही शब्द इस महात्मा के मुख से निकले हैं।

आप कृपा करके योरप-यात्रा समाप्त करने से पहले प्रयत्न करके महात्मा क्राइस्ट के सच्चे उपदेशों को पूर्णतया धारण करने वाले व्यक्तियों का दर्शन करें, क्योंकि इस बढ़े चढ़े समय में योरप देश में ऐसे महानुभावों के मिलने की पूरी सम्भावना हो सकती है। यदि वहां ऐसा महात्मा एक भी नहीं मिला जो क्राइस्ट के उपदेशों को पूरी तरह से धारण करता हो, तो मान लेना पड़ेगा कि उस जाति में सच्चे धार्मिक पुत्रों की बहुत कमी है। सांसारिक उन्नति धार्मिक उन्नति के सामने बहुत तुच्छ है। बहुत बड़े स्टीमर के नीचे

टारपेडो लगाकर भ्रष्ट कर देना आसान है और ऊपर से वम्ब फेंककर नीचे वालों को नष्ट कर देना भी आसान है, परन्तु अपने हृदय में रहने वाले काम, क्रोध, लोभ को सत्य से काटना महान् कठिन है। जबतक योरपवासी महात्मा क्राइस्ट के सच्चे उपदेशों को मानकर उनके हृदय में रहने वाले शत्रुओं को न मार सकें तबतक उनका उन्नति का अभिमान करना व्यर्थ है। एक कामी और लोभी दिन भर मोटर में और हवाई जहाज़ में घूमता है और बड़े बड़े महलों में सुवर्ण की कुर्सी पर बैठता है और उत्तम भोजन करता है यह सब कुछ प्राप्त होने पर भी उस गरीब से उसका जीवनकाल बहुत नीचा है, जिसने इन्द्रियों को जीत-कर काम, क्रोध रूपी शत्रु का दमन कर दिया है। हे योरप-निवासियो ! प्रियमित्रो ! कृपा करके महात्मा क्राइस्ट के मुख से निकले हुए सच्चे अमृत को पियो और वृथा आडम्बर को त्याग कर मनुष्यमात्र को अपना भाई समझ कर पवित्र जीवन व्यतीत करने का उपाय करो।

विलायत में महाकवि शेक्सपियर हुआ, जिसने अनेक ग्रन्थ लिखे। उसने नवयुवकों को जो शिक्षा दी है, वह मैं इस पत्र के साथ आपकी भेट करता हूं इसको विचारपूर्वक पढ़ने से और ग्रहण करने से आपको बहुत लाभ होने की सम्भावना है।

मुझे यह भी पूर्ण आशा है और मैं आपसे अनुरोध

करता हूं कि भारत में वापस लौटने से पहिले आप योरप के प्रसिद्ध देशों में अवश्य भ्रमण करें। वहां के प्रसिद्ध स्थानों को देखें, वीर पुरुषों की मूर्तियों को देखें और उनके चरित्रों को सुनकर शिक्षा का अद्वितीय ख़ज़ाना अपने हृदय में रखकर अपने साथ लेते आवें और यहां लाकर जैसे मेघ जल की वर्षा करते हैं वैसे सब के हित के लिए उस शिक्षा-रूपी अमृत को फैलावें।

इस पत्र को समाप्त करने से पहले आप योरप अकेले शिक्षा ग्रहण करने गये इस विषय पर भी अपने विचार प्रकट करता हूं। जब आपका विचार योरप अकेले जाने का निश्चित हुआ उस समय चर्चा फैली कि अकेला जाना हानिकारक होगा। परन्तु यदि उत्तम शिक्षा ग्रहण करके आप वापस लौटेंगे तो बहुत लाभ होगा। सबसे बड़ा लाभ जो स्वतन्त्रता पूर्वक भ्रमण करने का होता है वह तो आपको पहुंच चुका और अब आपको अकेले यात्रा करने के कष्ट वा भय कभी नहीं डरायेंगे और निर्भय होकर दूर देशों में यात्रा कर सकेंगे। यह बहुत बड़ा भारी लाभ है। इसी शिक्षा के भरोसे योरप के बड़े बड़े लार्ड अकेले भ्रमण करने में कुछ भी शंका नहीं करते। महाराजा जयपुर दोनों प्रकार की यात्रा करने की सामर्थ्य रखते हैं, वैभवयुक्त और साधारण। वैभवयुक्त यात्रा का नमूना श्रीमान् भूतपूर्व महाराजा माधवसिंहजी बहादुर जयपुर ने योरप को दिख-

लाया और साधारण यात्रा का नमूना आपने, ये दोनों ही घटनाएं प्रशंसनीय हैं।

यात्रा से वापिस लौट कर भारत-भ्रमण करना परम-उपयोगी होगा और बहुत प्राचीन विद्वानों के सिद्धान्त के अनुसार यदि भारत देखा जाय तो आपके लिये और भी लाभदायक होगा। यहां के सत्पुरुषों ने यह रीति नियमित की थी कि यथाशक्ति और अवकाश मिलने पर मनुष्य अपनी आयु में एकवार चार धाम करे। उनका हेतु इस यात्रा कराने से यही था कि हरएक मनुष्य अपनी आयु में एकवार अपने देश को देख ले। इससे पर्यटन करने वाले को इस देश का पूरा ज्ञान हो सकता है। इतिहास और भूगोल केवल पुस्तकों में पढ़ने से नहीं आते इनसे यदि लाभ उठाना है तो उन स्थानों पर जाकर अवश्य देखना चाहिए जिन देशों का वह इतिहास या भूगोल है। भारत के चार धाम करने से मनुष्य को बड़ा लाभ हो सकता है।

१ पहिली यात्रा—बद्रिकाश्रम हिमालय पहाड़ तक की कीजाय। हरिद्वार इत्यादि स्थानों को देखता हुआ महर्षियों की तपोभूमि के दर्शन करे तो बड़ी भारी शिक्षा के लाभ की संभावना है और उससे सीखे कि उनका जीवन कितना पवित्र था, अब भी यदि सौभाग्य हो तो किसी महापुरुष का दर्शन हो जाय जिससे यात्री का जीवन सफल हो सकता है।

२ दूसरी यात्रा—जगन्नाथपुरी तक करनी चाहिए जिसमें मथुरा, वृन्दावन जैसे पवित्र स्थान जहां श्रीकृष्ण का अवतार हुआ और अयोध्या जहां श्री रामचन्द्र का अवतार हुआ और प्रयाग, काशी, पाटलिपुत्र, बंगाल का देश, आसाम इत्यादि देशों को देख और उनका इतिहास पढ़कर लाभ उठाया जा सकता है।

३ तीसरी यात्रा—सेतुबन्ध रामेश्वर तक होनी चाहिये। यह यात्रा यदि साहस और कष्ट उठाने की सामर्थ्य हो तो अयोध्या से सेतुबन्ध रामेश्वर तक पैदल करे और वाल्मीकीय आदि पुस्तकों को पढ़कर भगवान् रामचन्द्र के चरित्रों का स्मरण कर अपना जीवन सफल करे। हे राजन्! यह यात्रा बड़ी पापमोचनी है और क्षत्रियकुल के नवयुवकों में नया जीवन डालने के लिये बीजमन्त्र हैं। सेतुबन्ध रामेश्वर तक पहुंच कर जितना इतिहास सुना जायगा उससे जो अनुपम लाभ होगा वह किसी यात्रा से वा किसी पुस्तक पढ़ने से न होगा। पद पद पर वीरता, साहस और चरित्र के अद्भुत नमूने हैं। राम, लक्ष्मण और सीता के महान् पवित्र चरित्रों को सुनने से मनुष्य के हृदय के पाप नष्ट हो सकते हैं। उन स्थानों पर जहां पर वह किसी समय विराजते थे, जाकर उनके चरित्रों को सुनकर उनकी आज्ञा शिरोधार्य करना आपका परमधर्म है क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं कि:—

"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥"

तात्पर्य यह है कि—महान् पुरुष जैसे आचरणों को धारण करके अपने बर्ताव में लाते हैं साधारण मनुष्य उनका अनुकरण करके वैसा ही व्यवहार करने लग जाते हैं आपके चरित्र के साथ सबका चरित्र सुधरेगा, आपके सत्य भावों के प्रभाव से सबका सत्य भाव बढ़ेगा आपके मन, वचन और कर्म से किये हुए कर्मों का प्रभाव आपके आश्रित जनों पर वा उससे भी अधिक दूर तक फैलेगा और अपना प्रभाव इसी प्रकार जमावेगा जैसे सूर्य एक होकर भी सब को प्रकाश देता है। आप सूर्यवंश में हैं इसलिये जितने अंश में आप उस वंश के नियम को निभा सकें निभावें, परन्तु यह स्मरण रहे कि आपके वंश का सबसे प्रधान नियम यही है कि अंधेरे को हटाना और प्रकाश फैलाना और फिर उसकी एवज में लेने की इच्छा न करना। श्री भगवान् रामचन्द्र का इतिहास और उनकी परमपुनीत कथा और योगेश्वर श्रीकृष्ण का इतिहास और उनकी परमपुनीत कथा प्रतिदिन सुनने से ही मनुष्य के हृदय के पाप नष्ट हो सकते हैं। हे राजन्! मनुष्य के हृदय में पाप ऐसे ही आते रहते हैं जैसे तलवार पर ज़ंग। उनके साफ़ करने की समय समय पर आवश्यकता रहती ही है। जैसा भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है:—

"यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥"

अर्थात्—यज्ञ, दान और तप इन कर्मों को न छोड़ना चाहिये किन्तु इनको करना ही चाहिये । यज्ञ, दान और तप विद्वानों को पवित्र करने वाले हैं, इससे इनका त्याग ज्ञानियों को भी न करना चाहिये । तुलसीदासजी ने ठीक कहा हैः—

तुलसी भूपति भानु सों, प्रजा भाग्य ते होइ ।
हर्षत वर्षत सब लखैं, कर्षत लखै न कोइ ॥

तुलसीदास कहते हैं कि सूर्य के समान राजा प्रजा के अच्छे भाग्य से होता है, जैसे सूर्य को बरसते सब देखते हैं पर जल को खींचते कोई नहीं देखता, वैसे ही राजा को प्रसन्न हो कर देते सब देखें पर प्रजा से कर लेते कोई नहीं देखे ।

सेतुबन्ध रामेश्वर पहुंच कर श्री भगवान् रामचन्द्र के और लक्ष्मण के और उनके सहायक राजा सुग्रीव, हनुमान, अंगद, नल, नील, जाम्बवान् आदि के परम अद्भुत साहसीय वीर और धर्मपरायण चरित्र को स्मरण करके बहुत लाभ हो सकेगा । वाल्मीकीय को वहां बैठकर पढ़ने से आपको स्पष्ट ज्ञान होगा कि भगवान् रामचन्द्र का प्रताप क्या था और वानरी सेना कितनी साहसी थी और नल का इंजीनियरिंग (शिल्पकला) का ज्ञान अद्भुत था जिसकी आजतक

शिल्पविद्या जानने वाले और योरप के प्रसिद्ध विद्वान् भी बराबरी नहीं कर सके ।

समुद्र तट के ऊपर जहां श्री रामचंद्रजी विराजे हैं वहां जाकर देखने से यह विदित होगा कि जिसको अब लंका कहते हैं, वह लंका नहीं है, यह उस सेतु का एक टुकड़ा है और असली लंका द्वीप जो उस समय रावण की राजधानी थी वह इस सीलोन से दक्षिण और पश्चिम की ओर हट कर थी, जिसे आज लक्केदीव और मालद्वीव कहते हैं। वह इक्वेटर लाइन तक दक्षिण को फैली हुई थी । नल ने भारतवर्ष के समुद्र तट से लंका द्वीप जिसे आज लक्केदीव और मालदीव कहते हैं, वहां तक पुल बनाया और जहां जहां बीच में टापू मिले उनको सेतु से शृंखलाबद्ध जोड़ दिया । इस प्रकार यह सेतु भारतवर्ष से लंका देश तक बनाया गया । इक्वेटर लाइन तक रावण की राजधानी लंका थी, इसके अति प्रबल तीन प्रमाण दिये जाते हैं—पहला प्रमाण यह है कि भारत से इस समय, जिसको लंका कहते हैं, वह टापू निकट है और वाल्मीकीय में कही हुई दूरी इक्वेटर मालदीव लक्केदीव से मिलती है । दूसरे वहां के निवासी अद्यावधि मनुष्य का मांस खाते हैं और वैसा ही उनका काला रंग है और वे ही लक्षण मिलते हैं जो राक्षसों के वर्णन किये गये हैं। तीसरे जब समुद्र पर कोप कर भगवान् ने बाण चढ़ाया और जब समुद्र शरण आगया तो भगवान्

ने उसको क्षमा किया परन्तु उसकी प्रार्थना पर अपना आग्नेयास्त्र छोड़ दिया जो अफ्रीका का उत्तर किनारा याने दूसरी तरफ़ को गिरा और वहां पर अद्यावधि सहारा डेज़र्ट नामक प्रसिद्ध मरु निर्जल देश है जो उसी अस्त्र के प्रभाव से होगया था। आप उसी रघुकुल वंश में हैं जिसमें ऐसे ऐसे अद्भुत चरित्र करने वाले अवतार होचुके हैं इसलिये इस समय के अद्भुत सामान्य चरित्रों को देख कर विशेष आश्चर्य नहीं करना चाहिये।

४ चौथी यात्रा—मथुरा, वृन्दावन से द्वारका की होनी चाहिये। महाभारत भागवत इत्यादि ग्रन्थों को पढ़-कर भगवान् श्रीकृष्ण के परम अद्भुत चरित्र से धर्म और नीति सीखनी चाहियें कि समय समय पर किस प्रकार अबलाओं की सहायता की, दीनों का दुःख निवारण किया, यथार्थ रीति से नीति और धर्म का साधन किया और गीता द्वारा ऐसा सच्चा और अमृतमय उपदेश देगये जिससे मनुष्य अपने जीवन को सफल कर सकता है। यदि गीता में लिखे हुए सिद्धान्त के अनुसार चले तो इहलोक और परलोक सुधरने में कुछ भी शंका नहीं रहती है।

हे राजन्! इन चारों धामों के करने से और इन ग्रन्थों के पढ़ने से राजा, राजा बनता है और मनुष्य, मनुष्य बनता है। मुझे विश्वास है और आशा है कि आप योरप से लौटकर भारत के प्रसिद्ध स्थानों के देखने की चेष्टा करेंगे

और इस देश के प्राचीन और अर्वाचीन इतिहासों को पढ़ कर यह भली प्रकार समझ लेंगे कि प्राचीन समय के और आज के भारत में कितना अन्तर होगया है और इस बात को भी अच्छी तरह से अपनी बुद्धि में जँचा लेंगे कि ब्राह्मण और क्षत्रियों का अधःपतन क्यों हुआ। आपके पढ़ने योग्य और सुनने योग्य जो जो पुस्तकें मेरी समझ में हैं उनकी नामावली नीचे लिखता हूं। यदि आप इनको स्वयं न पढ़ सकें तो सुप्रसिद्ध और सुयोग्य विद्वानों से सुनने की चेष्टा अवश्य करें क्योंकि इनके पठन पाठन से राज्यशासन में बहुत सहायता मिलेगीः—

वेद,
पुराण,
उपपुराण,
स्मृति,
इतिहास,

जिनमें मुख्य रामायण, भागवत, महाभारत, श्रीमद्-भगवद्गीता, कौटिल्यशास्त्र, बाइबिल, कुरान, गुरु नानक के उपदेश और वाणी, स्वामी दयानन्द सरस्वती की पुस्तकें, श्री दादूदयालजी की वाणी, भारत में मुसलमानों के आने के समय के इतिहास, उदयपुर के महाराणा और मुसलमानों के युद्ध का वृत्तान्त, सिक्खों का इतिहास, इंग्लैन्ड का इतिहास, फ्रान्स का इतिहास, जर्मनी का इतिहास, इनके

अतिरिक्त और बहुतेरी पुस्तकें हैं जिनको समय समय पर पढ़ने और सुनने से ज्ञान प्राप्त होगा।

अब मैं इस मेरे विनयपत्र को बहुत लंबा न करके संक्षेप से कुछ मुख्य विषयों पर आपका चित्त आकर्षित करता हुआ अपनी सम्मति प्रकट करता हुआ समाप्त करना चाहता हूं, क्योंकि आप जैसे राजा के सामने समाज-सुधार के लिये वा राज्यशासन के लिये कईएक जटिल प्रश्न उपस्थित होंगे, इसलिये मुख्य मुख्य समस्याओं पर विचार प्रकट करना आवश्यक है।

राज्यशासन, सेना, कोष, पुलिस, धर्मादि कार्य, न्याय-विभाग, गोरक्षा, औषधालय (अस्पताल), शिक्षाविभाग (यूनिवर्सिटी कालेज) इत्यादि।

स्त्री-शिक्षा, पर्दा, मद्यपान, आखेट, विषयासक्त होने से क्या हानि।

ईश्वर की प्रार्थना, अग्निहोत्र आदि कर्म।

राज्यशासन—का करना और नियम के अनुसार यथावत् निभा देना महान् कठिन कर्म है और उसमें भी सब से कठिन यही धर्म है कि न्याय के सामने पिता, पुत्र, भाई, बहन इत्यादि स्नेहियों का और गुरु इत्यादि किसी का भी अनुचित पक्ष न ले, अपनी सामर्थ्य के अनुसार दुष्ट को अवश्य दण्ड दे और दीन की अवश्य रक्षा करे। यही भगवान् श्री रामचन्द्र ने आज्ञा की है। यही भगवान्

श्रीकृष्ण ने आज्ञा की है, यही आज्ञा मनु इत्यादिक ग्रन्थों में है और यही भीष्म ने अपने प्रसिद्ध राजधर्म में कहा है, यही अर्वाचीन राजनैतिक लोग भी कहते हैं परन्तु जैसा कहैं वैसा करना यह महान् पुरुष का धर्म है। अब कहना कुछ और करना कुछ बहुत देखने में आता है। हे राजन्! राजा स्वयं एक बहुत बड़े राज्य के भार को अकेला नहीं उठा सकता और इसी कारण से बुद्धिमानों ने यह नियम निकाला कि राजा के इस भार को यथार्थ रीति से चलाया जावे और कुछ भी त्रुटि न होने पावे और राज्यशासन के बिगड़ने का पाप राजा के ऊपर न पड़े इस हेतु से अनेक प्रकार के महकमे बनाकर उनके द्वारा राज्यशासन का काम कराया जाय जिससे सुगमता और फुर्ती से काम हो सके, दीन और अबलाओं की पुकार तत्काल राजा के कान तक पहुंचे और समय समय पर दुष्टों को दण्ड मिलता रहे। इसी प्रकार राज्यशासन को नियम से चलाने के लिये ये महकमे क़ायम किये गये हैं और इसी हेतु से इन कौंसिलों के आनरेबुल मेम्बर्स को उस कोष से, जो प्रजा के एक एक रुपया इकट्ठे करके भरा गया है, बड़े बड़े वेतन मिलते हैं और यह आशा की जाती है कि ये सब मेम्बर ईश्वर को साक्षी करके न्यायपूर्ण और दयाभाव से राज्यशासन के काम को चलाने में कुछ कमी न करेंगे।

कौंसिलें बन गईं, मेम्बर मुक़र्रर हो गये, वेतन हो

गईं; मासिक वेतन बँट गए और सब अपना अपना भाग लेकर चले गये परन्तु प्रातःकाल से सायंकाल तक कितने दीनों की आह सुनी गई और कितनों को सहायता पहुंची कितने मार्मिक विषय तय किये गये। इसकी परीक्षा उत्तम रीति से यदि न की गई तो निश्चयरूप से मान लिया जावे कि राज्यशासन में बहुत बड़ी त्रुटि है और इस त्रुटि को जड़ से काटने के लिये और राजा को सच्ची सहायता देने के लिये यदि संसार में कोई एक मित्र है तो वही प्राचीन, सच्चे, धर्मनिष्ठ महर्षियों के वाक्य वा उनके ग्रन्थ और अवतारों के चरित्र और उनके सदुपदेश हैं जिनके सहारे से राज्यशासन में होनेवाली हज़ारों त्रुटियां निवारण हो सकती हैं।

राजा का यह मुख्य धर्म है कि वह अपने शरीर की इन्द्रियों को राज्यशासन के काम में लगा दे याने आंख से देखे, कान से सुने, नाक से सूंघे; पैरों से चले, हाथों से लिखे, मुँह से बोले, जिह्वा से चखे, त्वचा से स्पर्श करे और फिर मन से विचार कर कार्य करे तो अवश्य सफलता हो।

सेना—सेना में ऐसे मनुष्यों को रक्खे और ऐसा अभ्यास करावे जिससे वे निडर हों। घबरावें नहीं, किसी कार्य में ज़ल्दी न करें, गम्भीर हों, तीक्ष्ण बुद्धि वाले हों। क्रूर और दुष्ट हृदय के न हों। सेना में यह प्रबल दोष हो

जाता है कि वह अपने आपको बहुत प्रबल और अभिमानित मानकर कई प्रकार के कठोर बर्ताव प्रजा के साथ करती है जिनका न्याय होना क़रीब क़रीब असंभव हो जाता है। यह दोष सेना से अवश्य हटाना चाहिये।

जब शिक्षा के निमित्त वा एक देश से दूसरे देश में जाने के निमित्त सेनायें प्रस्थान करती हैं उस समय जहां जहां टिकाव होता है वहां २ सेनाओं के कठोर वर्ताव होते रहते हैं इनको रोकना बहुत आवश्यक है। सब से प्रबल दोष सेना में बहुत बड़े अफसर से सिपाही तक मद्य पीने का है, यदि सेना से मद्य सर्वथा उड़ा दिया जाय तो बहुत से दोष इसी के साथ चले जायंगे।

सेनानी को, सेना के मुख्य अफ़सरों को और सैनिकों को लार्ड किचनर के बहुमूल्य शब्द हमेशा याद रखना चाहिए जो उन्होंने वृटिश सेना को इंगलिस्तान से योरप महाद्वीप (Continent) को भेजने के समय व्याख्यान देते हुए कहे थेः—

"तुम सम्राट् के एक सैनिक की हैसियत में दूर देश को फ्रांसीसी मित्रों की सहायता करने तथा एक प्रबल शत्रु के आक्रमण को रोकने जारहे हो। यह एक ऐसा कार्य है जिसमें तुमको अपनी वीरता, धैर्य और साहस का पूरा परिचय देना होगा। स्मरण रक्खो कि तुम्हारे हरएक व्यक्ति के आचरण पर वृटिश सेना की मर्यादा निर्भर है। तुम्हारा

यह धर्म होगा कि उत्तम क़वायद और गोली के बौछार में साहस तथा दृढ़ता का प्रमाण देते हुए साथ ही जिनकी तुम युद्ध में सहायता देने जारहे हो। उनसे पूरा मित्र-भाव रक्खो। अपने मित्रों का ही देश अधिकतर युद्धक्षेत्र बन रहा है। फ्रांस और बेलजियम में अपने को एक सच्चा बृटिश सैनिक साबित करने से बढ़कर तुम कोई देशसेवा नहीं कर सकते हो। सदैव विचारवान्, दयालु और सुशील रहना। कभी कोई ऐसा कार्य न करना जिससे जायदाद का नाश हो अथवा हानि पहुंचे। लूटने को घृणित, नीच कर्म समझना। तुम्हारा वहां स्वागत और विश्वास किया जायगा, जिसको तुम अपने व्यवहार से सुशोभित करना। जब तक तुम्हारा स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहेगा तुम कर्तव्य पालन नहीं कर सकते। अतएव तुम दुर्व्यसनों से अपनी रक्षा करना। इस नवीन अनुभव में तुमको मद्य और स्त्री बहुत लुभायेंगी परन्तु तुम अपने को संभालना और कदापि डिगने न देना। सब स्त्रियों का पूर्णरूप से आदर करना परन्तु उनसे और कोई सम्बन्ध न रखना।

अपना कर्तव्य पालन करो,
ईश्वर से डरो,
बादशाह की इज़्ज़त करो,

किचनर
फील्ड मारशल

कोप—कोप का काम बहुत बुद्धिमानी से होना चाहिये। राजा अपने कोप को निरन्तर बढ़ावे परन्तु न्याययुक्त होकर। अन्याय से कोष का संचय होने से सर्वस्व नष्ट हो जाता है। ऐसे प्रमाण इतिहासों में बहुत हैं कि अन्याय से संचित द्रव्य सदा हानि पहुंचाता है। राजा अपने कोप को अपना न समझे और यह समझे कि ईश्वर की दी हुई यह धरोहर है जिसकी एक एक रत्ती का हिसाब देना होगा। आमोद प्रमोद और विषयभोगों में उसका उपयोग करना सर्वथा अनुचित है। प्राचीन समय के बहुत योग्य महाराजाओं का अनुकरण करना तो बहुत कठिन है, परन्तु कुछ समय पहले देहली के बादशाह नासिरुद्दीन महमूद का स्मरण आने से यह याद आती है कि इस समय में भी ऐसे राजा हुए हैं जो प्रतिदिन अपने और अपनी स्त्री के लिये नियमित रूप से बादशाही ख़ज़ाने से थोड़ासा द्रव्य लेता था।

पुलिस—यह महकमा वह है जिसमें योग्य मनुष्यों के होने से बहुत बड़ा लाभ और धर्म का संचय होता है और कुयोग्य और दुष्ट मनुष्यों के होने से भयंकर पाप और बहुत बड़ी हानि होती है। राजा यदि इस महकमे को जैसा चाहिये वैसा बना ले तो उसके राज्य में कभी पाप नहीं हो सकता।

आजकल संसार में लन्दन शहर की पुलिस की बड़ी प्रशंसा है और हरएक पुरुष मुक्तकण्ठ से उसकी प्रशंसा करता

है। मुझे आशा है कि आप यहां की पुलिस को भी वैसी ही बनाने की चेष्टा करेंगे। राजा को चाहिए कि स्वयं इस महकमे की देखरेख करे और अपनी प्रजा को इसके द्वारा बाहर से आने वाली आपत्तियों से बचावे और पुलिस से पैदा होने वाली आपत्तियों को स्वयं रोके। पुलिस के बड़े अफ़सर से लेकर नीचे के सिपाही तक का प्रबन्ध बहुत उत्तम रीति से होना चाहिये और यह नियम कर दिया जाय कि रिशवत लेने वाला, शराब पीने वाला और दूषित चरित्र वाला मनुष्य पुलिस के महकमे में अफ़सर न बनाया जाय। सिपाहियों के लिये दो नियम रहें, रिशवत न ले और मद्य न पीवे। पुलिस के अफ़सरों और सिपाहियों को इसका अभिमान होता है कि हमारी ताक़त इसीलिये है कि जी चाहे सो कर सकते हैं। जिस महकमे में यह अभिमान हो वहां न्याय की आशा क्योंकर हो सकती है जी चाहे सो करने का अधिकार ईश्वर ने किसी को भी नहीं दिया है। पुलिस इसलिये बनाई गई है कि आपत्ति-पीड़ित मनुष्यों की सहायता करे परन्तु पुलिस को देख कर ग़रीब आदमी घबरा जाते हैं। पुलिस की प्रशंसा इसी में है कि पुलिस की और प्रजा की आपस की प्रीति रहे, इस महकमे की दुरुस्ती के लिये एक सरल उपाय हो सकता है और वह यह है कि कुछ चुने हुए मनुष्यों का एक महकमा क़ायम किया जाय और उनको इस काम पर नियुक्त किया जाय कि

वह खुफिया जांच पुलिस के कामों की करते रहें और समय समय पर अपनी रिपोर्ट भेजते रहें जो राजा के सामने पेश हो और उन रिपोर्टों पर पूरा विचार होने के पश्चात् सत्य असत्य का निर्णय किया जाय और जो जांच से निर्णय हो उसके उत्तरदायित्व का भार पुलिस पर रहे। अपराध साबित होने पर बहुत कड़ा दण्ड अपराधी को दिया जाय जिससे फिर औरों को वैसा करने का साहस न हो। इस प्रबन्ध से पुलिस का बहुत सुधार हो सकता है।

न्याय-विभाग—का काम बहुत परिश्रम और उत्तम रीति से होना चाहिये। इसके सुधार के लिये विशेष आवश्यकता नहीं है केवल यह नियम रहे कि लॉ-मेम्बर से लेकर छोटे से छोटे जज तक सब उत्तम कुल के मनुष्य हों। शुद्ध-चरित्र, विद्वान्, निर्लोभी, धार्मिक, अनुभवी यही रक्खे जायं और जो ऐसे न हों वह बिलकुल हटा दिये जायं।

न्याय-विभाग और पुलिस ये ही दो महकमे ऐसे हैं। जिनके उत्तम होने से प्रजा को पूरा सन्तोष हो सकता है और न्याय-विभाग की पूरी सहायता करने के लिये पुलिस का महकमा बनाया गया है। पुलिस की जांच पर ही न्याय-विभाग बहुतसा काम करती है इसलिये जितना उत्तम पुलिस का महकमा होगा उतना ही उत्तम न्याय हो सकेगा। प्राचीन समय में न्याय-विभाग का काम ब्राह्मण और तपस्वी महर्षियों के हाथ में था और यह केवल इस-

लिये था कि वह धर्म के आसन पर बैठकर राजा और रंक को, धनाढ्य और ग़रीब को एक दृष्टि से देखते थे और न्याय के काम में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं करते थे और न किसी का अनुचित पक्ष लेते थे, परन्तु ऐसा होना इस समय में असम्भव सा है, यथाशक्ति उपाय होना चाहिये । चरित्रहीन पुरुष को कदापि इस महक़मे में नहीं रखना चाहिए क्योंकि ऐसे पुरुषों से न्याय में बहुत हानि पहुंचती है ।

गोरक्षा—संसार में गाय की रक्षा होना अति आवश्यक है । यह सर्वसिद्ध बात है । कोई भी देश, कोई भी जाति इसको इन्कार नहीं करती और हिन्दुओं ने तो इसके मर्म को समझा और इसीलिये गो-माता करके कहने लगे क्योंकि यह पशु जितना उपकार संसार का करता है उतना मनुष्य भी नहीं कर सकता । सब से प्रथम दूध, उसके बाद दही, घृत और छाछ भोजन के अद्वितीय पदार्थ इससे प्राप्त होते हैं । फिर बैल हल चलाकर ज़मीन में अन्न उत्पन्न करते हैं, कूप से जल निकालते हैं, एक स्थान से दूसरे स्थान को भार गाड़ियों में भर कर लेजाते हैं । यह तो इस पशु की जीवित अवस्था की सेवा है और मरने के पश्चात् चमड़ा भी अनेक प्रकार की सेवा करता है और हाड्डियों से ऐसी खाद होती है कि जिससे अन्न की वृद्धि होती है । ऐसे पशु को हम माता न कह कर और किसी नाम से विभूषित

करें तो वहुत उत्तम है परन्तु इससे बढ़कर कोई नाम नहीं मिला इससे गो-माता कहने लगे। माता और पिता दोनों जो सेवा नहीं कर सकते वह एक पशु करता है। फिर भी मनुष्य इतना स्वार्थी है कि इस पशु की रक्षा का पूरा भार अपने ऊपर नहीं लेता और वर्तमान संसार में सबसे बड़े भारी दोषी हिन्दू हैं जो इसको भली प्रकार जान कर और अपने मुँह से नाममात्र के लिये यह कहकर 'गावस्त्रैलोक्यमातरः' कि गायें तीनों लोकों की मातायें हैं, झूठा अभिमान हिन्दूपने का करते हैं।

हे राजन्! मैं चाहता हूं और मेरी परम इच्छा है कि आप गो के परम दास बन कर रहें और इसकी रक्षा में समय समय पर अपना तन, मन और धन तीनों अर्पण करें। आज दिन हिन्दुओं के आश्रित गौओं की जो दुर्दशा है ऐसी दुर्दशा और देशों में कुत्तों की भी नहीं है।

आप गोरक्षा की शिक्षा योरप देश से लें जो किस सुन्दरता से गो की रक्षा कर रहा है और भारत में रहने वाले यूरोपियन्स के आधिपत्य में जहां जहां गौएं रहती हैं उन स्थानों का निरीक्षण करें और मिलान करें कि उनकी देख-रेख में और हिन्दुओं की देखरेख में कितना अन्तर है। परन्तु मैं इसी स्थान पर बहुत ज़ोर से यह लिखदेता हूं कि योरोपीय देशों की हननक्रिया से कुछ भी नक़ल न करें क्योंकि यह उनकी क्रिया प्रशंसनीय नहीं है और एक त्रुटि

है जिसको वह अब समझने लग गये हैं और ईश्वर से प्रार्थना है और आशा है कि अब समय निकट आयेगा कि जब संसारमात्र के सब देश गोवध को संसार से मिटा देंगे वह अद्वितीय समय होगा और जो महान् पुरुष इस काम के करने में पुरुषार्थ करेंगे और भाग लेंगे उनका नाम संसार के इतिहास में चिरकाल तक गाया जायगा। हे राजन्! मुझे आशा है कि आप कटिबद्ध होकर इस काम में पूरा भाग लेंगे और अनन्त समय तक अपने यशरूपी शरीर को असार संसार में स्थापित करेंगे। आप के पुरुषाओं ने ऐसा किया है और आप के शरीर में एक एक अणु में गोका पूरा उपकार भरा पड़ा है। जब दिलीप के सामने गो को अकस्मात् सिंह ने दबाया तो अपने शरीर को तुच्छ समझ कर गो की रक्षा के लिये अर्पण कर दिया और इन शब्दों से कि "यशः शरीरे भव मे दयालुः" मेरे यशरूपी शरीर पर आप कृपा करें। सिंह से प्रार्थना की। क्या जो आप के पुरुषाओं ने किया उसकी आशा हम आप से नहीं कर सकते, क्यों नहीं अवश्य कर सकते हैं।

इस लेख में गोरक्षा के विषय में जो कुछ लिखा गया वह ऐसा ही है जैसा कि समुद्र में एक बिन्दु, परन्तु तात्पर्य यही है कि गोरक्षा का पूरा यत्न होना चाहिये जिसमें सब से प्रथम यही है कि आवश्यकतानुसार हरएक ग्राम के पास गोचर भूमि रहे और जल आदि का पूरा प्रबन्ध रहे।

हरएक बड़े शहर के पास दो दो तीन तीन आवश्यकतानुसार गोशालाएं बनाई जायँ और उनका पूरा प्रबन्ध बहुत योग्य मनुष्यों के हाथ में रहें और समय समय पर राजा स्वयं निरीक्षण करे।

औषधालय—(अस्पताल इत्यादि) यह विभाग भी मनुष्य की आयु को सुखी रखने का और बढ़ाने का कार्य करता है। छोटे छोटे बच्चों के शरीरों की हिफाज़त, स्त्रियों के भयंकर रोगों की चिकित्सा और अनेक प्रकार से मनुष्य-समाज की सेवा इस विभाग के कर्मचारियों के अधीन रहती है। इस विभाग का सर्वोपरि मंत्री अवश्य ऐसा होना चाहिये जो अपने हाथ से बीमारों का इलाज कर सके और जो इस विद्या में पूर्ण शिक्षा पाया हुआ हो, औषध और चीरफाड़ के काम में अति निपुण हो। रियासत की प्रति निजामत में एक बहुत बड़ा अस्पताल और डाक्टर तथा वैद्य रहें और रियासत के जिस ग्राम में ३००० के लगभग मनुष्यगणना हो उसमें एक अस्पताल अवश्य होना चाहिये और यथावश्यक डाक्टर और वैद्य अवश्य रहें। ग़रीबों को मुफ़्त और धनिकों को क़ीमतन औषध मिलने का अति उत्तम प्रबन्ध रहे, डाक्टर और वैद्य शीतलस्वभाव और निर्लोभी हों क्योंकि लोभ मन को डिगा कर मनुष्य से अनेक प्रकार के दुष्कर्म करा देता है।

राजधानी में कई अस्पताल होने चाहियें जिनमें एक एक

कार्य को जानने वाला एक एक दक्ष डाक्टर अवश्य रहे जो अपने काम का पूर्ण निपुण हो, जिसको अंग्रेज़ी में Specialist (स्पेशलिस्ट) कहते हैं और शहर में प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकाल एक घूमनेवाला औषधालय प्रति गली में घूमा करे और जिस जिस को जिस जिस ओषधि की आवश्यकता हो वहीं पहुंचावे। इसके साथ एक डाक्टर भी रहे, यह औषधालय अति शीघ्रता से मोटर द्वारा वा घोड़े की गाड़ी द्वारा न घुमाये जायँ परन्तु बैल की गाड़ियों में रहें, जिससे औषध लेने वाले आतुर न हों। शहर में जितने औषधालयों की आवश्यकता हो उतने अवश्य घूमा करें और अपना कार्य करके नियत समय पर नियत स्थान पर आकर विश्राम करें और घूमते समय बिगुल या घंटी द्वारा अपने आगमन की सूचना दें।

शिक्षा-विभाग—शिक्षा-विभाग जैसे जटिल और महान् विषय पर मेरी क्या सामर्थ्य है जो कुछ लिख सकूं, केवल इतना ही लिखना बहुत होगा कि—"विद्याविहीनः पशुः"। हे राजन्! शिक्षा वह चीज़ है जिससे प्राचीन समय में आर्यों ने इस संसार में असाधारण अद्वितीय कर्म करके भारतवर्ष के शिर को ऊंचा कर दिया और शिक्षा वह चीज़ है जिसके प्रताप और बल से आज योरप, अमेरिका और जापान आदि देश अपना अपना शिर ऊंचा करके संसार को अद्भुत कर्मों से चकित कर रहे हैं। शिक्षा विभाग का

मंत्री पूर्ण विद्वान्, धार्मिक, बहुत ऊंचे दरजे का आचरण रखने वाला एक महान् पुरुष होना चाहिये, जिसके शुद्ध आचरण से, पूर्ण विद्या से और प्रेम से शिक्षा-विभाग हमेशा सुगन्धित रहे और प्रतिदिन शिक्षा का विस्तार करने में तत्पर रहे। शिक्षा देना बड़ा कठिन है क्योंकि जो स्वयं शिक्षा पाया हुआ न हो वह देवे क्या ? इस समय में जैसा सामान मिल सके प्राप्त करके शिक्षा-विभाग का प्रवन्ध किया जाय।

जयपुर राज्य के लिये एक यूनिवर्सिटी पर्याप्त हो सकती है जिसमें पुरुष, स्त्री और बालक तीनों की शिक्षा का पूर्ण प्रवन्ध हो और उसके दो भाग किये जायँ, एक भाग में वेदादि सब सद्विद्याओं की शिक्षा संस्कृत में पूर्ण रूप से दी जाय, प्राचीन धर्म के ग्रन्थों का उद्धार किया जाय, प्राचीन इतिहासों को पूर्णतया पढ़ाया जाय और आर्यों को यह सिखाया जाय कि किसी समय में तुम क्या थे और तुम्हारा अधःपतन क्यों हुआ और अब किस प्रकार उत्थान कर सकोगे। दूसरा भाग आधुनिक शिक्षायें सब प्रकार की भाषाओं में दें और हरएक शहर वा ग्राम में आवश्यकतानुसार शिक्षा-विभाग कॉलेज और पाठशालायें बनावें। एन्ट्रेन्स तक पढ़ लेना कंपल्सरी किया जाय और फीस इत्यादि कुछ भी न लेकर शिक्षा बगैर किसी कर के दी जावे, स्थान स्थान पर बोर्डिङ्ग हाउस बनाये जायँ जिनमें निर्धन

विद्यार्थियों को भोजन वस्त्र की सहायता दी जाय और शिक्षा की सामग्री पुस्तक आदि भी मिला करे। शिक्षा-विभाग के इस लेख को इस श्लोक के साथ समाप्त करता हूं:—

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम्॥

विद्या नम्रता देती है, नम्रता से योग्य बनता है, योग्य होने से धन पाता है, धन से धर्म करता है और धर्म से सुख पाता है।

इस विभाग के लिये धन की बड़ी आवश्यकता है। परन्तु हमको आशा है कि श्रीमान् की प्रेरणा से सरदारों का संचित द्रव्य, सेठ साहूकारों का द्रव्य और मन्दिरों के महन्तों का द्रव्य यदि इस काम में लगाया जाय तो बहुत सहायता हो सकती है क्योंकि भीष्म-पितामह श्रीकृष्ण की प्रेरणा से महाभारत के शान्तिपर्व में कहते हैं कि:—

अब्राह्मणानां वित्तस्य स्वामी राजेति वैदिकम्।
ब्राह्मणानां च ये केचिद्विकर्मस्था भवन्त्युत॥१॥

वेद कहता है कि ब्राह्मणों को छोड़कर और सब के धन का स्वामी राजा है और ब्राह्मणों में भी जो पाप में निरत हैं उनके भी धन का स्वामी राजा है।

न चाददीत वित्तानि सतां हस्तात्कदाचन।
असद्भ्यश्च समादद्यात्सद्भ्यस्तु प्रतिपादयेत् ॥२॥

राजा सज्जनों के हाथ से धनों को कभी न ले, दुष्टों से ले और सज्जनों को दे।

राजा अपनी प्रजा के संचित द्रव्य को शुभ कर्म में ज़बरदस्ती लगा सकता है याने उसको पूर्ण अधिकार है कि शुभ कर्म में ऐसे धन को लगा दे।

स्त्री-शिक्षा—आजकल स्त्री-शिक्षा के विषय में संसार में बहुत चर्चा है और स्त्रियां स्वतन्त्र होना चाहती हैं, किन्तु वे स्वतन्त्र अवश्य हैं यह उनका केवल विचार है कि हम परतन्त्र हैं क्योंकि स्वतन्त्र होकर वह क्या करना चाहती हैं यह समझ में नहीं आता। यह संसार स्त्री पुरुष दोनों के जोड़े से बना है और एक दूसरे की सहायता विना जीवित नहीं रह सकते। स्त्रियों को चाहिये कि पुरुषों से सहानुभूति रक्खें और पुरुषों को चाहिये कि स्त्रियों की पूर्ण रक्षा करें और उनको वह शिक्षा दें जिससे वे धार्मिक बन सकें। उद्दंड बनना और नियम तोड़ कर चलना तो आसान है परन्तु शास्त्र के कहे हुए नियम के अनुसार चलना बहुत कठिन है।

स्त्री-शिक्षा में सब से पहला धर्म पातिव्रत्य धर्म है, मद्य न पीना, अश्लील भाषा के गीत न गाना इत्यादिक अशुभ कर्मों का त्याग करना, इस को ही स्त्री-शिक्षा कहते

हैं, परन्तु यह कठिन है इसलिये आजकल का स्त्री-समाज इन नियमों को छोड़ कर केवल स्वतन्त्रता ही का गान गाता है।

पहले भी संसार में स्त्रियां हो चुकी हैं और ऐसी हुई हैं कि जिनके समान होना कठिन है, परन्तु उनका यह स्वभाव नहीं था कि हज़ारों के सामने व्याख्यान कुछ दें और घर में आकर कुछ और ही करें। इसमें केवल स्त्रियों का ही दोष नहीं है पुरुषों का भी बहुत बड़ा भाग है, क्योंकि वाचालपना तो पुरुषों ने ही उनको सिखाया है। सभी पुरुष यह इच्छा करते हैं कि स्त्रियां पातिव्रत्य नियम को धारण करें, सुचरित्रा और सुशीला बनें परन्तु ऐसा चाहने वाला पुरुष-समाज पहले अपने आपको सुचरित्र, सुशील, धार्मिक और पत्नीव्रत धारण करने वाला बनावे, मद्य पीकर निर्लज्ज हो कर बुरे कर्म करना छोड़े और शास्त्र में कहे हुए अनेक प्रकार के दुर्व्यसनों का त्याग करे तभी हमको यह आशा हो सकती है कि एक समाज दूसरे की सहायता करेगा।

पर्दा—आजकल पर्दा तोड़ने की चर्चा बहुत है सबसे पहले तो यह सोचना चाहिये कि पर्दे का अर्थ क्या है। इसका अर्थ यह है कि किसी चीज़ को किसी चीज़ से बचाना जैसे पुरुष वा स्त्री दिन भर पर्दे में रहते हैं, क्योंकि वह अपने शरीरों को पर्दे से ढाँक रहते हैं। यदि यह पर्दा

तोड़ दिया जाय तो क्या हानि है क्योंकि पशु भी तो रहते हैं परन्तु पशुओं से ऊपर मनुष्य को जो बुद्धि दी गई है वह यह शिक्षा दे रही है कि ऐसा करने से हानि हैं लाभ नहीं, इसमें केवल निर्लज्जता होगी क्योंकि इससे कुछ लाभ हो तो नग्न रहने वाले उन जंगली मनुष्यों को होना चाहिये जो अन्य कई देशों में रहते हैं।

यहां पर यही कथन करना है कि क्षत्रिय-समाज में जो पर्दे का प्रचार है वह एकाएक हटा दिया जाय तो भविष्य में हानि हो या लाभ? प्राचीन समय में इतिहासों के देखने से यह स्पष्ट ज्ञान बँधता है कि उस समय में क्षत्रियों में पर्दे का इतना बन्धन नहीं था पीछे समय पाकर विशेष रूप से हो गया। अब पर्दा हटा दीजिये परन्तु फल क्या होगा। यही होगा कि क्षत्रियों के पुरुष-समाज के गुणों को स्त्रियां विशेषरूप से देखने लगेंगी। अब इस पर्दे से कुछ तो पर्दा है।

क्या क्षत्रिय जाति का पुरुष-समाज इस बात का गौरव रखता है कि अपनी स्त्रियों को पर्दा हटाकर अपने नित्य के किये हुए वह कर्म दिखा सकेगा जिसको देखकर वे प्रसन्न होंगी और शिक्षा ग्रहण कर सकेंगी? प्राचीन इतिहासों को पढ़ कर झूठा अभिमान न कीजिये पहले अपने समाज को इस योग्य बनाइये कि स्त्रियां पर्दा हटते ही यह देखें कि हमारे पिता, पति, भाई और पुत्र कैसे अद्वितीय हैं।

ऐसा न हो कि उनके मनमें पश्चात्ताप रहे और वह यह सोचने लगें कि इससे अच्छा तो जो हम पर्दे में रहतीं तभी था।

क्षत्रिय-जाति पर जो पटल पड़ रहा है उसके हटाने की चेष्टा पहिले होनी चाहिये न कि स्त्रियों का पर्दा पहिले हटाने की। ब्रह्मा ने सृष्टि रची उस समय पर्दा रखना या न रखना इस पर बहुत विचार किया और इस निश्चय को पहुंचे कि पर्दा रखना चाहिये। शरीर को ढकने के लिये चमड़े का पर्दा लगा दिया, नेत्रों पर पलक का पर्दा लगाया, कान के भीतर भी एक पर्दा मौजूद है जिसके फटने से बहुत हानि होती है। मुँह के लिये ऊपर और नीचे के होठों का पर्दा है अगर दोनों होठ कटवा दिये जायँ तो सुन्दरता कैसी बनती है सो कौन देखे? इसी प्रकार ब्रह्मा ने सोच कर स्थान स्थान पर पर्दे बना दिये और फिर भी दिन को पर्दा हटाकर सायंकाल को आधी सृष्टि पर रात्रिरूपी पर्दा डाल दिया, जिससे यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि पुरुषों के लिये पर्दा नहीं है स्त्रियों के लिये है, परन्तु पर्दा उतना ही रहना चाहिये जैसी कि ब्रह्मा की आज्ञा। जैसे कि रात्रि को चन्द्रमा का प्रकाश और तारों की जगमगाहट रहती है। उतना ही विद्यारूपी प्रकाश पर्दे में अवश्य रहना चाहिए। (Solitary Confinement) एकान्तवास का दंडरूपी पर्दा निःसंदेह अनुचित है। हे सज्जनो! काम और क्रोधरूपी पर्दे को क्यों नहीं हटाते जिससे मनुष्य-जीवन सफल हो।

मद्यपान—मद्यपान के विषय में इतना ही लिखना है कि इससे कुछ भी लाभ संसार को नहीं होता सिवाय हानि के। धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में इसको बहुत बुरा कहा है, परन्तु यदि उनके प्रमाणों को न माना जाय तो मद्य पीकर देख लीजिये और दूसरे जो पीते हैं उनको भी देख लीजिये फिर जो चीज़ बहुत शीघ्रता से प्राणान्त कर दे उसको अगर थोड़ा थोड़ा भी पीवे तो क्या फल हो सकता है। इसके पीने से निर्लज्जता इतनी बढ़ती है जिसका कुछ प्रमाण नहीं।

आखेट—क्षात्र-धर्म में आखेट लिखा है उसके अनुकूल करना लाभदायक हो सकता है इसके अतिरिक्त हानिकारक है। अपने मन को प्रसन्न करने के लिये जो आखेट किया जाता है वह हानिकारक है, परन्तु शरीर को दृढ़ बनाने के लिये जो आखेट किया जाता है वह लाभदायक है। इसका उत्तम नमूना इस समय में राजाओं में उदयपुर के स्वर्गवासी महाराणा श्री फ़तहसिंहजी का है जो बहुत कम हिंसा करके बन्दूक लगाने में अद्वितीय थे। बहुत पशुवध करने से वीरता और बहादुरी नहीं होती। यदि ऐसा हो तो वधिक सब से बहादुर होना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं है। आखेट केवल इसीलिये रक्खा गया है जिससे घोड़े की सवारी, शस्त्र अस्त्र के प्रयोग का अभ्यास बढ़े और शरीर दृढ़ बना रहे। सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास सहन करने का

स्वभाव बना रहे। इसके तथा प्रजा रक्षा के निमित्त जो आखेट है वह उपयोगी है अन्यथा सब हानिकारक है। इसीलिये इसको शास्त्र में बुरा कहा है, क्योंकि इसमें आसक्ति होने से यह व्यसनरूप हो जाता है और फिर राज्यशासन आदि आवश्यक कार्यों में लगाने के लिये समय नहीं बचता।

व्याघ्र इत्यादिक के आखेटों में एक प्रथा बहुत बुरी यह भी है कि किसी पशु को मज़बूती से जकड़ कर बांध देते हैं और फिर शिकार करने वाले उसको निरन्तर देखते हैं कि कब व्याघ्र आवे और उसे खाय।

इससे हृदय की दया बहुत कम हो जाती है। मुझे आशा है कि श्रीमान् इस नियम को बन्द करने की कृपा करेंगे, क्योंकि ग़रीब पशुओं को यों बांध करके दूसरों से फड़वाना क्षात्र-धर्म से बहुत दूर है श्रीमान् के सामने प्रति-दिन ऐसे प्रार्थनापत्र पेश होंगे जिनमें यह विनती की जायगी कि मैं ग़रीब हूं, असहाय हूं, मुझको उन दुष्टों से बचाइये जो मेरा सर्वस्व हरण करना चाहते हैं और आखेट में आपके सामने एक असहाय पशु रस्से से दृढ़ता से बांध दिया जायगा और दूसरा प्रबल उसको खायगा और आप देखेंगे। यह सब आपकी इच्छा से होगा। देखिये कैसा आश्चर्य है। उधर आपका यह नियम है कि प्रबल ग़रीब को दबाये तो उस दीन की रक्षा करना और दुष्ट को दण्ड

देना। इधर ग़रीब आपके सामने बांध दिया गया और प्रबल उसको खा रहा है। इसी हेतु से यह प्रार्थना की गई है कि आप दीन की रक्षा का नियम रक्खें।

विषयासक्ति—संसार के सब विषय काम, क्रोध और लोभ के अन्तर्गत हैं इसमें सबसे श्रेष्ठ प्रमाण भगवद्गीता का है—

"त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथालोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्"॥

काम, क्रोध और लोभ ये अपने नाश करने वाले तीन नरक के द्वार हैं इससे इन तीनों को छोड़े।

इस प्रमाण से विशेष मैं क्या लिखूंगा, क्योंकि निरंतर यह देखने में आता है कि जब जब मनुष्य इन तीनों में आसक्त होता है तब तब उसको सिवाय हानि के कुछ लाभ नहीं होता।

हे राजन्! विनीत भाव से मेरी यही प्रार्थना है कि आप इस असार संसार में अपने जीवन को सफल बनाने का पूरा प्रयत्न करें। आपका सबसे बड़ा मित्र आपका धर्म है और तीन महा भयङ्कर शत्रु निरन्तर आपके सामने आयेंगे काम, क्रोध और लोभ, इन तीनों को आप विजय कर सकते हैं, आप धर्मरूपी रथ पर चढ़ कर उत्साहरूपी धनुष से सत्यरूपी वाणों की वर्षा करें यही स्थायी वाहन आदि हैं।

परमपूज्य भगवान् श्री रामचन्द्रजी ने विभीषण को उपदेश करते हुए इस संसार में विजय प्राप्त करने का साधन बतलाया है जो इस छोटीसी पुस्तिका में आप पढ़ेंगे। कृपा करके मोटर और हवाईजहाज़ इत्यादि अनित्य सवारियों पर निर्भर न रहकर उस रथ पर चढ़िये जिससे आपकी सदा विजय हो। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अनेक उपदेश करते हुए यही कहा है कि कार्य के साधन में उत्साह काम देता है और आज्ञा की है कि—

"क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप"

हे शत्रुओं को तपाने वाले ! हृदय की तुच्छ दुर्बलता को छोड़ कर उठो।

फिर अगाड़ी चल कर यह आज्ञा करते हैं कि—

"जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्"

हे महाबाहो ! दुःख से प्राप्ति हो जिसकी ऐसे कामरूपी शत्रु को मारो, इत्यादि उपदेशों से भरे हुए इस गीतारूपी अमृत को आप प्रतिदिन पान कीजिये।

दिनचर्या—एक बहुत बड़े राजा की दिनचर्या लिखने का सामर्थ्य मेरे में नहीं है, परन्तु यदि इतना लम्बा लेख लिखने का साहस किया तो इसमें भी कुछ लिखूं। प्रातःकाल चार बजे उठना शौच इत्यादि कर्मों से निवृत्त होकर हलकी कसरत और तेल की मालिश प्रतिदिन होनी चाहिये फिर ईश्वराराधन और अग्निहोत्र तत्पश्चात् घोड़े की

सवारी उसके बाद प्रतिदिन की डाक और समाचारपत्र। उसके पश्चात् भोजन, उसके पश्चात् कुछ विश्राम, उसके पश्चात् रियासत का काम। एक एक दिन एक एक मंत्री अपना काम लावे और सप्ताह में एक दिन ऐसा हो जिसमें सब मंत्रीगण श्रीमान् के सामने बैठकर राज-कार्यों पर वादानुवाद करें। प्रार्थनापत्र लाने वाले प्रतिदिन राजा के सामने लाये जायँ और उनके प्रार्थनापत्र उनके सामने पढ़ कर राजा को सुना दिये जायं जिससे उनको यह सन्तोष हो कि हमारी प्रार्थना राजा तक पहुंच गई; क्योंकि वाल्मीकीय रामायण में भगवान् श्री रामचन्द्रजी लक्ष्मण से आज्ञा करते हैं कि:—

पौरकार्याणि यो राजा न करोति दिने दिने।
संवृते नरके घोरे पतितो नात्र संशयः ॥ १ ॥

जो राजा नगर के लोगों के कार्यों को प्रतिदिन नहीं करता है वह निःसन्देह घोर अँधेरे नरक में पड़ा है।

इसके पश्चात् सायंकाल की हवाखोरी वा खेल कूद होने चाहियें, तत्पश्चात् सायंकाल का भोजन और उसके थोड़ी देर बाद शयन। शयन का समय १० बजे का अच्छा रहता है १० बजे से ४ बजे तक ६ घंटे की निद्रा पर्याप्त है। राजा की दिनचर्या का विशेष वृत्तान्त अर्थ-शास्त्रों में कहा गया है।

विलायत शिक्षा पाकर जयपुर पधारने के उपलक्ष्य में

एक ऐसा कार्य होना चाहिये जो चिरकाल तक रहे और प्रजा व देश का सच्चा हित कर सकें। मैं कुछ प्रस्ताव निवेदन करता हूं इनमें से जिसको आप अत्युत्तम समझें और विशेष रुचि हो वही होना चाहिये।

नं० १—प्रथम रियासत भर में एक किनारे से दूसरे किनारे तक कोई भी मद्य की भट्टी न रख सके। सर्वथा बन्द कर दी जायँ और बाहर से आने वाले मद्य पर टैक्स इतना बढ़ा दिया जाय कि उसका आना कठिन हो जाय। जयपुर शहर में एक ही दुकान मद्य की रहे, उसका निरीक्षण अच्छी तरह से किया जाय। मोल लेने वाला रजिस्टर में दस्तख़त करे और उसको केवल औषध के लिए दिया जाय। नियम से विशेष उसको भी न मिले और नवयुवकों को कदापि न दिया जाय। रेल, मोटर इत्यादि में छिपाकर लाने वालों को बहुत कठोर दंड मिले।

आजकल रियासत के नये सुधार से कई लाखों की आमद रियासत को मद्य बेचने से होती है। शायद मंत्रीगण इस आमद को बहुत बड़ी दिखलाकर आपको सर्वथा मद्य बन्द करने की राय देने में हिचकेंगे, परन्तु अपनी प्रजा को एक निन्दनीय और महा हानिकारक द्रव्य पिलाकर रुपया खींचना एक अच्छे राज्यशासन का काम नहीं है। राजा का काम अपनी प्रजा को बुराइयों से बचाने का है न कि उनको हानिकारक मादक वस्तुओं को खिलाकर

द्रव्य खींचने का । यदि मद्य बेच कर प्रजा से द्रव्य लिया जाता है तो यह कार्य ठीक वैसा ही है जैसा कि एक गृहस्थ अपने भ्राता, पुत्र, पौत्र, भगिनी, श्वशुर, दामाद, स्त्री, पुत्रवधू, मित्र इत्यादि सब को मद्य पिला पिला कर रुपया वसूल करे और फिर उनको भयङ्कर रोगों से ग्रस्त देख कर और अन्त में प्राण त्यागते हुए भी देख कर कुछ भी सहानुभूति या शोक न प्रकट करे । इसलिये कृपा करके आप अपने राज्य में मद्य का बहुत कड़ा इन्तज़ाम करें जैसा कि अमेरिका-देशवासियों ने अपने देशभर में करके दिखला दिया, मुझको दुःख है कि मद्य के इस नये सुधार ने रियासत को कलाल बना दिया ।

नं० २—यदि मद्यपान का ऊपर लिखा प्रबन्ध किया जाना असम्भव हो तो उससे आने वाला टैक्स ऊपर का ऊपर किसी शुभकर्म में लगा दिया जाय, क्योंकि वह द्रव्य ख़ज़ाने में जाने से शेष को भी दूषित कर देगा । जैसे कि एक बिन्दु कांजी बहुतसे दूध को फाड़ देती है इसी तरह से दूषित धन राजा के ख़ज़ाने में नहीं आना चाहिये । यदि यह लाखों रुपया सालाना गोरक्षा में देशभर में गोशाला बनवा कर लगा दिया जायगा तो बड़ा लाभ होगा ।

नं० ३—आपकी रियासत में ब्राह्मण और क्षत्रियों के बालक बहुत ऐसे देखने में आते हैं जो असहाय होने के कारण विद्या प्राप्त नहीं कर सकते और यदि कालेज वा

पाठशाला में पढ़ना प्रारम्भ करें तो वस्त्र और भोजन न मिलने से असहाय होकर पढ़ना छोड़ कर भीख मांगना तदनुसार अल्प वेतन में नौकरी करना सीखते हैं। उनको यावज्जीवन बड़े कष्ट से रहना पड़ता है इसलिये यदि एक बहुत बड़ा बोर्डिङ्गहाउस बनाया जाय जिसमें अन्न, वस्त्र और पुस्तक तीनों प्रकार की सहायता दी जाय तो यह भी बड़ा उत्तम दान है और इन्हीं लाखों रुपयों में से आधा गोशाला और आधा इसमें लगाया जाय तो प्रजा का बड़ा भारी हित हो सकता है। इनके अतिरिक्त अनाथालय भी बनाया जाय जिसमें बूढ़े, लँगड़े, लूले, अंधे, असहाय मनुष्य बटोर बटोर कर वहां लाकर रक्खे जायँ और उनकी सेवा वा चिकित्सा की जाय।

ये सभी कार्य ऐसे हैं जो परम उपयोगी हैं और मद्य से उपार्जित धन में आये हुए विष को निवारण कर सकेंगे। यही बात कालिदास ने राजा दिलीप का वर्णन करते हुए कहा है:—

प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः॥

प्रजाओं को विद्या पढ़ा कर नम्र करने से रक्षण और भरण पोषण करने से वह (राजा दिलीप) उनके (प्रजाओं के) पिता थे और उनके पिता तो केवल जन्म देने के ही कारण थे।

मूर्तिपूजा—मूर्तिपूजा का जटिल प्रश्न भी आपके सामने उपस्थित होगा। उसका इतना ही समाधान है कि संसार में ऐसा कोई देश, मनुष्य वा जाति नहीं है, जो मूर्तिपूजा न करती हो। क्रिश्चियन्स के मन में क्राइस्ट के पवित्र कार्यों की मूर्ति सदा बनी रहती है और मुसलमानों के हृदय में उनके पैग़म्बरों के चरित्र की मूर्ति वैसे ही बनी रहती है। इसी प्रकार हिन्दुओं के हृदय में भी श्रीराम, कृष्ण, शंकर, हनुमान, गणेश और देवी की मूर्ति रहे तो कोई आश्चर्य नहीं। आपने योरप में देखा होगा कि स्थान स्थान में वहां के प्राचीन और वीर पुरुषों की मूर्तियां स्थापित हैं और उनको देख कर वहां की प्रजा उनको बड़े आदर, प्यार और सम्मान से स्मरण करती है।

उन मूर्तियों के देखने से तत्त्वण बिजली की तेजी के साथ उनके प्राचीन इतिहास और वीरतायें नवयुवकों के हृदय में और उनके खून के प्रवाह के साथ सारे शरीर में दौड़ जाती हैं और इसी मूर्तिपूजा की यह शिक्षा योरोपीय जातियों को स्वतन्त्र, वीर, देशभक्त, जातिभक्त, उत्साही बनाने का अपूर्व काम कर रही हैं जो और किसी शिक्षा से इतना उत्तम और दृढ़ नहीं हो सकता। सब संसार इस बात को मानता है और आजकल योरप आदि देशों के विद्वान् इस बात को अच्छी तरह से मानते हैं कि जैसे गुरु के पास बैठकर विद्या पढ़ोगे वैसे ही बनोगे। एक बालक के

सामने जिस प्रकार के चित्र और मूर्तियां रक्खी जायँगी वह उनको देख कर उनके चरित्रों का स्मरण कर वैसा ही बनेगा।

इसीलिये भारतवर्ष के प्राचीन महापुरुषों ने मूर्तिपूजा की शिक्षा दी और इतनी बुद्धिमानी से दी और ऐसे उत्तम नियम बनाये कि उनसे अगाड़ी आज तक किसी ने नहीं बनाया। टुक ध्यान से देखिये कि यदि स्थान २ पर शहरों में अवतारों की मूर्तियां स्थापित हों तो उनके इतिहासों का कैसा प्रभाव पड़ेगा, परन्तु भारतवर्ष में इससे सब कुछ विपरीत हो रहा है। इस भारतवर्ष में ऐसे ऐसे अवतार और वीर पुरुष होगये हैं जिनके इतिहास पढ़ने से मनुष्य पवित्र हो सकता है और जिनकी समता दूसरे देशों में नहीं पाई जाती।

परन्तु हा ! इस देश के वासी मनुष्य हैं वा और कुछ जिन पर इन महान् पुरुषों के इतिहासों का वा इनकी मूर्ति के दर्शन का कुछ प्रभाव नहीं पड़ता केवल रुपया इकट्ठा करके अपने जीवन को विषयासक्त होकर व्यतीत करते हैं। जो जाति संसार की सब जातियों से ऊंची थी वही आज सब से नीचे गिरी हुई है और अभी तक अधःपतन का सामान प्रतिदिन इकट्ठा करती है। किसी भी धर्म के कार्य में, किसी भी देश के हित में, किसी भी जाति के उद्धार में, परोपकार में वा दीनों की सहायता में वा न्याय वा सत्य के कहने में हम इनको दृढ़ता से कार्य करने में बहुत पीछे

देखते हैं। इनके पवित्र मन्दिरों की क्या दशा है, इनके घरों की क्या दशा है, इनकी दिनचर्या कैसी है, इनके कर्म कैसे हैं, इनके हृदय कैसे हैं, यदि इन बातों को सही सही लिखा जाय तो ऐसा कलंकित इतिहास संसार में और किसी जाति का नहीं मिलेगा। कहां तक लिखूं केवल एक भागवत का प्रमाण ही पर्याप्त है कि जब श्रीकृष्ण ने यह देखा कि हमारा यादवकुल संसार में रहने योग्य नहीं है और उनको यह भय हुआ कि न मालूम यह कितना उत्पात करेंगे तो अपने ही सामने सब के नष्ट करने की चिन्ता करली और अन्त में वैसा ही कर दिया।

यहां यह शंका होती है कि क्या श्रीकृष्ण उनके नष्ट करने की अपेक्षा उनका सुधार नहीं कर सकते थे, क्योंकि वह तो गीता में स्वयं कहते हैं कि "एकांशेन स्थितो जगत्" अर्थात् एक अंश से मैं संसार को रक्खे हूं, फिर उनके लिये यह क्या कठिन काम था। और इसी प्रकार श्री रामचन्द्रजी को रावण इत्यादि राक्षसों को अच्छी बुद्धि दे देना और उनको अच्छा बना देना कुछ कठिन नहीं था, परन्तु "दुष्टस्य दण्डः" दुष्ट को दण्ड देना यह भगवान् का नियम है जैसे सुवर्ण को शुद्ध करने में अग्नि संस्कार होता है।

महाराजा विक्रम जैसे वीर, साहसी, उद्यमी, सच्चे क्षत्रिय के इतिहास और उनके जीवन को आपको अपना

आदर्श बनाना चाहिए। इस समय में उनके पश्चात् उन जैसा राजा भारतवर्ष में कोई नहीं हुआ। जब भारत पर बाहर से प्रबल आक्रमण हुआ तो महाराजा विक्रम बहुत बड़ी सेना के साथ भारत की सीमा पर पहुंचे और धर्मयुद्ध करके आक्रमण करने वालों को हटा दिया, इसी प्रकार धर्म, देश और जाति की रक्षा के निमित्त विक्रम हर समय प्रस्तुत रहते थे और प्रजा-पालन में इस विशेषता से तत्पर हुए कि उनका नाम प्रतिदिन पूजा के अर्थ प्रजा ने संवत्-सर के साथ लगा दिया जिससे अनन्त प्रजा उनको प्रति-दिन स्मरण करती है और प्रतिवर्ष नया संवत् प्रारम्भ होते ही भारतवासियों को एक मिनिट के लिये तो यह स्मरण हो ही जाता है कि इतने समय पहिले हमारे देश में एक अद्भुत क्षत्रिय राजा हो चुका है और उसके बाद विचारशील मनुष्य यह स्मरण करके पश्चात्ताप करते हैं कि उस समय से लेकर आजतक एक भी क्षत्रिय के घर में वैसा पुत्ररत्न नहीं जन्मा।

यह महाराजा बड़े वीर, विचारशील, दानी, उद्यमी, साहसी थे, इनकी एकमात्र पदवी परदुःखभंजनहार थी जो उनकी प्यारी प्रजा ने स्नेहवश उनके सच्चरित्र और वीर होने के उपलक्ष्य में सच्चे हृदय से भेट की थी। उस महावीर और दानी राजा के छोटे छोटे इतिहास आजतक स्त्रियां अपने बच्चों को सुनाया करती हैं, परन्तु अब मुझे भय है कि थियेटरों

(नाट्यशालाओं) और वायरलेस टेलिग्राफी द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान तक शीघ्रता से पहुंचाये जाने वाले नाच और गाने की ध्वनि के सामने विक्रम के इतिहास कवतक ठहरेंगे ।

हे राजन् ! क्या आप वैसा बनने की इच्छा करोगे, क्यों नहीं जो वह थे सो ही आप हो । आप भी श्री भगवान् रामचन्दजी के राज्यसिंहासन को सुशोभित करते हो फिर केवल एक यह मान लेना कि हम वैसे कैसे बन सकते हैं बहुत बड़ी भूल है, क्योंकि हमारे परमप्यारे श्रीकृष्ण क्या कहते हैं:—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ १ ॥
बंधुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ २ ॥

अपने से ही अपना उद्धार करे, अपना नाश न करे, अपना ही अपना भाई है और अपना ही अपना शत्रु है, उस आत्मा का आत्मा भाई है जिसने अपने को ही अपने से जीत लिया है और जिसने अपने से अपने को नहीं जीता उसका आत्मा ही उसका शत्रु है ।

इस सिद्धान्त के अनुसार यदि आप अपने आप को बहुत ऊंचा बनाना चाहें तो बना सकते हैं परन्तु उत्कट इच्छा होने पर ऐसा होगा । जब हरएक मनुष्य अपने आप को सुधार सकता है तो क्या यह सम्भव नहीं है कि आप भी अपने परिश्रम से बहुतसे सद्गुण अपने आप

में संचित करलें। दत्तात्रेय ने यह कहा है कि मेरे २४ गुरु हैं और यह स्पष्ट कहा है कि इस प्रकार से हैं। उन्होंने २४ जगह २४ प्रकार से उपदेश लिया और उनको सबको अपना गुरु माना, इसी प्रकार आप भी संसार के अनेक व्यवहारों से विचारदृष्टि द्वारा लाभ उठा सकते हैं।

इसमें केवल एक ही चीज़ की आवश्यकता है और यह है दत्तात्रेय जैसी बुद्धि। मद्य पीनेवालों को देख कर यह देखो कि मद्य से इतनी हानि होती है, जैसे कि यादवों का कुल नष्ट होगया। परस्त्री-हरण करने वालों से यह शिक्षा लो कि यह काम बहुत निन्दनीय है जिससे रावण और उसका कुल नष्ट होगया। द्यूत खेलने वालों से यह शिक्षा लो कि यह भी हानिकारक है, जैसे कि पांडव और कौरवों को हानि पहुंची। इससे यह सिद्ध हुआ कि कितने ही ऊंचे दर्जे का राजा क्यों न हो, कितने ही ऊंचे दर्जे का प्रबल क्षत्रिय और विद्वान् ब्राह्मण क्यों न हो और कितना ही तपस्वी क्यों न हो, नीच कर्मों का सेवन करने से अवश्य उसका अधःपतन होता है और अपने कुल सहित नष्ट होजाता है।

इस पत्र के समाप्त होने से पहिले यदि वीरशिरोमणि महाराणा प्रताप की कुछ भी चर्चा न हो तो एक बहुत बड़ी त्रुटि रह जाती है। जब से भारतवर्ष पर पेशावर की तरफ़ से आने वाले मुसलमानों के हमले होने लगे तबसे उदय-

पुर के महाराणाओं का इतिहास बहुत चमत्कारिक, सुन्दर, धार्मिक, देश और जातिभक्ति से समन्वित, क्षत्रिय के अभिमान को लिये हुए निज स्वार्थ का त्याग, आपद् में धैर्य रखना और सच्ची वीरता, इन गुणों से अलंकृत होता रहा, जिसमें उस समय की वीर स्त्रियों ने भी पूरा साथ देकर राजपूती का अद्वितीय परिचय दिया।

इन महाराणाओं के पवित्र इतिहास, जो मुझे अतिरोचक हैं और जो मेरे पिताजी की कृपा से भँवरे के गान के सदृश मेरे बालकपन से मेरे कानों में गाये गये हैं, सब के पढ़ने लायक हैं। महाराणा प्रताप का नाम भारतवर्ष में सर्वत्र गाया जाता है और योरप और अमेरिका इत्यादि देशों में भी इनकी बड़ी प्रशंसा है।

मैं जब चित्तौड़ के दर्शन करने गया तो वहां पर एक अमेरिकन लेडी को भी चित्तौड़ पहाड़ पर भ्रमण करते देखा और पूछने से ज्ञात हुआ कि वह बहुत वर्षों से इस बात की अभिलाषा रखती थी कि कभी चित्तौड़ के दर्शन करूं। उसने पद्मिनी के महलों को, जहां पर वह पूज्य स्त्री हज़ारों स्त्रियों सहित अग्नि में भस्म होगई थी, बड़े ध्यान से देखा और उसके हृदय में जो कुछ भी भाव उस स्थान के देखने से होते थे उसको वही जानती है।

इस पवित्र चित्तौड़ स्थान पर जाने से मनुष्य के भाव बदलते हैं और रुधिर में एक नई प्राकृतिक दैवी शक्ति पैदा

होती है, जिसका प्रभाव लार्ड कर्जन जैसे प्रसिद्ध वाइसराय पर खूब पड़ा था और जिसकी प्रशंसा उन्होंने श्रेष्ठ शब्दों में की है।

महाराणा प्रताप कैसा प्यारा शब्द है, जिस वक्त यह शब्द सामने आता है उस वक्त मिट्टी के हृदय में भी झलक आजाती है तो क्या जीवित मनुष्य के हृदय में कुछ भी आत्माभिमान का संचार न होगा, परन्तु हाय यह क्षत्रिय जाति कितनी पतित है कि जो जीती जागती दिखाई देती है परन्तु मृतक से भी एक हज़ार गुणा ज्यादा मृतक हो गई। उसी चित्तौड़ भूमि के सन्निकट रहने वाले क्षत्रियों के हृदय में क्या आज कुछ भी मातृभूमि, देशभक्ति, सत्य और धर्म का संचार होता है?

वे चित्तौड़ के दुर्ग बहुत वर्षों से इसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं कि फिर भी कोई सच्चा वीर क्षत्रिय जन्म लेकर अपने अद्भुत और पवित्र चरित्रों से हमको भूषित करे, परन्तु चित्तौड़ की यह आशा निराशा होगई और आधुनिक क्षत्रिय महानुभावों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि:—

सुयोधन चक्रवाक चक्रवाकी वा की जय,
अब न मिलैंगे भूप कोटि कल्प आये तैं।

यानें जैसे दुर्योधन और उसकी विजय की आशा अब कदापि नहीं मिलेगी उसी प्रकार चित्तौड़ और वीर क्षत्रियों का समागम यह असंभव सा प्रतीत होता है।

महाराणा प्रताप का बहुत बड़ा विस्तृत इतिहास है जिसको मैं यहां इस छोटे से पत्र में पूर्णरूप से नहीं लिखना चाहता केवल कुछ दोहे लिखकर समाप्त करता हूं—

धर वांकी दिन पादरा, मरद न मूकै माण।
घणां नरिंदां घेरियो, रहै गिरंदां राण ॥ १ ॥

जिसकी भूमि अत्यन्त विकट है और दिन अनुकूल हैं, जो वीर अभिमान को नहीं छोड़ता वह महाराणा बहुत राजाओं से घिरा हुआ पहाड़ों में निवास करता है।

वसुधा किय विख्यात, समरथ कुल सीसोदियां।
राणा जसरी रात, प्रगट्यो भलां प्रतापसी॥

सीसोदियों के वंश की सामर्थ्य को पृथ्वी भर में प्रकाशित करने के लिये हे महाराणा प्रतापसिंह! तुमने यशमयी रात्रि में भले ही जन्म लिया है।

छत्रधारी छत्र छांह, धरम धाय सोयो धरा।
वांह गह्यां री वांह, परत न तजैं प्रतापसी॥

हे छत्रपति महाराणा प्रतापसिंह! धर्म सब पृथ्वी में भगता हुआ तुम्हारे छत्र की छाया में आकर सोया है, अर्थात् धर्म ने मेवाड़ में आने पर आपका ही आश्रय पाया है। अतः अपने हाथ में धारण किए हुए उस धर्म को दृढ़ प्रतिज्ञा वाले आप कदापि नहीं छोड़ेंगे।

गिरपुर देस गमाड़, भमिया पग पग भाखरां।
मह अँजसै मेवाड़, सह अँजसै सीसोदिया॥

अपने पर्वत, नगर और देश गवाँ कर पैदल ही पर्वतों में घूमते रहे पर महाराणा ने अपने धर्म की रक्षा की जिससे आज मेवाड़ का देश गर्व करता है और सीसोदिया जाति घमंड करती है ।

ईश्वर करे महाराणा प्रताप और विक्रम जैसे अद्भुत रत्न इस क्षत्रिय जाति में निरन्तर पैदा होते रहें ।

हे राजन्! आप के राज्य में दो प्रकार के सरदार हैं, एक वह जो आप के समुद्ररूपी राज्य से मेघों के सदृश जल खींच कर बाहर ले लेते हैं और वर्षा करते हैं दूसरे वह जो नदी रूप होकर आपके ख़ज़ाने को उसी वैभव पर रखने के लिये दिन रात सहायता कर रहे हैं । इसलिये आप कृपा करके दोनों को ही यथास्थान बनाये रखना, क्योंकि एक के न होने से दूसरे की हानि अवश्य है ।

राज्य एक प्रकार का वृक्ष है, इस में ठिकाने उसके मूल हैं यदि उन छोटी छोटी जड़ों को वृथा समझकर काट दी जायँ तो सारे वृक्ष के अकस्मात् गिरने का भय वायुरूपी प्रकोप से होजाता है । वृक्ष के गिरते ही हरी भरी टहनियों में बैठने वाले पक्षी जो सुन्दर गान करते हैं अपने अद्भुत और मीठे शब्दों से संसार को लुभाते हैं और कुछ काल के लिये जिन्होंने वहां घोंसले भी बना लिये हैं और उसी वृक्ष के मीठे और रसीले फलों को खाकर तृप्त होते हैं अकस्मात् वृक्ष के गिरते ही शीघ्र उड़ जायँगे और फिर उसको

कभी याद न करेंगे और सहायता और सहानुभूति का लेश-मात्र भी भाव उस वृक्ष के लिये न होगा, क्योंकि उनके लिये और वृक्ष बहुत हैं। यह सब कुछ क्यों हुआ उन छोटी छोटी जड़ों के तोड़ने से, क्योंकि राज्य-रूपी वृक्ष के लिये प्रजा ही उसकी जड़ें हैं। इसलिए हे राजन् ! इस राज्य-रूपी वृक्ष को हरा भरा और दृढ़ रखने के लिये प्रजारूपी जड़ों में जल देते रहना।

संसार में आजदिन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कैसे हैं और इनमें अपने अपने गुण हैं वा नहीं हैं इसकी परीक्षा के निमित्त नीचे लिखे हुए गीता के श्लोकों को कसौटी बना कर अपनी अपनी परीक्षा कर लें कि हमारे में केवल झूठा जातीय अभिमान है वा कुछ गुण भी हैं। श्रीकृष्ण खुद कहते हैं कि मैंने गुण और कर्मों के विभाग के अनुसार चार प्रकार की सृष्टि रची। इससे यह स्पष्ट हुआ कि जिस में जो गुण नहीं है वह उस जाति में रहने का दावा नहीं कर सकता:—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥

चित्त की स्थिरता, बाहरी इन्द्रियों का निरोध, तप, बाहर और भीतर की शुद्धि, क्षमा याने सहनशक्ति, सीधा-पन, ज्ञान, विज्ञान और परलोक के विषय में श्रद्धा यह ब्राह्मण का स्वभावसिद्ध कर्म है।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥

वीरता, तेज, धैर्य, निपुणता, युद्ध में स्थिरता, दान और समर्थ होना यह क्षत्रिय का स्वाभाविक कर्म है ।

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म-स्वभावजम् ।

खेती, गोरक्षा और व्यापार वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं ।

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ।

अच्छी तरह सेवा करना शूद्र का स्वाभाविक कर्म है ।

राजा के लिये सच्चे उपदेशकों के वाक्य को प्रीति से ग्रहण करना बहुत आवश्यक है । राजाओं के पास दो प्रकार के मनुष्य रहते हैं एक सच्चा उपदेश करने वाले, दूसरे हां में हां मिला कर अपना स्वार्थ सिद्ध करने वाले । स्वार्थी राजा को और राजा के राज्य को अपना न समझ कर केवल अपने ही हित की तरफ़ ध्यान रखते हैं और सच्चे हितू राजा को और अपने आप को एक समझते हैं, इसीलिये वे समय समय पर उपदेश करते रहते हैं। वे उपदेश कड़वे होने के कारण कठोर प्रतीत होते हैं परन्तु बुद्धिमान् राजा उनको धारण करते हैं और अपने हित और अनहित का विचार करते रहते हैं परन्तु यह सात्विक बुद्धि से विचार करने पर आता है, राजस और तामस बुद्धि से प्राप्त नहीं होता । यहां पर दो दृष्टान्त आपके पितामह महाराज श्री रामसिंहजी बहादुर के उल्लेख करने लायक़ हैं:—

युवावस्था के धर्म के अनुसार महाराजा साहब में मद्य पीने का व्यसन होगया और खुशामदी परिकर ने उनको उस व्यसन से नहीं रोका वरन् बढ़ाने की चेष्टा की।

एक परम हितू साधारण स्थिति का ब्राह्मण पुरोहित रामप्रसाद, जो राजसेवा में था, इस दुर्घटना को देख कर नित्य दुःखित होता था। एक दिन जब स्वामिभक्ति और सच्चे स्नेह ने अधिक ज़ोर दिया तो रूपनिवास बाग़ में जल के हौज़ के किनारे पर विराजमान महाराजा साहब के सामने से चांदी की चौकी, उसके ऊपर रक्खे हुए सुवर्ण और चांदी के पात्र और उनके अन्दर भरी हुई मदिरा को सहसा उठा कर हौज़ में फेंक दिया। तत्पश्चात् यह शब्द कह कर उस स्थान को त्याग दिया कि आप कछवाहों के राजा हो मालूम नहीं आपकी क्या दुर्गति होने वाली है। कल रेजीडेन्ट साहब आपसे मिलने आये उस वक्त आपकी क्या दशा थी। मेरे सामने तो यह कार्य नहीं हो सकता, आपका और मेरा इतना ही संस्कार था सो समाप्त हुआ। इन दुष्ट और नीच स्वार्थियों को, जो आप के सामने खड़े हैं, अपने साथ रख कर आप कदापि अच्छा फल न पायेंगे। यह कह कर उक्त ब्राह्मण ने शीघ्रता से उस वाटिका का त्याग किया, क्योंकि राजा के अग्निरूपी क्रोध में भस्म होने का भय किसको नहीं रहता है।

नाटक का एक दृश्य समाप्त होगया, गम्भीर महाराजा

रामसिंहजी ने ब्राह्मण के उस कर्म पर कुछ भी क्रोध प्रकट नहीं किया और शान्तस्वभाव से बहुत देर तक विचार करके यह कहा कि पुरोहित रामप्रसाद को वापस बुलाओ। तत्काल वही खुशामदी बाज की तरह झपटे और कठोर कारावास दिलाने की आशा से शीघ्र राजा के सामने ब्राह्मण को उपस्थित किया।

महाराज ने पूछा कि तुमने ऐसा व्यवहार हमारे साथ क्यों किया तब उसने उत्तर दिया कि आज बहुत प्रातःकाल जब रेजीडेन्ट साहब आपसे मिलने आये, जो किसी आवश्यक कार्यवश आगरे जा रहे थे तो आपको मैंने बड़ी कठिनता से सहारा देकर पलंग पर बैठाया। आपको उस समय इतना होश नहीं था कि उनसे बातचीत कर सकें। साहब के पूछने पर मैंने उत्तर दिया कि महाराज को बहुत ज़ोर से ज्वर आ रहा है इससे बैठने की सामर्थ्य नहीं है। तत्काल यह सुनते ही साहब लौट गये और कहा कि महाराज साहब के आराम में विघ्न न डालो।

जिस मद्य से आपकी यह दशा हो गई थी वही प्रातःकाल आज फिर आपके सामने रक्खा गया इसलिये मुझको क्लेश हुआ और यह सब कुछ मैंने आपके हित के लिये किया।

महाराज यह सुनकर टुक सोचते रहे और पुरोहित रामप्रसादजी से यह फर्माया कि यावज्जीवन आज से हम

कभी मद्य न पीवेंगे और वैसे ही निभा दिया। यह पुरोहित रामप्रसादजी कुछ दिन बाद महाराज के बड़े कृपापात्र हो गये और महाराज ने उनको इस उपदेश के पारितोषिक में एक अच्छी जीविका प्रदान की और ताजीम दी जो ठिकाना अद्यावधि उनके वंश में है।

एक समय ठाकुर फ़तहसिंहजी ने, जो उस समय मुसाहब थे, महाराजा साहब से अर्ज़ किया कि इतने दिन से अमुक गांव वाले रियासत के इस हुक्म को नहीं मानते उनको कठोर दण्ड की आज्ञा होनी चाहिये। उत्तर में महाराजा साहब ने यह फर्माया कि तुम पहले अपने हुक्म को देखो कि मानने लायक है वा नहीं, यदि अनुचित हो तो वापस लो।

महाराजा साहब में खुफिया तौर पर परिभ्रमण करके रियासत का हाल जानने की इच्छा भी बहुत थी और ऐसा किया भी, परन्तु कुशल मंत्रियों के अभाव से रियासत के प्रवन्ध में विशेप लाभ नहीं कर सके।

स्वर्गवासी महाराजा रामसिंहजी की गम्भीरता के दो दृष्टान्त हो चुके, अब चार दृष्टान्त उसी नमूने के और लिखे जाते हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि उनमें गम्भीरता बहुत थी और सत्य को सुनने के उत्सुक थे। महाराजा साहब को बाज़ रखने का बहुत शौक था और यह दुर्व्यसन इतना बढ़ा कि प्रतिदिन हज़ारों कबूतर और अन्य पक्षी इन बाज़ों के लिये

पकड़वा कर मंगाए जाते थे और मारे जाते थे। निकट रहने वालों को इसका दुःख तो हुआ परन्तु किसी को यह साहस न हुआ कि महाराजा साहब को इस दुर्व्यसन से रोके।

अकस्मात् उनके नेत्रों में एक प्रकार का रोग हुआ और चिकित्सा के लिये शिमला पधारे। वहां पर एक डाक्टर ने ऑपरेशन किया और ऑपरेशन के बाद नेत्रों में बहुत पीड़ा हुई। डाक्टर ने यह प्रबन्ध किया कि प्रातःकाल से सायंकाल तक कोई इनके पास बैठकर बातचीत नहीं कर सके, क्योंकि इससे नेत्र में हानि होने का भय था। (His Excellency Lord Mayo) लार्ड मेओ भी जो महाराजा साहब के परम प्रिय मित्र थे एक दो दफ़ा कमरे में चुपचाप आकर चले गये।

सायंकाल होते होते डाक्टर ने यह इजाज़त दी कि अब एक या दो महाराज के पास रहने वालों में से कुछ बातचीत कर सकते हैं। तदनुसार भूतपूर्व महाराजा सर प्रतापसिंहजी, ठाकुर ज़ोरावरसिंहजी चांपावत और पुलन्दरजी को निकट बुलाया। कुछ वार्तालाप हुआ उस पर महाराजा साहब ने कहा कि आज तो हमारे नेत्रों में बहुत ही कड़ी पीड़ा है, बरदास्त करने के लायक नहीं। महाराज प्रतापसिंहजी और ठाकुर ज़ोरावरसिंहजी ने बहुत हलके से अर्ज किया कि ईश्वर आराम करेगा, परन्तु पास बैठे

पुलन्दरजी ने बहुत ज़ोर से कहा कि इस दुष्ट राजा के नेत्र में पीड़ा न होगी तो और किस के होगी, जो नित्य हज़ारों चिड़ियों की आंखें निकलवाता है। जिस पर ठाकुर ज़ोरावरसिंहजी ने मना किया कि ऐसे मौक़े पर आप ऐसी बातें कहते हो। उसका उत्तर फिर उसी तरह दिया कि इसलिये कहता हूं कि पीड़ा के समय इनको यह मालूम हो कि दूसरों को पीड़ा देने में यह मजा आता है। महाराजा साहब ने यह कहकर रोक दिया कि पुलन्दरजी ठीक तो कहते हैं इनको क्यों रोकते हो।

२—जो बाज़दार बाज़ों के लिये नित्य चिड़िया पकड़ते थे, सरदारों और ब्राह्मणों के घरों में जा जा कर चिड़िया पकड़ने लगे और रोकने पर राज का भय दिखाकर धमकाते और जब तक उनको वहां से कुछ द्रव्य न मिलता न हटते। प्रजा में इसकी चर्चा बहुत फैली और बहुत बड़ा संकट हुआ। एक दिन इसी रामबाग़ के सामने, जो अब परिवर्तन करके बहुत उत्तम राजमहल बना दिया गया है, एक वट के वृक्ष के नीचे रावल विजयसिंहजी प्रातःकाल की संध्या कर रहे थे। बाज़दारों ने यह अवसर देखकर कि आज हमको अच्छा पारितोषिक मिल सकेगा रावल विजयसिंहजी को ग्लानि पहुंचाने के हेतु उस वट-वृक्ष पर चढ़कर चिड़ियों को मारना और पकड़ना आरम्भ किया। उन्होंने कुछ देर सहन करके अपने मनुष्यों को आज्ञा दी

कि इनको इतना पीटो कि आइन्दा यह ऐसा कभी न करें। तदनुसार बाज़दार बहुत ज़ोर से पीटे गये और रावलजी उसी क्षण अपने मकान चले गये। हजूर के सामने बाज़दारों ने रावलजी की बहुत लम्बी शिकायत पेश की, परन्तु महाराज ने सब सुनकर यह निर्णय किया कि रावलजी का दोष नहीं है, बाज़दारों का अपराध है और उनको आज्ञा मिली कि भविष्य में ऐसा न करें। दूसरे किसी अवसर पर बाज़दारों ने ठाकुर फ़तहसिंहजी चांपावत की हवेली में भी चिड़ियों को पकड़ा और वहां भी वह खूब ज़ोर से पीटे गये। महाराजा साहब ने इन सब दुर्घटनाओं पर विचार करके उस दुर्व्यसन का त्याग कर दिया।

३—महाराजा साहब की छोटी रानी श्रीमती राठौड़जी साहब का स्वर्गवास हुआ जिस पर उनको बहुत दुःख हुआ और कई दिनों तक शोक से संतापित रहे और मोहवश होकर भोजन इत्यादि में भी कमी करने लगे। एक समय कुँवर नारायणसिंहजी चांपावत ने, जो महाराजा साहब के परम कृपापात्र थे, विनीत भाव से यह प्रार्थना की कि आपके शरीर को हानि हो रही है, ऐसा मोह न कीजिये, जिस पर महाराजा साहब ने फ़र्माया कि जिसके लागे वही जाने, तुम्हें क्या मालूम। इस पर नारायणसिंहजी चांपावत ने साहस करके कुछ कड़े शब्द कह दिए जो यथार्थ में सत्य थे, जिनको मैं यहां लिखना नहीं चाहता। महाराजा साहब

सुन कर चुप हो गए और नारायणसिंहजी को भय हुआ कि शायद महाराजा साहब क्रोध करेंगे। एक सप्ताह तक दर्बार ने कुछ नहीं फ़र्माया उसके बाद बहुतों के सामने नारायणसिंहजी की प्रशंसा करके यह कहा कि इसने हमको बहुत सदुपदेश किया और यह हमको इतना ही प्रिय है जैसे हमारा पुत्र।

४—महाराजा रामसिंहजी ने कुछ काल तक ऊंट की सवारी पर कुछ चुने हुए मनुष्यों के साथ गुप्त रीति से परिभ्रमण करके अपनी और अपने रियासत के बाहर के प्रदेशों का वृत्तान्त जानने की चेष्टा की जिससे उनको कई प्रकार के ज्ञान हुए।

एक समय घूमते घूमते थके हुए रात्रि को खण्डेले के पास रेवासे नामी ग्राम में पहुंचे जहां पर श्री रघुनाथजी महाराज का एक मंदिर था जो अद्यावधि है। महाराज ने और उनके साथियों ने वहां के महन्त से प्रार्थना की कि हम मुसाफ़िर हैं, केवल रात्रि में टिकने के लिए स्थान चाहते हैं, भोजन का प्रबन्ध स्वयम् कर लेंगे। महन्त अच्छा नहीं था। उस समय उसके यहां नृत्य और गान हो रहा था और उसने हुक्म दिया कि दरवाज़ा मत खोलो, कौन है, उनको यहां से हटा दो। एक या दो बार प्रार्थना करने पर भी जब उनको वहां ठहरने का स्थान नहीं मिला तो गाँव में एक बुढ़िया के यहां आकर विश्राम किया।

जयपुर आकर महाराजा साहब ने उस मन्दिर के नीचे जो ग्राम खण्डेले, सीकर वा मनोहरपुर की तरफ़ से भेंट थे उनको रियासत के सुप्रबन्ध में रहने की आज्ञा दी। महाराजा साहब की यह आज्ञा बहुत उचित थी परन्तु मंत्रियों की भूल से उस आज्ञा का यथार्थ पालन नहीं किया गया और वह सभी ग्राम जो उस मंदिर के नीचे थे रियासत में ख़ालसा कर लिए गए जो अद्यावधि चले आते हैं और दूसरे का संकल्प किया हुआ धन रियासत के ख़ज़ाने में जमा होता है।

भर्तृहरि कहते हैं कि कुयोग्य मंत्रियों से राजा के शिर पर पाप चढ़ता है सो ही यहां हुआ। इन लोगों ने थोड़े से लोभवश होकर उन मंदिर के ग्रामों को रियासत में खालसा करके उनकी उपज को, जो किसी ने श्री भगवान् के चरणों में अर्पण की थी, राजा के कोष में भरना आरम्भ किया।

देखिये भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धव को ज्ञान देते हुए श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कंध, सत्ताइसवें अध्याय और चौअनवें श्लोक में बहुत स्पष्ट शब्दों में यह आज्ञा की है कि अपनी वा दूसरे की श्री भगवान् के अर्पण की हुई भूमि कदापि अपहार न करे। इसलिए श्रीमान् से यह प्रार्थना है कि यह गाँव वापिस उसी मंदिर को भेंट कर दिए जायँ। इनका धन ख़ज़ाने में आने योग्य नहीं है क्योंकि ऐसा करने से भगवान् की आज्ञा का और धर्म का उल्लंघन होता है

और उस द्रव्य से रियासत के कोष को हानि पहुंचती है।

इस मंदिर की जीविका के विषय में महाराजा रामसिंहजी की यह स्पष्ट आज्ञा नहीं है कि वह जीविका रियासत में खालसे की जाय। उनकी आज्ञा सुप्रबंध करने की है और यह उचित भी है क्योंकि सुप्रबंध करना राजा का धर्म है। मंत्रियों ने उनकी आज्ञा का भाव न समझ कर ऐसा किया, इससे स्पष्ट हुआ कि उनकी आज्ञा का उल्लंघन किया।

इसलिये हे राजन्! मैं आपसे प्रार्थना करता हूं और पूरी आशा करता हूं कि आप इस दोष को मिटा कर श्री रघुनाथजी महाराज से यह प्रार्थना करेंगे कि जो भूल हुई उसे क्षमा करें, क्योंकि महाराज मनु की आज्ञा है कि–पिता की भूल को सुधारना पुत्र का धर्म है।

इस मन्दिर की जीविका को वे ठिकाने भी वापस नहीं ले सकते, जिनके पुरुखाओं ने इस जीविका को श्री भगवान् की भेट किया है। जीविका फिर से मन्दिर के भेट होने के साथ साथ इस सम्बन्ध में दो और भी अत्यावश्यक सुधार हैं—

पहला यह कि एक धार्मिक कर्मचारी उस मंदिर के सुप्रबन्ध के लिये उस मंदिर में रख दिया जाय, जो पहले की तरह किसी प्रकार का असंतोष न होने दे और मन्दिर की आजीविका का कुल रुपया, भगवान् के भोग इत्यादिक से बचा हुआ गोशाला, पाठशाला और दीनों की सहायता

आदि शुभ कर्मों में लगाया करे। दूसरा सुधार यह है कि जितना रुपया आज तक उन ग्रामों का रियासत के ख़ज़ाने में जमा हुआ है, वह लेकर गोशाला, पाठशाला, बोर्डिङ्ग-हाउस इत्यादि शुभ कर्मों में लगाया जाय। उसी ग्राम रेवासे में यह कार्य हो अथवा जयपुर में। ऐसा करने से आपकी बड़ी प्रशंसा होगी और श्री रामचन्द्र भगवान् आप पर परम-कृपा करेंगे। रियासतों में ऐसी भूलें हक़दारी और गोदनशीनी के मोकदमात में भी कई जगह हो जाती हैं और इन भूलों के उदाहरण मय बहुत पक्के प्रमाणों के इस दास को भलीभाँति विदित हैं और इसीलिये बहुत नम्रभाव से यह प्रार्थना है कि यदि आपके हाथ से उनका सुधार हो सकेगा तो इससे बढ़कर और कोई पुण्य नहीं है।

यदि मंदिर की यह किंवदन्ती सत्य न हो और दूसरे किसी कारणों से जीविका ख़ालसा में लाई गई हो तो भी उसका सुधार होना आवश्यक है। आप सुधार करने में हिचकें नहीं, क्योंकि यदि आप ही अशुभ कर्मों से बचाकर शुभ कर्मों में अपनी प्रजा को न लगायेंगे तो फिर और किससे आशा की जाय।

इस मंदिर की घटना से भगवान् रामचन्द्र ने चार शिक्षाएं और भी दी हैं सो भी धारण करने योग्य हैं। पहिली शिक्षा महाराजा रामसिंहजी को यह दी कि किसी भी समय कोई अर्थी आवे तो उसकी प्रार्थना अवश्य सुनो

और यदि कोई अतिथि राजद्वार पर आवे तो उसका तिरस्कार कदापि न करो। दूसरी शिक्षा महन्त को यह दी कि जो पुण्य के हेतु समर्पित द्रव्य को अन्यथा लगाता है उसको राजा द्वारा श्री भगवान् यथार्थ दण्ड दे देते हैं। तीसरी शिक्षा यह है कि राजा को अपनी आंख से परिश्रम करके राज्यकार्य का निरीक्षण करना चाहिए। चौथी शिक्षा यह है कि राजा की आज्ञा का किसी समय ठीक ठीक पालन नहीं होता है इसलिए राजा वारम्वार देखे कि मेरी आज्ञा का यथार्थ रूप से पालन होता है कि नहीं। एक ही घटना में चार शिक्षाएं मिलीं, इसी प्रकार मनुष्य को जीवन भर बहुतसी शिक्षाएं मिलती रहती हैं।

हे राजन्! ऊपर लिखी हुई घटनाएं सत्य हैं, कल्पित नहीं हैं और मुझे आशा है कि आप भी इससे महती शिक्षा प्राप्त करेंगे और न्याय अन्याय निर्णय करने के समय सात्विक बुद्धि से काम लेंगे।

महाराजा माधवसिंहजी की प्रशंसा—

१—आपके पिता स्वर्गवासी महाराजा माधवसिंहजी बहादुर ने एक कार्य अति प्रशंसनीय किया जिसकी ख्याति सारे भारतवर्ष में फैल गई। कछवाहों के वंश की एक शाखा समय के फेर फार से और क्षत्रियों के उत्साह का अनुकरण कर के काश्मीर जैसे दूर देश में जाकर राज्य-शासन करने लगी। बहुत समय से जयपुर से दूर रहने

के कारण काश्मीर नरेशों से कछवाहों का खान पान बन्द होगया, परन्तु महाराजा जयपुर ने इसकी भली प्रकार जांच करके अपने भाइयों का स्वागत किया और उसका श्रेय अपने प्यारे कुंवर मानसिंहजी को दिया। मुझे आशा है कि श्रीमान् भी भविष्य में ऐसा कार्य उपस्थित होने पर कटिबद्ध होकर माधवनरेश का अनुकरण करेंगे।

२—माजी साहबा श्री राठौड़जी ने चांदपोल दरवाज़े के बाहर एक धर्मशाला बनवाई जो बहुत वर्षों तक मुसाफ़िरों के सुख के काम में आती रही, परन्तु महाराजा माधवसिंहजी के स्वर्गवास के कुछ समय पहिले ही उस धर्मशाला को दूसरे रूप में परिवर्तन कर दिया। इससे उक्त माजी साहबा के आत्मा को अवश्य क्लेश पहुंचा होगा और यह परिवर्तन स्वर्गवासी महाराजा साहब की इच्छा से नहीं हुआ किसी कारणवश होगया। प्रजागण इसकी चर्चा करते हैं, इसलिए उसका सुधार करना आपका धर्म है। विशेष-रूप से इस सुधार का भार आप पर इसलिए है कि उक्त माजी साहबा बड़ी बुद्धिमती थीं और उनको इसका भान होगया था कि इस धर्मशाला में भविष्य में ऐसा परिवर्तन होगा और उसका सुधार हमारा प्रिय पौत्र कर सकेगा, इसलिए आपको संदेशा देते हुए इस धर्मशाला में निम्नलिखित शब्द अंकित करा गईं जो अद्यावधि हैं:—

दियो दान नहिं लीजिए, मान महीपति मान।

अर्थ—हे पृथ्वीनाथ मानसिंह ! मान लीजिए कि दिये हुए दान को क्यों वापस लें।

राजा को चन्दन के वृक्ष के समान होकर रहना चाहिये जैसे कि एक चन्दन का वृक्ष अपने आस पास के सजातीय वृक्षों को चाहे वह कड़वे, कसैले, बांके, टेढ़े क्यों न हों अपना गुण बग़ैर मांगे देकर संसार में चन्दनरूप से बिकवा देता है। उसके चौतरफ़ उसकी गंध से मोहित हो कर विषधर भयङ्कर सर्प कुटिल मनुष्यों की तरह से रेंगते हुए चुपचाप आकर लिपट जाते हैं और बहुत यत्न उस गंध को लेने का करते हैं जो चंदन का वृक्ष दूसरे वृक्षों को दिन रात उदारता पूर्वक देता है, परन्तु उन दुष्ट सर्पों के व्यवहार को पहचान कर चन्दन अपनी गंध में से अणुमात्र भी उनको नहीं देता और नीति-कुशलता से चन्दन काटने के हेतु आये हुए मनुष्यों द्वारा उनको प्राण-दंड दिलवा देता है। इसी प्रकार राजा को रहना चाहिए, क्योंकि राजा के अमूल्य द्रव्य को लेने के लिये चुपचाप बहुत आते हैं परन्तु राजा को चाहिये कि दान देने के समय पात्र कुपात्र की पूरी परीक्षा करे, दान के विषय में भगवद्गीता की जो आज्ञा है वह शिरोधार्य है:—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम् ॥१॥

अर्थ—अवश्य देना है, इस विचार से जो बिना उप-

कार करने वाले को देश, काल और पात्र में दिया जाता है वह सात्विक दान कहा गया है ॥ १ ॥

मैं आशा करता हूं कि आप अपने बहुमूल्य समय में से कुछ समय इसके पढ़ने और समझने में भी लगायेंगे और मेरी बहुत बड़ी आशाओं को, जो आप से हैं, निराश न होने देंगे।

अन्त में यह प्रार्थना है कि श्री रामचन्द्र और श्रीकृष्ण के उपदेशों को आप वारम्बार धारण करें और प्राचीन पवित्र ग्रन्थों को नित्य श्रवण और मनन करें जिससे ईश्वर आपको सुखी और चिरायु करे।

बहुतसे ग्रन्थों के बहुतसे उपदेशों को याद करने की कठिनता को दूर करने के लिये मैं एक श्लोक श्रीमद्भगवद्गीता का और एक हिन्दी का दोहा यहां निवेदन करता हूं। इनको हृदय में जचाने से और इनके कथन के अनुसार चलने से आप ईश्वर की कृपा के पात्र बनेंगे और चिरकाल तक इस संसार में सुयश प्राप्त करके क्षत्रिय जाति के एक नमूनारूपी राजा कहलायेंगे इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथालोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥१॥

काम, क्रोध और लोभ ये तीन अपना नाश करने वाले नरक के द्वार हैं, इससे इन तीनों को छोड़े ॥ १ ॥

देह त्रिषय वल गेह धन, यश इत, पुनि परलोक ।
चार वचाय इन्द्रियन के, कीजे भोग अशोक ॥

शरीर का वल, घर का धन, संसार में यश और परलोक इन चारों को बचाकर शोकरहित होकर इन्द्रियों के भोग कीजिये ।

आपके स्मरण रखने के लिये कुछ संस्कृत श्लोक भेट करता हूं और इस भेट ही के साथ इस पत्र को समाप्त करता हूं । ईश्वर से प्रार्थना है कि आपको चिरायु करके इस कछवाहों की रियासत में प्रतिदिन उन्नति करने का अवसर दे और आपके स्थूल शरीर के साथ यशरूपी शरीर छाया के सदृश घूमता रहे ।

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः ।
किं नु मे पशुभिस्तुल्यं किं नु सत्पुरुषैरिति ॥ १ ॥

अर्थ—मनुष्य अपने चरित को प्रतिदिन देखे कि क्या मेरा पशुओं के तुल्य है और क्या सत्पुरुषों का सा है, अर्थात् कौन कार्य मैं पशुओं का सा करता हूं और कौनसा कार्य सत्पुरुषों का सा करता हूं । यह जानकर पशुओं के से कार्य को छोड़े और सत्पुरुषों के कार्य को करे ॥ १ ॥

अधर्मोपार्जितैरर्थैः करोत्यौर्ध्वदैहिकम् ।
न स तस्य फलं प्रेत्य भुंक्तेऽर्थस्य दुरागमात् ॥२॥

अर्थ—अधर्म से कमाये हुए धन से जो परलोक में फल प्राप्त होने के लिये धार्मिक कार्य करता है, वह धन के

निन्दित होने के कारण से परलोक में उसका फल नहीं पाता। (इससे धर्मपूर्वक ही धन कमाना चाहिये) ॥ २ ॥

न वृद्धिर्बहुमन्तव्या या वृद्धिः क्षयमावहेत्।
क्षयोपि बहुमन्तव्यो यः क्षयो वृद्धिमावहेत् ॥३॥

अर्थ—वृद्धि को बहुत न मानना चाहिये, जो वृद्धि अपना नाश करे और क्षय को भी बहुत मानना चाहिये जो परिणाम में वृद्धि करे। अर्थात् अधर्म आदि से धनादि के बढ़ने को श्रेष्ठ न मानना चाहिये और धर्मकार्य में धनादि के क्षय को भी श्रेष्ठ मानना चाहिये, क्योंकि वह अन्त में वृद्धि करने वाला होता है ॥ ३ ॥

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।
यमस्य करुणा नास्ति कर्तव्यो धर्मसंचयः ॥ ४ ॥

अर्थ—शरीर अनित्य है, वैभव (ऐश्वर्य) अस्थिर सदा रहनेवाला नहीं है और यमराज के दया नहीं है, इससे धर्म का संचय करना उचित है। अर्थात् धर्म का संचय करना ही सर्वोपरि संचय करना है ॥ ४ ॥

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥ ५ ॥

अर्थ—धर्म का सर्वस्व (निचोड़) सुनिये और सुन कर हृदय में रख भी लीजिये। जो अपने प्रतिकूल हो, दूसरों के लिये भी प्रतिकूल समझकर वैसा काम न करे ॥ ५ ॥

सत्यं च धर्मं च पराक्रमं च
भूतानुकंपां प्रियवादितां च ।
द्विजातिदेवातिथिपूजनं च
पंथानमाहुस्त्रिदिवस्य सन्तः ॥ ६ ॥

अर्थ—सत्य, धर्म, पराक्रम, प्राणियों पर दया, मीठा बोलना तथा ब्राह्मण देवता और अतिथि का पूजन इन्हीं को सज्जन स्वर्ग का मार्ग बतलाते हैं ॥ ६ ॥

दुष्टस्य दंडः सुजनस्य पूजा
न्यायेन कोपस्य च संप्रवृद्धिः ।
अपक्षपातोऽर्थिषु राष्ट्ररक्षा
पंचैव यज्ञाः कथिता नृपाणाम् ॥ ७ ॥

अर्थ—दुष्ट को दंड देना, सज्जन का सत्कार, न्याय से कोष को बढ़ाना, अभियुक्तों में पक्षपात न करना और राज्य की रक्षा ये पांचों ही यज्ञ राजाओं को करना कहा गया है ॥ ७ ॥

धर्मे तत्परता मुखे मधुरता दाने समुत्साहिता
मित्रेऽवंचकता गुरौ विनयिता चित्तेऽतिगंभीरता ।
आचारे शुचिता गुणे रसिकता शास्त्रेषु विज्ञातृता
रूपे सुंदरता शिवे भजनता त्वय्यस्ति भो राघव ॥८॥

अर्थ—धर्म में आसक्ति, मुख में मधुरता, दान में उत्साह, मित्र में निष्कपटता, गुरु में नम्रता, चित्त में अति गम्भीरता, आचार में शुद्धता, गुण-परीक्षा में प्रेम, शास्त्रों

का ज्ञान, रूप में सुन्दरता और सदाशिव में भक्ति, ये गुण हे राघव ! आप में हैं ॥ ८ ॥

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदांतिनः ।
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः ॥
अर्हन्नित्यथ जैनशास्त्रनिरताः कर्मेति मीमांसकाः ।
सोयं वो विदधातु वांछितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ॥९॥

अर्थ—शैव जिसको शिव कह कर सेवते हैं, वेदान्ती ब्रह्म, प्रमाण में निपुण बौद्ध बुद्ध, नैयायिक कर्ता, जैनी अर्हत् और मीमांसक कर्म कह कर जिसकी भलीभाँति उपासना करते हैं, वह यह त्रिलोकी-पति हरि आपको अभीष्ट फल दें ॥ ९ ॥

कृष्ण त्वदीयपदपंकजपंजरांते
अद्यैव मे वसतु मानसराजहंसः ।
प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः
कंठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते ॥ १० ॥

अर्थ—हे कृष्ण ! आपके चरण-कमलरूप पिंजरे में मेरा मन-राजहंस आज ही बस जाय, क्योंकि प्राण के प्रयाण समय में कफ, वात और पित्त से गले के रुंध जाने पर आपका स्मरण कहां से हो सकता है ॥ १० ॥

वासुदेवस्य ये भक्ताः शांतास्तद्गतमानसाः ।
तेषां दासस्य दासोहं भवे जन्मनि जन्मनि ॥११॥

अर्थ—जो शान्त और उन्हीं में मन रखने वाले

श्रीकृष्ण के भक्त हैं, उन के दास का दास मैं प्रतिजन्म में होऊं ॥ ११ ॥

गेयं गीता नामसहस्त्रं
ध्येयं श्रीपतिरूपमजस्त्रम् ।
नेयं सज्जननिकटे चित्तं
देयं दीनजनाय च वित्तम् ॥ १२ ॥

अर्थ—गीता और सहस्त्रनाम का गान करना चाहिए, लक्ष्मीपति का रूप निरन्तर ध्यान करना चाहिए, मन सज्जन की ओर लेजाना चाहिए और धन दीन जनों को देना चाहिए ॥ १२ ॥

गीतामाश्रित्य बहवो भूभुजो जनकादयः ।
निर्धूतकल्मषा लोके गीता याताः परं पदम् ॥

अर्थ—गीता का आश्रय लेकर जनक आदि बहुतेरे भूपाल (राजा) पापरहित और प्रशंसापात्र हो परम-पद को प्राप्त हुए ।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

अर्थ—समस्त उपनिषद् गायें हैं, गोपाल(नन्द)-नंदन (पुत्र) श्रीकृष्ण दुहने वाले हैं, अर्जुन बछड़ा है, पण्डित पान करने वाला है और पूज्य गीतामृत दूध है ।

आप कछवाहा वंश में पूर्णचन्द्रमा हैं और मैं भी उसी वंशरूपी समुद्र में एक बिन्दु के समान कहीं स्थित हूं,

इसलिये जैसे पूर्णचन्द्रमा को देख कर समुद्र की लहरें ऊपर को बड़े वेग और उत्साह से उठती हैं उसी प्रेम ने मुझको भी इस पत्र द्वारा मेरी हार्दिक भक्ति को आपको भेट करने में प्रोत्साहित किया।

हे प्रभो ! आप से सविनय नम्रभाव से यह प्रार्थना है कि यदि इस पत्र के भेट करने में मेरी कुछ धृष्टता हो तो क्षमा करें, क्योंकि महापुरुषों की शोभा क्षमा करने में विशेष है। मैं आप से क्षमाप्रार्थी हूं और उन्हीं शब्दों में प्रार्थना करता हूं जिन में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से की।

पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।

अर्थ—हे देव ! आप तो जैसे पुत्र के सब अपराध को पिता क्षमा करता है अर्थात् माफ़ करता है और मित्र के अपराध को जैसे मित्र क्षमा करता है और प्यारी स्त्री के अपराध को जैसे उसका प्रिय पति क्षमा करता है तैसे मेरे अपराध को भी क्षमा करने योग्य हो।

शं तनोतु सततं भवदीयं रामचन्द्रपदपद्मपरागः।

अर्थ—रामचन्द्रजी के चरणकमलों की रज आपका निरंतर कल्याण विस्तार करे।

मलसीसर भवन, जयपुर चैत्र शुक्ला ६, सं० १९८७.	भवत्किङ्करः शिवनाथसिंह वर्मा

संस्कृत-संग्रह

[१]

श्री गणेशजी की स्तुति ।

जेहि सुमिरत सिधि होइ, गननायक करिवरबदन ।
करउ अनुग्रह सोइ, बुद्धिरासि सुभगुनसदन ॥

जिनके स्मरण करने से सिद्धि होती है हाथी के मुख के समान मुख वाले, बुद्धि की राशि और शुभगुणों के घर वे गणेश कृपा करें ।

श्री भगवान् की स्तुति ।

मूक होइ वाचाल, पंगु चढ़इ गिरिवर गहन ।
जासु कृपा सो दयाल, द्रवउ सकल कलिमल दहन ॥

जिनकी कृपा से गूंगा वक्ता हो जाता है और पंगु कठिन गिरिराज पर चढ़ जाता है सब कलि के मलों को भस्म करने वाले वह दयालु प्रसन्न हों ।

श्री हनुमानजी की स्तुति ।

अतुलितबलधामं स्वर्णशैलाभदेहं,
दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम् ।
सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं,
रघुपतिवरदूतं वातजातं नमामि ॥

अतुल बल के आश्रय, सुवर्ण के पर्वत के समान शरीर वाले, दैत्य वन के अग्नि, ज्ञानियों के अग्रणी, सब गुणों के निधान, वानरों के अधीश्वर और रामचन्द्रजी के श्रेष्ठ दूत पवनपूत हनुमानजी को मैं नमस्कार करता हूं।

श्री शिवजी की स्तुति।

रुद्राक्षकंकणलसत्करदण्डयुग्मं,
भालान्तरालविधुभस्मधरं त्रिपुंड्रम्।
पंचाक्षरं परिपठन् वरमंत्रराजं,
ध्येयं सदा पशुपतिं शरणं व्रजेऽहम्॥ १॥

जिनके दोनों भुजदंडों में रुद्राक्ष कंकण शोभायमान हैं, जो ललाट के बीच में चन्द्रमा और भस्म के त्रिपुंड्र को धारण किए हैं और जो सदा ध्यान करने योग्य हैं उन शिवजी की शरण में श्रेष्ठ मंत्रों के राजा, पंचाक्षर मंत्र को पढ़ता हुआ मैं जाता हूं॥ १॥

कल्पावसाने भुवनानि दग्ध्वा,
सर्वाणि यो नृत्यति भूरिलीलः।
स कालरुद्रोऽवतु मां दवाग्नेर्,
वात्यादिभीतेरखिलाच्च तापात्॥ २॥

अनेक लीला करने वाले जो कालरुद्र, कल्पान्त में सब लोकों को भस्म कर नाचते हैं वह दवाग्नि से, वायु आदि की भीति से और सब तापों से मेरी रक्षा करें॥ २॥

श्री गंगाजी की स्तुति ।

प्रभाते स्नातीनां नृपतिरमणीनां कुचतटी-
गतो यावन्मातर्मिलति तव तोयैर्मृगमदः ।
मृगास्तावद्वैमानिकशतसहस्रैः परिवृता
विशंति स्वच्छन्दं विमलवपुषो नंदनवनम् ॥

अर्थ—हे मातः ! हे गंगे ! प्रातःकाल के समय जब राजाओं की स्त्रियां तुम्हारी धारा में स्नान करती हैं, उनके स्तन तट में जो कस्तूरी लगी रहती है वह जब तक छूट कर जल में बहती है उतने ही समयान्तर में वे मृतक कस्तूरी-मृग कि जिनकी नाभि से वह निकलती है दिव्य देह धारण करके लाखों विमानचारी देवताओं के बीच में विमान पर बैठ कर अपनी इच्छानुसार नन्दनवन में प्रवेश करते हैं ।

श्री दुर्गाजी की स्तुति ।

ऋषिरुवाच—

ऋषि बोले।

शक्रादयः सुरगणा निहतेतिवीर्ये
तस्मिन्दुरात्मनि सुरारिवले च देव्या ।
तां तुष्टुवुः प्रणतिनम्रशिरोधरांसा
वाग्भिः प्रहर्षपुलकोद्गमचारुदेहाः ॥ १ ॥

दुर्गादेवी ने जब बड़े वली और दुष्टात्मा उस महिषासुर को और उसकी सेना को मारा तब बड़े हर्ष के कारण जिनके

सुन्दर शरीर में रोमांच हो आया वे इन्द्रादिक देवगण शिर झुका कर प्रणाम करते हुए उस देवी की स्तुति करने लगे ॥१॥

देव्या यया ततमिदं जगदात्मशक्त्या
निश्शेषदेवगणशक्तिसमूहमूर्त्या ।
तामम्बिकामखिलदेवमहर्षिपूज्यां
भक्त्या नताः स्म विदधातु शुभानि सा नः ॥२॥

संपूर्ण देवगणों की शक्तियों की मूर्ति जो देवी अपनी शक्ति से इस जगत् में व्याप्त हैं सब देवता और महर्षियों की पूज्य उन श्री माताजी को हम भक्ति से प्रणाम करते हैं वह हमारा शुभ करें ॥ २ ॥

यस्याः प्रभावमतुलं भगवाननन्तो
ब्रह्मा हरश्च नहि वक्तुमलं बलं च ।
सा चंडिकाखिलजगत्परिपालनाय
नाशाय चाशुभभयस्य मतिं करोतु ॥ ३ ॥

जिनके अतुल प्रभाव और बल को कहने के लिये अनन्त भगवान्, ब्रह्मा और शिव समर्थ नहीं हैं वह चंडिका सब संसार के पालन के लिये और अशुभ भय के नाश के लिये अपनी मति को करें ॥ ३ ॥

या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेष्वलक्ष्मीः
पापात्मनां कृतधियां हृदयेषु बुद्धिः ।
श्रद्धा सतां कुलजनप्रभवस्य लज्जा,
तां त्वां नताः स्म परिपालय देवि विश्वम् ॥४॥

पुण्यात्माओं के घरों में जो स्वयं लक्ष्मी रूप से विराजमान हैं, पापियों के घरों में जो दरिद्रता रूप से विराजमान हैं, बुद्धिमानों के हृदय में जो बुद्धिरूप से विराजमान हैं, सज्जनों के मन में जो श्रद्धा और कुलीनों के मन में जो लज्जारूप से विराजमान हैं उन आपको हम प्रणाम करते हैं। हे देवि ! संसार का पालन करो ॥ ४ ॥

किं वर्णयाम तव रूपमचिन्त्यमेतत्,
किं चातिवीर्यमसुरक्षयकारि भूरि ।
किं चाहवेषु चरितानि तवाद्भुतानि,
सर्वेषु देव्यसुरदेवगणादिकेषु ॥ ५ ॥

हे देवि ! आपके इस अवर्णनीय रूप का, दैत्यों के नाश करने वाले बड़े बल का और सब देवता और दैत्यों के संग्राम में आपके अद्भुत चरित्रों को हम क्या वर्णन करें ॥ ५ ॥

हेतुः समस्तजगतां त्रिगुणापि दोषै-
र्न ज्ञायसे हरिहरादिभिरप्यपारा ।
सर्वाश्रयाखिलमिदं जगदंशभूत-
मव्याकृता हि परमा प्रकृतिस्त्वमाद्या ॥ ६ ॥

आप सब लोकों की कारण हो, त्रिगुणमयी होते हुए भी हरिहरादि देवों से भी मलिनता के कारण जानी नहीं जाती हो अतएव अपार गुणवाली हो, सब की आश्रय, अनिर्वचनीय, श्रेष्ठ और आद्या प्रकृति भी आप हो तथा यह सब संसार आपका अंश है ॥ ६ ॥

यस्याः समस्तसुरता समुदीरणेन,
तृप्तिं प्रयाति सकलेषु मखेषु देवि ।
स्वाहासि वै पितृगणस्य च तृप्तिहेतु-
रुच्चार्यसे त्वमत एव जनैः स्वधा च ॥ ७ ॥

हे देवि ! जिसके भलीभाँति कहने से सब यज्ञों में सब देवता तृप्ति को प्राप्त होते हैं वह स्वाहा आप हो और पितरों की तृप्ति का कारण भी आप हो अतएव लोग आपको स्वधा भी कहते हैं ॥ ७ ॥

या मुक्तिहेतुरविचिन्त्यमहाव्रता त्व-
मभ्यस्यसे सुनियतेन्द्रियतत्वसारैः ।
मोक्षार्थिभिर्मुनिभिरस्तसमस्तदोषै-
र्विद्यासि सा भगवती परमा हि देवी ॥ ८ ॥

जिनके महान् व्रत का चिन्तन पूर्णतया मन से भी नहीं हो सकता वह मुक्ति का कारण आप हो और जितेन्द्रिय, तत्वज्ञानी, मोक्ष चाहने वाले और सब दोषरहित मुनि लोग जिसका अभ्यास करते हैं वह श्रेष्ठ देवी भगवती ब्रह्मविषयिणी विद्या आप ही हो ॥ ८ ॥

शब्दात्मिका सुविमलर्ग्यजुषां निधान-
मुद्गीथरम्यपदपाठवतां च साम्नाम् ।
देवि त्रयी भगवती भवभावनाय
वार्तासि सर्वजगतां परमार्तिहंत्री ॥ ६ ॥

हे देवि ! संसार के पालन के लिये शब्दस्वरूप, अति

निर्मल ऋक्, यजुः, उद्गीथ और मनोहर पद और पाठवाले साम का आश्रयस्थान, भगवती, त्रयी विद्या और सब लोकों की परमपीड़ा हरने वाली वार्ता (जीवनोपाय) आप ही हो ॥ ६ ॥

मेधासि देवि विदिताखिलशास्त्रसारा
दुर्गासि दुर्गभवसागरनौरसंगा।
श्रीः कैटभारिहृदयैककृताधिवासा
गौरी त्वमेव शशिमौलिकृतप्रतिष्ठा ॥ १० ॥

आप सब शास्त्रों का तत्त्व जानने वाली मेधा (धारणा वाली बुद्धि) हो, दुःख से पार होने योग्य संसारसागर के पार होने के लिये नौकारूप और संगरहित दुर्गा आप हो, कैटभ दैत्य के शत्रु (नारायण) के हृदय रूप एकान्त में रहने वाली लक्ष्मी आप हो और चन्द्रशेखर (शिव) से प्रतिष्ठा प्राप्त पार्वती भी आप ही हो ॥ १० ॥

ईषत्सहासममलं परिपूर्णचन्द्र-
बिम्बानुकारि कनकोत्तमकान्तिकान्तम्।
अत्यद्भुतं प्रहृतमात्तरुषा तथापि
वक्त्रं विलोक्य सहसा महिषासुरेण ॥ ११ ॥

मन्द मुसकान सहित, निर्मल, पूर्ण चन्द्रमण्डल के समान उत्तम सुवर्ण की कान्ति के सदृश कान्ति वाले और अति अद्भुत आपके मुख को देखकर भी क्रोधी महिषासुर ने सहसा आपके ऊपर प्रहार किया ॥ ११ ॥

दृष्ट्वा तु देवि कुपितं भ्रुकुटीकराल-
मुद्यच्छशांकसदृशच्छवि यन्न सद्यः ।
प्राणान्मुमोच महिषस्तदतीव चित्रं
कैर्जीव्यते हि कुपितान्तकदर्शनेन ॥ १२ ॥

हे देवि ! क्रोधयुक्त, टेढ़ी भौंहें वाले और उदय होते हुए चन्द्रमा की सी छवि वाले आपके मुख को देख कर जो तत्काल महिषासुर ने प्राण न छोड़े वह बड़ा ही आश्चर्य है, क्योंकि क्रोधयुक्त काल के दर्शन से कौन जीते रहते हैं ॥ १२ ॥

देवि प्रसीद परमा भवती भवाय
सद्यो विनाशयसि कोपवती कुलानि ।
विज्ञातमेतदधुनैव यदस्तमेतन्
नीतं बलं सुविपुलं महिषासुरस्य ॥ १३ ॥

हे देवि ! उत्तम शोभावाली आप हमारे कल्याण के लिये प्रसन्न हों, क्योंकि क्रोधित होकर आप तत्काल ही कुलों का नाश करती हैं, यह हमने अभी जाना जो आपने महिषासुर के इस बहुत बड़े बल का नाश किया ॥ १३ ॥

ते संमता जनपदेषु धनानि तेषां ।
तेषां यशांसि न च सीदति बंधुवर्गः ।
धन्यास्त एव निभृतात्मजभृत्यदारा
येषां सदाभ्युदयदा भवती प्रसन्ना ॥ १४ ॥

वे देशों में पूज्य हैं, उन्हीं के धन है, उन्हीं के यश हैं, उन्हीं के भाई बन्धु दुखी नहीं होते और भलीभाँति स्त्री,

पुत्र और सेवकों के पालन करने वाले वे ही धन्य हैं जिनके ऊपर अभ्युदय (वृद्धि) देने वाली आप सदा प्रसन्न हैं ॥ १४ ॥

धर्म्याणि देवि सकलानि सदैव कर्मा-
ण्यत्यादृत: प्रतिदिनं सुकृती करोति ।
स्वर्गं प्रयाति च ततो भवतीप्रसादा-
ल्लोकत्रयेपि फलदा ननु देवि तेन ॥ १५ ॥

हे देवि ! लोगों से अति आदर पाकर पुण्यात्मा मनुष्य सदैव सब धर्मयुक्त कामों को करता है तदनन्तर आपकी दया से स्वर्ग को जाता है इससे यह निश्चित है कि तीनों लोकों में फल देने वाली आप ही हैं ॥ १५ ॥

दुर्गे स्मृता हरसि भीतिमशेषजन्तोः
स्वस्थैः स्मृता मतिमतीव शुभां ददासि ।
दारिद्र्यदुःखभयहारिणि का त्वदन्या
सर्वोपकारकरणाय सदार्द्रचित्ता ॥ १६ ॥

हे दुर्गे ! स्मरण करने पर सब प्राणियों से आये हुए भय को हरती हो और स्वस्थ पुरुषों के स्मरण करने पर उनको अत्यन्त सुन्दर बुद्धि देती हो, हे दारिद्र्य दुःख और भय को हरने वाली ! आपको छोड़ कर और कौन सदा सब का उपकार करने के लिये आर्द्र (गीला) चित्त वाली है ॥ १६ ॥

एभिर्हतैर्जगदुपैति सुखं तथैते
कुर्वन्तु नाम नरकाय चिराय पापम् ।

संग्राममृत्युमधिगम्य दिवं प्रयांतु
मत्वेति नूनमहितान्विनिहंसि देवि ॥ १७ ॥

इनके मरने से जगत् सुख पाता है तथा ये नरक जाने के लिये बहुत काल तक पाप करें और युद्ध में मृत्यु को पाकर स्वर्ग को जावें निश्चय यह जानकर ही हे देवि ! आप शत्रुओं को मारती हो ॥ १७ ॥

दृष्ट्वैव किं न भवती प्रकरोति भस्म
सर्वासुरानरिषु यत्प्रहिणोषि शस्त्रम् ।
लोकान्प्रयान्तु रिपवोपि हि शस्त्रपूता
इत्थं मतिर्भवति तेष्वहितेषु साध्वी ॥ १८ ॥

आप देख कर ही सब असुरों को क्यों नहीं भस्म करतीं? शत्रुओं के ऊपर जो आप शस्त्र चलाती हैं इसका कारण यह है कि आपके शस्त्रों से पवित्र होकर शत्रु भी श्रेष्ठ लोकों को जावें ऐसी अच्छी बुद्धि आपकी उन शत्रुओं के विषय में भी होती है ॥ १८ ॥

खड्गप्रभानिकरविस्फुरणैस्तथोग्रैः
शूलाग्रकांतिनिवहेन दृशोसुराणाम् ।
यन्नागता विलयमंशुमदिन्दुखण्ड-
योग्याननं तव विलोकयतां तदेतत् ॥ १९ ॥

तलवारों की भयंकर चमचमाहट से तथा त्रिशूलों की नोकों की चमचमाहट से जो असुरों की आंखें नहीं जाती

रहीं इसका कारण चंद्रकला के समान आप के मुख का देखना ही है ॥ १६ ॥

दुर्वृत्तवृत्तशमनं तव देवि शीलं
रूपं तथैतदविचिन्त्यमतुल्यमन्यैः ।
वीर्यं च हंतृ हृतदेवपराक्रमाणां
वैरिष्वपि प्रकटितैव दया त्वयेत्थम् ॥ २० ॥

हे देवि ! आपका स्वभाव दुराचारियों के दुराचार का नाश करने वाला है, आपका यह अनुपम रूप है कोई इसका मन से भी चिन्तन नहीं कर सकते और आप का बल देवताओं का बल हरने वाले दैत्यों का नाश करने वाला है इस तरह आपने शत्रुओं के ऊपर भी दया ही प्रकट की है ॥ २० ॥

केनोपमा भवतु तेस्य पराक्रमस्य
रूपं च शत्रुभयकार्यतिहारि कुत्र ।
चित्ते कृपा समरनिष्ठुरता च दृष्टा
त्वय्येव देवि वरदे भुवनत्रयेपि ॥ २१ ॥

आपके इस बल की उपमा किसके बल से दी जाय, आपका रूप शत्रुओं को भीत करने वाला और अति मनोहर है ऐसा रूप और किसका है, हे वर देने वाली देवि ! त्रिलोकी में आपके ही चित्त में दया और युद्ध में आपके ही मन में कठोरता हमने देखी है ॥ २१ ॥

त्रैलोक्यमेतदखिलं रिपुनाशनेन
त्रातं त्वया समरमूर्धनि तेपि हत्वा ।

नीता दिवं रिपुगणा भयमप्यपास्त-
मस्माकमुन्मदसुरारिभवं नमस्ते ॥ २२ ॥

आपने शत्रुओं का नाश कर इस त्रिलोकी की रक्षा की, युद्ध में मारकर उन शत्रुओं को भी स्वर्ग भेज दिया और उन्मत्त दैत्यों से जो हमको भय था वह भी दूर किया इससे आपको नमस्कार है ॥ २२ ॥

ॐ मनुस्मृति ॐ

[२]

पंच सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः ।
कंडनी चोदकुंभश्च वध्यते यास्तु वाहयन् ॥३-६८॥

गृहस्थों के यहां हिंसा के पांच स्थान होते हैं चूल्हा, चक्की, बुहारी, ओखली (कांडी) और जल का घड़ा इनको काम में लाने से हिंसा होती है ॥ ६८ ॥

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः ।
पंच क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनः ॥ ६९ ॥

इन दोषों को मिटाने के लिये महर्षियों ने गृहस्थ के लिये पांच महायज्ञ नित्य करने को रचा है ॥ ६९ ॥

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥७०॥

ब्रह्मयज्ञ—पढ़ाना, पितृयज्ञ—पितरों का तर्पण, देवयज्ञ—होम, भूतयज्ञ—प्राणियों को वलि देना, मनुष्य-यज्ञ—अतिथि सत्कार करना ॥ ७० ॥

पंचैतान्यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः ।
स गृहेपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते ॥ ७१ ॥

इन पांच महायज्ञों को जो गृहस्थ शक्तिभर न छोड़े वह हिंसा-दोष का भागी नहीं होता ॥ ७१ ॥

देवतातिथिभृत्यानां पितृणामात्मनश्च यः ।
न निर्वपति पंचानामुच्छ्वसन्न स जीवति ॥ ७२ ॥

जो पुरुष देवता, अतिथि, सेवक, माता, पिता आदि और आत्मा इन पांचों को अन्न नहीं देता वह जीता भी मरा सा है ॥ ७२ ॥

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यांति संस्थितिम् ॥६-६०॥

जैसे सब नदी और नद समुद्र में जाकर ठहरते हैं, वैसे सब आश्रमी गृहस्थ में आश्रय रखते हैं ॥ ६० ॥

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥६-६२॥

धैर्य, क्षमा, मन को रोकना, चोरी न करना, वाहर भीतर से शुद्ध, इन्द्रियों को वश में रखना, शास्त्रज्ञान, ब्रह्मविद्या, सत्य और क्रोध न करना ये दश धर्म के लक्षण हैं (ये ही १० धर्म हैं) ॥ ६२ ॥

दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन्समाहितः।
वेदांतं विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनृणो द्विजः॥ ९४॥

ऋण से मुक्त होकर, दश लक्षण धर्म का सेवन करता हुआ द्विज वेदान्त को सुनकर संन्यास धारण करे॥ ९४॥

राजधर्मान्प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः।
संभवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा॥७-१॥

जैसा राजा का आचरण होना चाहिये, जैसे उसकी उत्पत्ति हुई है और जिस प्रकार उसको परमसिद्धि प्राप्त होती है वह सब भलीभाँति कहूंगा॥ १॥

ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि।
सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्तव्यं परिरक्षणम्॥ २॥

उपनयन संस्कार वाले क्षत्रिय राजा को न्यायानुसार इस जगत् की रक्षा करनी चाहिये॥ २॥

अराजके हि लोकेस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः॥ ३॥

इस जगत् में जब राजा नहीं था और प्रजा भय से व्याकुल होने लगी, तब परमात्मा ने जगत् की रक्षा के लिये राजा को उत्पन्न किया॥ ३॥

इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः॥४॥

इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और

कुबेर इन आठ लोकपालों के सनातन अंश को लेकर परमात्मा ने राजा बनाया है ॥ ४ ॥

यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः ।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥ ५ ॥

इन लोकपालों के अंशों से राजा बनाया गया है, इसलिये वह अपने तेज से सब प्राणियों को दबा देता है ॥५॥

तपत्यादित्यवच्चैव चक्षूंषि च मनांसि च ।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥६॥

राजा को जो देखता है उसके नेत्र और मन पर सूर्य का सा प्रभाव पड़ता है, इसलिये सामने होकर कोई राजा को देख नहीं सकता ॥ ६ ॥

सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् ।
स कुवेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥ ७ ॥

राजा अपने प्रभाव से अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, यम, कुबेर, वरुण और इन्द्र है ॥ ७ ॥

कार्यं सोवेक्ष्य शक्तिं च देशकालौ च तत्वतः ।
कुरुते धर्मसिद्ध्यर्थं विश्वरूपं पुनः पुनः ॥ ८ ॥

राजा देश, काल, कार्य और शक्ति को ठीक २ विचार कर अपने राजधर्म की सिद्धि के लिये अनेक रूप धारण करता है ॥ ८ ॥

तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम् ।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः ॥ ६ ॥

प्रजापति ने राजा के लिये सब प्राणियों की रक्षा करने वाले, ब्रह्मतेजमय, धर्मरूप और अपने पुत्ररूप दण्ड को पहले ही से पैदा किया है ॥ ९ ॥

तं देशकालौ शक्तिं च विद्यां चावेक्ष्य तत्वतः ।
यथार्हतः संप्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्त्तिषु ॥ १० ॥

देश, काल, शक्ति और विद्या का विचार करके यथा-योग्य अपराधियों को दण्ड देवे ॥ १० ॥

यदि न प्रणयेद्राजा दंडं दंड्येष्वतंद्रितः ।
शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन्दुर्बलान्बलवत्तराः ॥ ११ ॥

यदि राजा निरालस होकर अपराधियों को दण्ड न दे तो शूल में मछलियों की भाँति बलवान् लोग निर्बलों को भून डालें ॥ ११ ॥

सर्वो दंडजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः ।
दंडस्य हि भयात्सर्वं जगद्भोगाय कल्पते ॥ १२ ॥

पवित्र मन का पुरुष दुर्लभ है । सब लोग दण्ड ही से सन्मार्ग में रहते हैं और जगत् के वैभव को भोग सकते हैं ॥ १२ ॥

तं राजा प्रणयन्सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्धते ।
कामात्मा विषमः क्षुद्रो दंडेनैव निहन्यते ॥ १३ ॥

जो राजा उस दण्ड का उचित प्रयोग करता है वह अर्थ, धर्म और काम से वृद्धि पाता है और कामी, टेढ़ा तथा क्षुद्र दण्ड से ही मारा जाता है ॥ १३ ॥

शुचिना सत्यसंधेन यथाशास्त्रानुसारिणा ।
प्रणेतुं शक्यते दंडः सुसहायेन धीमता ॥ १४ ॥

शुद्ध, सत्यप्रतिज्ञ, शास्त्रानुसार वर्ताव करने वाला, बुद्धिमान् राजा मंत्री आदि की सहायता से दंडविधान कर सकता है ॥ १४ ॥

स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याद् भृशदंडश्च शत्रुषु ।
सुहृत्स्वजिह्मः स्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः ॥१५॥

राजा को अपने राज्य में न्यायकारी और शत्रुओं को सदा दंड देनेवाला, हितैषियों से कुटिलता रहित और ब्राह्मणों पर क्षमावान् होना चाहिये ॥ १५ ॥

एवंवृत्तस्य नृपतेः शिलोंछेनापि जीवतः ।
विस्तीर्यते यशो लोके तैलबिंदुरिवांभसि ॥ १६ ॥

ऐसा वर्ताव करने वाले शिलोंछवृत्ति से (शिल) एक एक बाल (उंछ) एक एक कण का संग्रह करके अपना निर्वाह करने वाले राजा का यश लोक में, जल में तेल की बूंद के समान फैलता है ॥ १६ ॥

ब्राह्मणान्पर्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः ।
त्रैविद्यवृद्धान् विदुषस्तिष्ठेत्तेषां च शासने ॥ १७ ॥

राजा को प्रातःकाल उठकर तीनों वेदों में पारंगत, श्रेष्ठ, विद्वान् ब्राह्मणों के साथ बैठना और उनकी आज्ञानुसार आचरण करना चाहिये ॥ १७ ॥

वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान्वेदविदः शुचीन् ।
वृद्धसेवी हि सततं रक्षोभिरपि पूज्यते ॥ १८ ॥

वेदज्ञ, पवित्र, वृद्ध ब्राह्मणों की नित्य सेवा राजा करे, क्योंकि वृद्ध-सेवा में तत्पर राजा राक्षसों से भी निरन्तर पूजित होता है ॥ १८ ॥

बहवोऽविनयान्नष्टा राजानः सपरिच्छदाः ।
वनस्था अपि राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे ॥१९॥

बहुतसे राजा अविनय से धन-सम्पत्ति सहित नष्ट हो गये और बहुतसे जंगल में रह कर भी अपने विनय से राज्य पागए ॥ १९ ॥

दश कामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च ।
व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ २० ॥

काम से पैदा हुए दश और क्रोध से पैदा हुए आठ व्यसनों का अन्त अच्छा नहीं है इससे प्रयत्न से इन को छोड़ देवे ॥ २० ॥

कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः ।
वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु ॥ २१ ॥

काम से उत्पन्न व्यसनों में आसक्त राजा धन और धर्म से हीन होजाता है और क्रोध से पैदा हुए व्यसनों में लग जाने से अपने शरीर से ही नष्ट होजाता है ॥ २१ ॥

मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः ।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥ २२ ॥

शिकार, जुआ, दिन में सोना, दूसरे के दोषों को कहना, स्त्रियों में आसक्ति, मद्यपान, नाच, गाना, बाजा और व्यर्थ वारम्बार घूमना ये दश काम के व्यसन हैं अर्थात् काम से पैदा हुए हैं ॥ २२ ॥

पैशुन्यं साहसं द्रोहमीर्ष्यासूयार्थदूषणम् ।
वाग्दंडजं च पारुष्यं क्रोधजोपि गणोष्टकः ॥ २३ ॥

चुगली और दुर्जनता, विना सोचे किसी काम में अग्रसर होना, द्रोह, ईर्षा, दूसरे के गुणों में दोष लगाना, द्रव्य हर लेना, गाली देना, निर्दयता, ये आठ क्रोध से उत्पन्न व्यसन हैं ॥२३॥

पानमत्ताः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम् ।
एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे ॥ २४ ॥

काम से पैदा व्यसनों में मद्यपान, जुआ, स्त्रीसंग और शिकार, ये एक से एक बढ़कर दुःखदायी हैं ॥ २४ ॥

दंडस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूपणे ।
क्रोधजेपि गणे विद्यात्कष्टमेतत्त्रिकं सदा ॥ २५ ॥

क्रोध से पैदा व्यसनों में मारपीट, कठोर वचन, दूसरे की धनहानि करना ये तीन बड़े दुःखदायी हैं ॥ २५ ॥

व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते ।
व्यसन्यधोधो व्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः ॥२६॥

मृत्यु से व्यसन अधिक कष्टदायक कहा जाता है, व्यसनी पुरुष का अधःपतन होता जाता है और जो व्यसन से दूर है वह मृत भी स्वर्गगामी होता है ॥ २६ ॥

मौलान् शास्त्रविदः शूरान् लब्धलक्षान्कुलोद्गतान् ।
सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥२७॥

परम्परा से राजसेवक, नीतिविद्या में चतुर, शूरवीर, अच्छा निशाना लगाने वाले, कुलीन और परीक्षित, सात या आठ सचिव रखना चाहिए ॥ २७ ॥

अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।
विशेषतोऽसहायेन किन्तु राज्यं महोदयम् ॥ २८ ॥

जब कि एक छोटासा भी काम एक पुरुष को करना कठिन पड़ता है तब बड़ा भारी राजकार्य विना सहाय अकेला राजा कैसे कर सकता है ॥ २८ ॥

निर्वर्तेतास्य यावद्भिरितिकर्तव्यता नृभिः ।
तावतोऽतंद्रितान्दक्षान्प्रकुर्वीत विचक्षणान् ॥ २९ ॥

जितने मनुष्यों से पूरा काम निकले, उतने निरालस बुद्धिमान् राजकर्मचारियों की भरती करे ॥ २९ ॥

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् ।
इंगिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ॥ ३० ॥

दूत उसको करे जो बहुश्रुत हो और हृदय के भाव, आकार, चेष्टाओं को जानने वाला, अंतःकरण का शुद्ध, चतुर और कुलीन हो ॥ ३० ॥

अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान्देशकालवित् ।
वपुष्मान्वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते ॥ ३१ ॥

प्रेमी, पवित्र, दक्ष, पूर्वापर बातों का स्मरण रखनेवाला

देशकाल ज्ञाता, सुन्दर, निर्भय और उत्तम वक्ता राजा का दूत प्रशंसा के लायक होता है ॥ ३१ ॥

तदध्यास्योद्वहेद्भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ।
कुले महति संभूतां हृद्यां रूपगुणान्विताम् ॥ ३२ ॥

महल में रहकर राजा अपने वर्ण की, कुलीन, मनोहारिणी, रूपवती, गुणवती को अपनी धर्मपत्नी बनावे ॥३२॥

उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौचः समाहितः ।
हुताग्निर्ब्राह्मणांश्चार्च्य प्रविशेत्स शुभां सभाम् ॥३३॥

राजा बड़े तड़के उठकर, शौच से निपट कर, एकाग्र चित्त होकर अग्नि-होत्र और ब्राह्मणसत्कार करके राज-सभा में प्रवेश करे ॥ ३३ ॥

तत्र स्थितः प्रजाः सर्वाः प्रतिनंद्य विसर्जयेत् ।
विसृज्य च प्रजाः सर्वा मंत्रयेत्सह मंत्रिभिः ॥३४॥

वहां दर्शकों को प्रीतिपूर्वक पहले विदा करके फिर मंत्रियों के साथ राजकाज का विचार करे ॥ ३४ ॥

तत्रात्मभूतैः कालज्ञैरहार्यैः परिचारकैः ।
सुपरीक्षितमन्नाद्यमद्यान्मंत्रैर्विषापहैः ॥ ३५ ॥

वहां भक्त, भोजन काल को जानने वाला, शत्रु के बहकाने में न आने वाला, रसोइया के तैयार किए, परीक्षित और विष-निवारक मंत्रों से शुद्ध भोजन को करे ॥ ३५ ॥

विषघ्नैरगदैश्चास्य सर्वद्रव्याणि योजयेत् ।
विषघ्नानि च रत्नानि नियतो धारयेत्सदा ॥ ३६ ॥

राजा के सब खाने वाले पदार्थों में विषनाशक दवा डाले और विषनाशक रत्नों को राजा सदा धारण करे ॥ ३६ ॥

परीक्षिताः स्त्रियश्चैनं व्यजनोदकधूपनैः ।
वेषाभरणसंशुद्धाः स्पृशेयुः सुसमाहिताः ॥ ३७ ॥

परीक्षा की हुई, वेष-भूषणों से सजी धजी स्त्रियां एकाग्र मन से पंखा, जल और धूप-गंध से राजा की सेवा करें ॥ ३७ ॥

एतद्विधानमातिष्ठेदरोगः पृथिवीपतिः ।
अस्वस्थः सर्वमेतत्तु भृत्येषु विनियोजयेत् ॥ ३८ ॥

इस प्रकार से नीरोग राजा संपूर्ण राज-कार्यों का स्वयं संपादन करे । यदि शरीर में कोई क्लेश हो जाय तो अपने अधिकारियों से सब कामों को करावे ॥ ३८ ॥

वार्षिकांश्चतुरो मासान् यथेन्द्रो हि प्रवर्षति ।
तथाभिवर्षेत्स्वं राष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन् ॥ ६-१ ॥

जैसे इन्द्र वर्षा में चार मास जल वर्षा करके प्रजा का मनोरथ पूर्ण करता है वैसे राजा इन्द्र के आचरण से अपने देश की प्रजा को संतुष्ट करे, यह इन्द्र-व्रत है ॥ १ ॥

अष्टौ मासान्यथादित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः ।
तथा हरेत्करं राष्ट्रान्नित्यमर्कव्रतं हि तत् ॥ २ ॥

जैसे आठ मास सूर्य अपने तेज से पृथ्वी का जल खींच लेता है, वैसे राजा सूर्य की भाँति आचरण करके प्रजा को दुःख न देकर क्रम क्रम से राज्य-कर लेवे, यह सूर्य-व्रत है ॥ २ ॥

प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति मारुतः ।
तथा चारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद्धि मारुतम् ॥ ३ ॥

जैसे वायु प्रच्छन्न से सब प्राणियों में विचरता है, राजा भी दूतों से अपने देश का समाचार लेता रहे, यह वायु-व्रत है ॥ ३ ॥

यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति ।
तथा राज्ञा नियन्तव्याः प्रजास्तद्धि यमव्रतम् ॥४॥

जैसे यम समय पर मित्र-शत्रु सबको यथायोग्य दंड देता है, वैसे राजा प्रजा को दंड देवे, इसको यमव्रत कहते हैं ॥ ४ ॥

वरुणेन यथा पाशैर्बद्ध एवाभिदृश्यते ।
तथा पापान्निगृह्णीयाद् व्रतमेतद्धि वारुणम् ॥५॥

जैसे वरुण अपराधियों को पाशों से बांधता है, वैसे राजा वरुण होकर पापियों को दंड दे, यह वारुण-व्रत है ॥५॥

परिपूर्णं यथा चंद्रं दृष्ट्वा हृष्यंति मानवाः ।
तथा प्रकृतयो यस्मिन् स चांद्रव्रतिको नृपः ॥ ६ ॥

जैसे मनुष्य पूर्ण चन्द्रबिंब को देखकर प्रसन्न होते हैं, वैसे प्रजामंडल जिस राजा को देखकर प्रसन्न हो वह राजा चंद्रव्रत-धारी है ॥ ६ ॥

प्रतापयुक्तस्तेजस्वी नित्यं स्यात्पापकर्मसु ।
दुष्टसामंतहिंस्रश्च तदाग्नेयं व्रतं स्मृतम् ॥ ७ ॥

पापियों पर अग्नि के समान प्रताप-युक्त तेजस्वी हो और अपने अधीन दुष्ट राजाओं को मरवा दे, यह आग्नेयव्रत है ॥७॥

यथा सर्वाणि भूतानि धरा धारयते समम् ।
तथा सर्वाणि भूतानि बिभ्रतः पार्थिवं व्रतम् ॥ ८॥

जैसे पृथ्वी सब प्राणियों को सम-भाव से धारण करती है, वैसे राजा भी सम-भाव से प्राणियों का पालन करे, यह पृथ्वी-व्रत है ॥८॥

---

* श्रीमद्भगवद्गीता *

[३]

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥२-१॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥२॥

विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष का विषयों पर प्रेम होता है, प्रेम होने से काम (इच्छा) उत्पन्न होता है, काम पूर्ण होने में किसी तरह की रुकावट होने से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से विचारशक्ति का नाश होता है, विचारशक्ति के नाश होने से स्मरणशक्ति का नाश होता है, स्मरणशक्ति के नाश होने से बुद्धि का नाश होता है और बुद्धि के नाश होने से एकदम नष्ट हो जाता है ॥ १–२ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१६-१॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

श्री भगवान् बोले कि हे अर्जुन ! ईश्वरीय संपत्ति भोग करने के लिये जन्म लेने वाले के निर्भय अन्तःकरण की अत्यन्त शुद्धि, ज्ञान योग में विशेष स्थिति, दान, बाहरी इन्द्रियों को वश करना, यज्ञ, वेद आदि का पढ़ना सुनना, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, उदारता, शान्ति, चुगली न करना, दया, लालची न होना, कोमलता, लज्जा, स्थिरता, तेज, क्षमा, धीरता, पवित्रता, निर्वैर और अभिमान रहित होना ये गुण होते हैं, ये ही दैवी-संपत्ति हैं ॥ १–३ ॥

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ ४ ॥

हे अर्जुन ! आसुरी सम्पत्ति को पाकर जन्मे मनुष्य के पाखंड, घमंड, मान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान ये गुण होते हैं ॥ ४ ॥

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

हे पाण्डुपुत्र! दैवी सम्पत्ति मोक्ष के लिये और [illegible]

बन्धन के लिये है, तू शोक न कर, क्योंकि दैवी सम्पत्ति भोगने के लिये तू जन्मा है ॥ ५ ॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

इस लोक में दैव और आसुर इन दो प्रकार के प्राणियों की सृष्टि है, जिस में दैव का विस्तार से वर्णन पूर्व ही कर चुका हूं, हे पार्थ! अब मुझ से आसुर सुन ॥ ६ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

आसुर लोग प्रवृत्ति और निवृत्ति (वैदिक कर्तव्याकर्तव्य) नहीं जानते, उनमें पवित्रता, आचार और सत्य भी नहीं रहता ॥ ७ ॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

जो पुरुष आसुरी सम्पत्ति से उत्पन्न हुए हैं वे जगत् को असत्य (वेदादि प्रमाणशून्य), अप्रतिष्ठ (निराश्रय) और अनीश्वर (ईश्वर शून्य) कहते हैं, काम प्रेरित स्त्री पुरुषों के संयोग से जगत् उत्पन्न हुआ है इससे भिन्न कुछ नहीं है ॥ ८ ॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

इस दृष्टि का अवलम्बन कर नीचस्वभाव, मंदबुद्धि,

उग्रकर्म करने वाले और जगत् के शत्रु जगत् के नाश के लिये पैदा होते हैं ॥ ९ ॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥

दुःख से भी पूर्ण न होनेवाली कामना का अवलम्बन कर पाखण्ड, अभिमान और मद से युक्त और अपवित्र व्रत करनेवाले वे मोह से असद्-विचारों को ग्रहण कर सब कामों में प्रवृत्त होते हैं ॥ १० ॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥

मृत्युतक अपरिमित चिन्तायुक्त रहते हैं और काम भोग ही सर्वश्रेष्ठ है ऐसा निश्चय रखते हैं ॥ ११ ॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥ १२ ॥

सैकड़ों आशारूप पाशों से बँधे तथा काम और क्रोध युक्त वे काम-भोग के लिये अनीति से धन संचय करना चाहते हैं ॥ १२ ॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥

आज मैंने यह पाया, इस मनोरथ को पाऊंगा, यह है और फिर यह धन भी मेरा हो जायगा ॥ १३ ॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १४ ॥

मैंने इस शत्रु को मारा और दूसरों को भी मारूंगा, मैं समर्थ हूं, मैं भोगी हूं, मैं सिद्ध हूं तथा मैं बली और सुखी हूं ॥ १४ ॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

धनी हूं, कुलीन हूं, मेरे सदृश अन्य कौन है, यज्ञ करूंगा, दान दूंगा और मौज करूंगा इस प्रकार अज्ञान से अत्यन्त मोहित होते हैं ॥ १५ ॥

अनेकचितविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥

नाना प्रकार के मन के विकारों से विशेष भ्रान्त, अज्ञान रूप जाल से घिरे हुए और विषयभोगों में अत्यन्त आसक्त वे अशुद्ध नरक में गिरते हैं ॥ १६ ॥

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नाम यज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

स्वयं बड़े बननेवाले, नम्रताशून्य और धन से उत्पन्न मान मद से युक्त वे दिखाने के लिये विधानशून्य यज्ञ करते हैं ॥ १७ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

अहंकार, बल, गर्व, काम और क्रोध संयुक्त और गुण में दोष लगाने वाले वे अपने और दूसरे के शरीर में स्थित मुझ से द्वेष करते हैं ॥ १८ ॥

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

द्वेषी, क्रूर और बुरे उन मनुष्याधमों को मैं सदा लोकों में आसुरी योनियों में ही ढकेलता हूं ॥ १९ ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

हे कुन्तीपुत्र ! जन्म जन्म में आसुरी योनि को प्राप्त हो वे मूढ़ मुझे न पाय अधम गति को ही पाते हैं ॥ २० ॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

अपना नाश करने वाले काम, क्रोध और लोभ ये तीन नरक के द्वार हैं, इससे इन तीनों को छोड़ देवे ॥ २१ ॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

हे कुन्तीपुत्र ! इन तीन नरक द्वारों से शून्य मनुष्य अपना कल्याण करता है, तदनन्तर परमपद को पाता है ॥ २२ ॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

जो शास्त्रोक्त विधि को छोड़ मनमाना काम करता है, वह न तो सिद्धि, न सुख और न परमपद ही पाता है ॥ २३॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

इससे करने योग्य और न करने योग्य कार्यों की व्यवस्था के विषय में तुझे शास्त्र प्रमाण हैं, शास्त्रों में जिन कर्मों के करने का विधान है उनको जान कर तुझे यहां कर्म करना योग्य है ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभाग-योगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गान्धारनीलोत्पला ।
शल्यग्राहवती कृपेण वहनी कर्णेन वेलाकुला ॥
अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा दुर्योधनावर्त्तिनी ।
सोत्तीर्णा खलु पाण्डवै रणनदी कैवर्त्तकः केशवः ॥

भीष्म और द्रोण रूप किनारों वाली, जयद्रथ रूप जल वाली, गान्धाररूप नील कमल वाली, शल्य रूप घड़ियाल वाली, कृप रूप प्रवाह वाली, कर्णरूप लहरों से व्याकुल तटवाली, अश्वत्थामा और विकर्ण रूप भयंकर मगरों वाली और दुर्योधन रूप भँवर वाली उस युद्धरूपी नदी को कृष्ण रूप केवट के सहारे से पाण्डव उतर गये ।

यं ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ॥
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥

ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र, रुद्र और मरुत् दिव्य स्तुतियों द्वारा जिनकी स्तुति करते हैं, सामवेद गाने वाले अंग, पद, क्रम और उपनिषदों के साथ वेद द्वारा जिनका गान करते हैं, ध्यानावस्था में उन्हीं में लगे हुए मन से योगी जिनको देखते हैं और देवता तथा असुरगण जिनका अन्त नहीं जानते, उस देव के लिये नमस्कार है।

* भर्तृहरिशतक *

[४]

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रंजयति ॥१॥

अनजान को समझाना सहज है और समझदार को समझाना बिलकुल सहज है, परन्तु थोड़ासा जाननेवाला जो मनुष्य है उस मनुष्य को ब्रह्मा भी नहीं राजी कर सकता है ॥ १ ॥

यदा किंचिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।

यदा किंचित्किंचिद् बुधजनसकाशादवगतं
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः ॥२॥

जब मैं अत्यल्प जानता था तब हाथी सा मदांध था और मैं सर्वज्ञ हूं ऐसा मेरे मन में घमण्ड था जब कुछ कुछ पंडितों के पास जाने से जाना तो मैं मूर्ख हूं यह ज्ञान हुआ और ज्वर काल में जैसे हाथी का मद नष्ट हो जाता है वैसे ही मेरा गर्व जाता रहा ॥ २ ॥

शिरः शार्वं स्वर्गात्पतति शिरसस्तत्क्षितिधरं
महीध्रादुत्तुंगादवनिमवनेश्चापि जलधिम् ।
अधोऽधो गंगेयं पदमुपगता स्तोकमथवा
विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः ॥ ३ ॥

यह गंगा स्वर्ग से शिव के शिर पर, शिर से पर्वत पर, ऊँचे पर्वत से पृथ्वी पर और पृथ्वी से भी समुद्र में गिरती है इस तरह ज्यों ज्यों नीचे स्थान को प्राप्त हुई त्यों त्यों छोटी होती गई अथवा इसी प्रकार ज्ञान-भ्रष्ट लोग सैकड़ों बार नीचा देखते हैं ॥ ३ ॥

वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सह ।
न मूर्खजनसंपर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि ॥ ४ ॥

पर्वत की दुर्गम चोटियों पर वनचरों के साथ घूमना श्रेष्ठ है; परन्तु इन्द्र के महलों में भी मूर्खों का समागम होना श्रेष्ठ नहीं है ॥ ४ ॥

केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं हारा न चंद्रोज्ज्वला
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालंकृता मूर्धजाः ।
वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम् ॥५॥

पुरुष को भुजबन्द, चन्द्रमा के सदृश उज्ज्वल हार, स्नान, चन्दन आदि, फूल और भूषित बाल भी नहीं विभूषित करते किन्तु वह एक वाणी ही पुरुष को सुशोभित करती है जो योग्य शब्दों से बोली जाय, निश्चय ही भूषण नष्ट हो जाते हैं इससे सदा रहनेवाला भूषण वाणी-भूषण ही है ॥ ५ ॥

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं
विद्या भोगकरी यशः सुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः ।
विद्या बंधुजनो विदेशगमने विद्या परं दैवतं
विद्या राजसुपूजिता न हि धनं विद्याविहीनः पशुः॥६॥

विद्या मनुष्य की विशेष सुन्दरता है, छिपा हुआ गुप्त धन है, विद्या भोग का हेतु है, यश और सुख का हेतु है, विद्या गुरुओं की गुरु है, विदेश जाने में विद्या भाई बन्धु है, विद्या सर्वोपरि देवता है और विद्या राजाओं से पूजित है, धन नहीं, अधिक क्या कहें, विद्या से बिल्कुल हीन पशु है ॥ ६ ॥

क्षान्तिश्चेत्कवचेन किं
किमरिभिः क्रोधोस्ति चेद्देहिनां ।

ज्ञातिश्चेदनलेन किं यदि
सुहृद्दिव्यौषधैः किं फलम् ।
किं सर्पैर्यदि दुर्जनाः किमु
धनैर्विद्यानवद्या यदि ।
व्रीडा चेत्किमु भूषणैः सुकविता
यद्यस्ति राज्येन किम् ॥ ७ ॥

देह धारण करने वालों के यदि क्षमा है तो बख्तर से रक्षा करने का यत्न व्यर्थ है, यदि क्रोध है तो शत्रु से क्या अधिक कष्ट पहुंच सकता है, यदि बन्धुवर्ग है तो अग्नि अधिक क्या दाहक हो सकता है, यदि मित्र है तो दिव्य ओषधि कौनसा अधिक आरोग्य दे सकती है, यदि दुर्जन हैं तो इनसे अधिक सर्प क्या हमारा नाश करेगा, यदि निर्दोष विद्या है तो धन अधिक उपयोग क्या कर सकता है, यदि लज्जा है तो भूषण क्या अधिक अलंकृत कर सकते हैं और यदि सुकविता है तो राज्याधिकार का सौख्य अधिक कौनसा है ॥ ७ ॥

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः ।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥ ८ ॥

विपत्ति में धैर्य, अभ्युदय में क्षमा, सभा में वाणी की चतुरता, युद्ध में बल, यश में प्रीति और शास्त्र सुनने में व्यसन, ये महात्माओं के स्वभावसिद्ध हैं ॥ ८ ॥

श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुंडलेन
दानेन पाणिर्न तु कंकणेन ।
विभाति कायः करुणापराणां
परोपकारैर्न तु चंदनेन ॥ ९ ॥

दयावानों का कान शास्त्र सुनने से ही, कुंडल से नहीं, हाथ दान से, कंकण से नहीं और शरीर परोपकारों से, चंदन से नहीं, विशेष प्रकाशित होता है ॥ ९ ॥

किं तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा
यत्राश्रिताश्च तरवस्तरवस्त एव ।
मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण
कंकोलनिंबकुटजान्यपि चंदनानि ॥ १० ॥

उस सुवर्ण के पर्वत और चांदी के पर्वत से भी क्या कि जिनके आश्रित वे वृक्ष वृक्ष ही हैं, हम तो मलय को ही मानते हैं कि जिसके आश्रय से कंकोल, नीम और कुरैया भी चंदन हो जाते हैं ॥ १० ॥

निंदन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥ ११ ॥

नीतिज्ञ निन्दा या स्तुति करें, लक्ष्मी आवे या जहां जाना चाहे जावे और आज ही या दूसरे युग में मरण हो, पर पंडित न्याययुक्त मार्ग से पैर नहीं हटाते हैं ॥ ११ ॥

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः।
नास्त्युद्यमसमो बंधुः कुर्वाणो नावसीदति ॥ १२ ॥

मनुष्यों का बड़ा वैरी शरीर ही में रहने वाला आलस्य है, उद्यम समान भाई नहीं है जिसका करने वाला दुखी नहीं होता ॥ १२ ॥

कान्ताकटाक्षविशिखा न लुनन्ति यस्य
चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः।
कर्षन्ति भूरिविषयाश्च न लोभपाशै-
र्लोकत्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः ॥ १३ ॥

स्त्रियों के नेत्रबाण जिसके चित्त को नहीं बींधते, क्रोध-रूपी आग जिसको नहीं जलाती और अनेक विषय लोभरूपी फांसी से जिसको नहीं खींचते वह धीरपुरुष इस सारी त्रिलोकी को जीत लेता है ॥ १३ ॥

शंभुस्वयंभुहरयो हरिणेक्षणानां
येनाक्रियन्त सततं गृहकर्मदासाः।
वाचामगोचरचरित्रविचित्रिताय
तस्मै नमो भगवते कुसुमायुधाय ॥ १४ ॥

जिसने ब्रह्मा, विष्णु और शिव को मृगनयनी स्त्रियों का निरन्तर घर का काम करने के लिये नौकर किया है, वर्णनातीत विचित्र चरित्र वाले उस भगवान् पुष्पधन्वा कामदेव को नमस्कार है ॥ १४ ॥

* वाल्मीकीय-रामायण *

[५]

रामः सीतामनुप्राप्य राज्यं पुनरवाप्तवान् ॥ १ ॥
प्रहृष्टमुदितो लोकस्तुष्टः पुष्टः सुधार्मिकः ।
निरामयो ह्यरोगश्च दुर्भिक्षभयवर्जितः ॥ २ ॥
न पुत्रमरणं केचिद् द्रक्ष्यंति पुरुषाः क्वचित् ।
नार्यश्चाविधवा नित्यं भविष्यंति पतिव्रताः ॥ ३ ॥
न चाग्निजं भयं किंचिन्नाप्सु मज्जन्ति जंतवः ।
न वातजं भयं किंचिन्नापि ज्वरकृतं तथा ॥ ४ ॥
न चापि क्षुद्भयं तत्र न तस्करभयं तथा ।
नगराणि च राष्ट्राणि धनधान्ययुतानि च ॥ ५ ॥
नित्यं प्रमुदिताः सर्वे यथा कृतयुगे तथा ॥ ६ ॥

रामचन्द ने सीता को प्राप्त कर फिर राज्य को प्राप्त किया। महाराज रामचन्द के राज्य में प्रजा आनंदित, संतुष्ट, पुष्ट, बड़ी धार्मिक, आधिव्याधि रहित और दुर्भिक्ष के भय से वर्जित हुई उनके राज्य में कोई पुरुष पुत्र का मरण न देखेगा, स्त्रियां वैधव्यरहित और पतिव्रता होंगी। न अग्नि से ही कुछ भय होगा, न पानी में ही प्राणी डूबेंगे, न वायु का ही कुछ भय होगा, न ज्वर से ही, न भूख का ही भय होगा और न रामराज्य में चोरों का ही भय होगा, नगर और देश धन-धान्य से भरे-पूरे होंगे और लोग ऐसे आनंदित रहेंगे जैसे सतयुग में रहते थे ॥ १–६ ॥

जटिलं चीरवसनं प्रांजलिं पतितं भुवि ।
ददर्श रामो दुर्दर्शं युगान्ते भास्करं यथा ॥ १ ॥

राम ने प्रलयकाल में दुःख से देखने योग्य सूर्य की भाँति पृथ्वी में पड़े हुए जटाधारी वल्कल पहिरे और हाथ जोड़े हुए भरतजी को देखा ॥ १ ॥

कथंचिदभिविज्ञाय विवर्णवदनं कृशम् ।
भ्रातरं भरतं रामः परिजग्राह पाणिना ॥ २ ॥

विपरीत वर्ण (पीले) और दुवले शरीर वाले भाई भरत को वहुत ख़याल करके पहचान कर राम ने हाथ से पकड़ लिया ॥ २ ॥

आघ्राय रामस्तं मूर्ध्नि परिष्वज्य च राघवम् ।
अंके भरतमारोप्य पर्यपृच्छत सादरम् ॥ ३ ॥

राम ने उनका शिर सूंघ कर और भेंट कर तथा गोद में वैठा कर सादर पूछा ॥ ३ ॥

क्व नु तेऽभूत्पिता तात यदरण्यं त्वमागतः ।
नहि त्वं जीवतस्तस्य वनमागन्तुमर्हसि ॥ ४ ॥

हे भाई ! तुम्हारे पिताजी कहां हैं ? जो तुम वन को आये, उनके जीते रहते तुमको वन न आना चाहिए ॥ ४ ॥

चिरस्य वत पश्यामि दूराद्भरतमागतम् ।
दुष्प्रतीकमरण्येऽस्मिन् किं तात वनमागतः ॥ ५ ॥

दूर से इस घोर वन में आये हुए भरत को वहुत दिनों

याद देखता हूं इससे हर्ष है, पर हे भाई ! तुम वन में क्यों आये ? ॥ ५ ॥

कच्चिन्नु ध्रियते तात राजा यत्त्वमिहागतः ।
कच्चिन्न दीनः सहसा राजा लोकान्तरं गतः ॥ ६ ॥

हे भाई ! राजा जीते हैं या दुखी-राजा सहसा स्वर्ग-वासी तो नहीं हुए हैं जो तुम यहां आये ? ॥ ६ ॥

कच्चित्सौम्य न ते राज्यं भ्रष्टं बालस्य शाश्वतम् ।
कच्चिच्छुश्रूषसे तात पितुः सत्यपराक्रम ॥ ७ ॥

हे सौम्य ! बालक होने के कारण से चिरकाल का तुम्हारा राज्य भ्रष्ट तो नहीं हुआ, हे सत्यपराक्रम भाई ! क्या पिताजी की बात मानने की इच्छा करते हो ॥ ७ ॥

कच्चिद्दशरथो राजा कुशली सत्यसंगरः ।
राजसूयाश्वमेधानामाहर्ता धर्मनिश्चितः ॥ ८ ॥

क्या सत्यप्रतिज्ञ, धर्मात्मा और राजसूय तथा अश्वमेध यज्ञों के करने वाले राजा दशरथजी कुशल हैं ? ॥ ८ ॥

स कच्चिद्ब्राह्मणो विद्वान् धर्मनित्यो महाद्युतिः ।
इक्ष्वाकूणामुपाध्यायो यथावत्तात पूज्यते ॥ ९ ॥

हे भाई ! इक्ष्वाकुवंशियों के पुरोहित, नित्य, धर्मनिष्ठ, महातेजस्वी और विद्वान् ब्राह्मण उन वसिष्ठजी का यथावत् सत्कार करते हो न ? ॥ ९ ॥

तात कच्चिच्च कौशल्या सुमित्रा च प्रजावती ।
सुखिनी कच्चिदार्या च देवी नन्दति कैकयी ॥१०॥

हे भाई ! श्रेष्ठ कौशल्या, पुत्रवती सुमित्रा और देवी कैकयी सुखपूर्वक आनन्द में हैं ? ॥ १० ॥

कच्चिद्विनयसम्पन्नः कुलपुत्रो बहुश्रुतः ।
अनसूयुरनुद्रष्टा सत्कृतस्ते पुरोहितः ॥ ११ ॥

क्या विनययुक्त, सुशिक्षित, गुणों में दोष न लगाने वाले और शास्त्र देखने वाले कुल-पुरोहित के पुत्र का तुम आदर करते हो ? ॥ ११ ॥

कच्चिदग्निषु ते युक्तो विधिज्ञो मतिमानृजुः ।
हुतं च होष्यमाणं च काले वेदयते सदा ॥ १२ ॥

क्या अग्निहोत्र में नियुक्त, विधि का जानने वाला, बुद्धिमान् और सरल ब्राह्मण हुए और होने वाले हवन को तुम से काल (समय) पर कहता है ? ॥ १२ ॥

कच्चिद्देवान्पितॄन्भृत्यान्गुरून्पितृसमानपि ।
वृद्धांश्च तात वैद्यांश्च ब्राह्मणांश्चाभिमन्यसे ॥१३॥

हे भाई ! देव, पितर, सेवक, पिता के समान गुरुजन, वृद्ध, वैद्य और ब्राह्मणों को तो मानते हो न ? ॥ १३ ॥

इष्वस्त्रवरसंपन्नमर्थशास्त्रविशारदम् ।
सुधन्वानमुपाध्यायं कच्चित्त्वं तात मन्यसे ॥ १४॥

हे भाई ! श्रेष्ठ अस्त्र-शस्त्रयुक्त, अर्थ-शास्त्र-निपुण और धनुर्वेद के आचार्य सुधन्वा ब्राह्मण को तो तुम मानते हो ? ॥१४॥

कच्चिदात्मसमाः शूराः श्रुतवन्तो जितेन्द्रियाः ।
कुलीनाश्चेङ्गितज्ञाश्च कृतास्ते तात मंत्रिणः ॥१५॥

हे भाई! क्या तुमने अपने समान वीर, पढ़े, जितेन्द्रिय, कुलीन और इशारा जानने वाले मंत्री किये हैं? ॥ १५ ॥

मंत्रो विजयमूलं हि राज्ञां भवति राघव ।
सुसंवृतो मंत्रिधुरैरमात्यैः शास्त्रकोविदैः ॥ १६ ॥

हे राघव! शास्त्र के जानने वाले और मंत्र जानने वालों में श्रेष्ठ मंत्रियों से अतिगुप्त मंत्र ही राजाओं के विजय का मूल है ॥ १६ ॥

कच्चिन्निद्रावशं नैषि कच्चित्कालेवबुध्यसे ।
कच्चिच्चापररात्रेषु चिन्तयस्यर्थनैपुणम् ॥ १७ ॥

निद्रा के वश तो नहीं होते, समय पर जगते तो हो न? और दो घंटा रात्रि रहे स्वार्थ-सिद्धि का उपाय विचारते तो हो? ॥ १७ ॥

कच्चिन्मंत्रयसे नैकः कच्चिन्न बहुभिः सह ।
कच्चित्ते मंत्रितो मंत्रो न राष्ट्रं परिधावति ॥ १८ ॥

तुम अकेले वा बहुतों के साथ तो सलाह नहीं करते और तुम्हारी स्थिर की सलाह राज्य में फैल तो नहीं जाती? ॥ १८ ॥

कच्चिदर्थं विनिश्चित्य लघुमूलं महोदयम् ।
क्षिप्रमारभसे कर्म न दीर्घयसि राघव ॥ १९ ॥

हे राघव! थोड़े श्रम से बहुत लाभदायक कार्य का निश्चय कर शीघ्र आरंभ करते हो? उस काम के करने में अधिक काल तो नहीं लगाते? ॥ १९ ॥

कच्चिन्नु सुकृतान्येव कृतरूपाणि वा पुनः।
विदुस्ते सर्वकार्याणि न कर्तव्यानि पार्थिवाः ॥२०॥

तुम्हारे सब कामों के पूर्णतया सिद्ध होने पर ही अन्य राजा जानते हैं, तुम्हारे कर्त्तव्यों को तो नहीं जानते ? ॥ २० ॥

कच्चिन्न तर्कैर्युक्त्या वा ये चाप्यपरिकीर्तिताः।
त्वया वा तव वामात्यैर्बुध्यते तात मंत्रितम् ॥ २१ ॥

हे भाई ! आपके शत्रु तर्क या युक्ति से मंत्रियों के साथ की हुई आपकी सलाह को जान तो नहीं लेते ? ॥ २१ ॥

कच्चित्सहस्रैर्मूर्खाणामेकमिच्छसि पंडितम्।
पंडितो ह्यर्थकृच्छ्रेषु कुर्यान्निःश्रेयसं महत् ॥ २२ ॥

क्या सहस्र मूर्खों को छोड़ कर एक पंडित की रक्षा करना चाहते हो, क्योंकि कठिन समस्या आ पड़ने पर पंडित बड़ा कल्याण करता हैं ॥ २२ ॥

सहस्राण्यपि मूर्खाणां यद्युपास्ते महीपतिः।
अथवाप्ययुतान्येव नास्ति तेषु सहायता ॥ २३ ॥

यदि राजा सहस्र या दश सहस्र मूर्खों की भी उपासना करे तो भी उनसे सहायता नहीं मिल सकती ॥ २३ ॥

एकोप्यमात्यो मेधावी शूरो दक्षो विचक्षणः।
राजानं राजपुत्रं वा प्रापयेन्महतीं श्रियम् ॥ २४ ॥

बुद्धिमान्, वीर, निपुण और पंडित एक भी मंत्री राजा या राजपुत्र को बड़ी लक्ष्मी प्राप्त करावेगा ॥ २४ ॥

कच्चिन्मुख्या महत्स्वेव मध्यमेषु च मध्यमाः ।
जघन्याश्च जघन्येषु भृत्यास्ते तात योजिताः ॥२५॥

हे भाई ! क्या बड़े कामों में ही बड़े, मध्यमों में मध्यम और छोटे छोटे कामों में साधारण नौकरों को तुमने नियुक्त कर रक्खा है ? ॥ २५ ॥

अमात्यानुपधातीतान्पितृपैतामहाञ् शुचीन् ।
श्रेष्ठान् श्रेष्ठेषु कच्चित्त्वं नियोजयसि कर्मसु ॥ २६ ॥

घूस न लेने वाले, बाप दादा के समय से रहने वाले, पवित्र और श्रेष्ठ मंत्रियों को श्रेष्ठ कामों में तुम नियुक्त करते हो क्या ? ॥ २६ ॥

कच्चिन्नोग्रेण दण्डेन भृशमुद्वेजिताः प्रजाः ।
राष्ट्रे तवावजानन्ति मंत्रिणः कैकयीसुत ॥ २७ ॥

हे केकयी-नन्दन ! तुम्हारे राज्य में कठोर दंड से बार-बार पीड़ित प्रजा और मंत्री तुम्हारा अपमान तो नहीं करते ? ॥ २७ ॥

कच्चित्त्वां नावजानन्ति याजकाः पतितं यथा ।
उग्रप्रतिग्रहीतारं कामयानमिव स्त्रियः ॥ २८ ॥

पतित पुरुष यदि यज्ञ करना चाहे तो यज्ञ करानेवाले जैसे उसका अपमान करते हैं तथा बलात्कार से पकड़ने वाले कामी पुरुष का स्त्रियां जैसे अपमान करती हैं वैसे ही पुरोहित तुम्हारा अनादर तो नहीं करते ? ॥ २८ ॥

उपायकुशलं वैद्यं भृत्यसंदूषणे रतम् ।
शूरमैश्वर्यकामं च यो न हन्ति स वध्यते ॥ २९ ॥

साम, दान आदि उपाय करने में निपुण, कुटिल नीति जानने वाले, अन्तरंग नौकरों के बिगाड़ने में तत्पर, वीर और ऐश्वर्य चाहनेवाले पुरुष को जो नहीं मारता वह मारा जाता है, ऐसा पुरुष तो तुम्हारे पास नहीं है ? ॥ २९ ॥

कच्चिद्धृष्टश्च शूरश्च मतिमान् धृतिमान् शुचिः ।
कुलीनश्चानुरक्तश्च दक्षः सेनापतिः कृतः ॥ ३० ॥

क्या निर्भय, वीर, बुद्धिमान्, धीरज धरने वाला, पवित्र, कुलीन, भक्तिमान् और कुशल सेनापति तुमने किया है ? ॥ ३० ॥

बलवन्तश्च कच्चित्ते मुख्या युद्धविशारदाः ।
दृष्टापदाना विक्रान्तास्त्वया सत्कृत्य मानिताः ॥३१॥

युद्ध करने में समर्थ, मुख्य, बलवान् और जिनकी कई वार पूर्णरीति से वीरता आदि देखी गई है ऐसे वीरों का सत्कार करके तुमने मान किया है ? ॥ ३१ ॥

कच्चिद्बलस्य भक्तं च वेतनं च यथोचितम् ।
संप्राप्तकालं दातव्यं ददासि न विलंबसे ॥ ३२ ॥

सेना को यथा उचित समय पर जो भोजन और वेतन देना चाहिये वह देते हो, विलंब तो नहीं करते ? ॥ ३२ ॥

कालातिक्रमणाच्चैव भक्तवेतनयोर्भृताः ।
भर्तुः कुप्यन्ति दुष्यन्ति सोनर्थः सुमहान्स्मृतः ॥३३॥

भोजन और वेतन समय पर न पाने से सेवक स्वामी पर क्रोध करते हैं और बिगड़ते हैं इससे वह बड़ा ही अनर्थ है ॥ ३३ ॥

कच्चित्सर्वेऽनुरक्तास्त्वां कुलपुत्राः प्रधानतः ।
कच्चित्प्राणांस्तवार्थेषु संत्यजन्ति समाहिताः ॥३४॥

मुख्य करके बंधुवर्ग क्या तुम्हारे ऊपर प्रेम रखते हैं ? सब सावधान होकर तुम्हारे लिये प्राणों को भलीभाँति त्यागते हैं ? ॥ ३४ ॥

कच्चिज्जानपदो विद्वान् दक्षिणः प्रतिभानवान् ।
यथोक्तवादी दूतस्ते कृतो भरत पंडितः ॥ ३५ ॥

हे भरत ! क्या तुमने देशी, विद्वान्, कुशल, प्रतिभाशाली, पंडित और यथोक्त कहने वाला दूत किया है ? ॥३५॥

कच्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दश पञ्च च ।
त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारणैः ॥३६॥

क्या अन्य राजाओं के अठारह * और अपने यहां के

---

* १८ सीगे ये हैं—१ मंत्री=मुसाहब, प्राइम मिनिस्टर । २ पुरोहित=राजपुरोहित, सेक्रेटरी । ३ युवराज=राजकुमार । ४ सेनापति=फौजबख्शी । ५ दौवारिक=दरोगा ड्योढ़ी । ६ अन्तःपुराधिकृत=दरोगा जनानी ड्यौढ़ी । ७ बन्धनागाराधिकृत=दरोगा जेल । ८ धनाध्यक्ष=हाकिम खज़ाना । ९ राजाज्ञानुवक्ता = नाजिर । १० प्राड्विवाक = जज अदालत । ११ धर्माध्यक्ष = हाकिम महकमा पुण्य । १२ व्यावहारिक सभ्य = महकमों के

पन्द्रह महकमों (सीग़ों) की कार्रवाई तीन तीन खुफिया ख़बर लाने वालों से जानते हो ? ॥ ३६ ॥

कच्चिद् व्यपास्तानहितान्प्रतियातांश्च सर्वदा।
दुर्बलाननवज्ञाय वर्तसे रिपुसूदन ॥ ३७ ॥

हे शत्रुओं के नाश करने वाले ! क्या पहले के निकाले शत्रुओं के आने पर उनको दुर्बल जान कर उनकी उपेक्षा तो तुम सदा नहीं करते ? ॥ ३७ ॥

कच्चिन्न लोकायतिकान् ब्राह्मणांस्तात सेवसे।
अनर्थकुशला ह्येते बालाः पण्डितमानिनः ॥ ३८ ॥

हे भाई ! चार्वाक ब्राह्मणों की सेवा तो तुम नहीं करते? अपने को पंडित मानने वाले ये मूर्ख परलोक सुधारने वाले कार्यों को छुड़ा देने में बड़े चतुर होते हैं ॥ ३८ ॥

मेम्बर । १३ सेनाजीविभृतिदानाध्यक्ष = फौज की तनख्वाह बांटने वाला । १४ कर्मान्तवैतनिक = मज़दूरों की मज़दूरी चुकाने वाला । १५ नगराध्यक्ष = कोतवाली का हाकिम । १६ राष्ट्रान्तपाल = गिराई का हाकिम । आटविक = जंगलात का हाकिम । १७ दुष्टदण्डाधिकारी = पुलिस-अफ़सर । १८ जलगिरिवनस्थलदुर्गपाल = आवपाशी, फिरवाल शिकारी = क़िलेदार वग़ैरह ।

इन्हीं १८ में से प्रथम के तीनों को छोड़कर १५ की जांच अपने पक्ष में करनी चाहिये, वे तीन प्रतिक्षण पास ही रहने वाले हैं, इससे उनको छोड़ दिया है ।

धर्मशास्त्रेषु मुख्येषु विद्यमानेषु दुर्बुधाः ।
बुद्धिमान्वीक्षकीं प्राप्य निरर्थं प्रवदन्ति ते ॥ ३९ ॥

वे दुष्ट पंडित मुख्य धर्मशास्त्रों के रहते हुए भी कोरी तर्कविद्या द्वारा उत्पन्न बुद्धि के सहारे निरर्थक वार्ता करते हैं ॥ ३९ ॥

वीरैरध्युषितां पूर्वमस्माकं तात पूर्वकैः ।
सत्यनामां दृढद्वारां हस्त्यश्वरथसंकुलाम् ॥४०॥
ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः स्वकर्मनिरतैः सदा ।
जितेन्द्रियैर्महोत्साहैर्वृतामार्यैः सहस्रशः ॥ ४१ ॥
प्रासादैर्विविधाकारैर्वृतां वैद्यजनाकुलाम् ।
कच्चित्समुदितां स्फीतामयोध्यां परिरक्षसे ॥ ४२ ॥

हे भाई ! हमारे पूर्व वीरों की प्रथम भोगी, सत्य नाम वाली, मज़बूत फाटक वाली, हाथी, घोड़े और रथों से भरी, सदा अपने कर्म में लगे हुए, जितेन्द्रिय और बड़े उत्साही हज़ारों आर्य ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों से युक्त, अनेक आकार के देवमन्दिरों और राजमहलों से युक्त, वैद्यजनों से व्याप्त, सिद्ध और समृद्ध अयोध्या की तुम रक्षा करते हो ?॥ ४० । ४१ । ४२ ॥

कच्चिच्चैत्यशतैर्जुष्टः सुनिविष्टजनाकुलाः ।
देवस्थानैः प्रपाभिश्च तटाकैश्चोपशोभितः ॥ ४३ ॥
प्रहृष्टनरनारीकः समाजोत्सवशोभितः ।
सुकृष्टसीमा पशुमान् हिंसाभिरभिवर्जितः ॥ ४४ ॥

अदेवमातृको रम्यः श्वापदैः परिवर्जितः ।
परित्यक्तो भयैः सर्वैः खनिभिश्चोपशोभितः ॥ ४५ ॥
विवर्जितो नरैः पापैर्मम पूर्वैः सुरक्षितः ।
कच्चिज्जनपदः स्फीतः सुखं वसति राघव ॥ ४६ ॥

हे राघव ! जहां सैकड़ों अश्वमेध यज्ञ के यज्ञस्तंभ हैं उन स्थानों से युक्त, प्रतिष्ठित पुरुषों से व्याप्त, देवस्थान, पौशाला और तालाबों से शोभायमान, प्रसन्न स्त्री पुरुषों वाला, समाज के उत्सवों से शोभित, विना जोते ही अन्न पैदा करनेवाली भूमि से युक्त, पशुओं से पूर्ण, हिंसारहित, नदियों के जल से जीवन धारण करने वाला, रमणीक, दुष्टजन्तु-रहित, संकल भयशून्य, खानों से युक्त, पापी मनुष्यों से रहित और मेरे पूर्वजों से सुरक्षित अतएव समृद्ध देश सुख से बसा है क्या ? ॥ ४३ । ४४ । ४५ । ४६ ॥

कच्चित्ते दयिताः सर्वे कृषिगोरक्षजीविनः ।
वार्तायां सांप्रतं तात लोकोयं सुखमेधते ॥ ४७ ॥

हे भाई ! खेती और गाय बैल रखकर जीविका करने वाले सब तुमको प्यारे हैं क्या ? इस समय यह लोग व्यापार में सुख पाते हैं क्या ? ॥ ४७ ॥

तेषां गुप्तिपरीहारैः कच्चित्ते भरणं कृतम् ।
रक्ष्या हि राज्ञा धर्मेण सर्वे विषयवासिनः ॥ ४८ ॥

उन का इष्ट प्राप्त कराकर और अनिष्ट दूर कर क्या

तुमने पालन किया है ? क्योंकि सब देशवासियों की रक्षा धर्मपूर्वक राजा को करनी चाहिए ॥ ४८ ॥

कच्चित्स्त्रियः सान्त्वयसे कच्चित्तास्ते सुरक्षिताः ।
कच्चिन्न श्रद्दधास्यासां कच्चिद् गुह्यं न भाषसे ॥४९॥

क्या स्त्रियों को सांत्वना देते हो ? क्या वे तुमसे सुरक्षित रहती हैं ? क्या तुम इनका विश्वास तो नहीं करते ? और क्या तुम इनसे गुप्त बात तो नहीं कहते ? ॥ ४९ ॥

कच्चिन्नागवनं गुप्तं कच्चित्ते सन्ति धेनुकाः ।
कच्चिन्न गणिकाश्वानां कुंजराणां च तृप्यसि ॥५०॥

क्या जिस वन में हाथी पैदा होते हैं वह रक्षित है ? क्या तुम्हारे गायें हैं ? और क्या तुम घोड़े, हाथी और हथिनियों से तृप्त तो नहीं होते ? ॥ ५० ॥

कच्चिद्दर्शयसे नित्यं मानुषाणां विभूषितम् ।
उत्थायोत्थाय पूर्वाह्णे राजपुत्र महापथे ॥ ५१ ॥

हे राजपुत्र ! तुम नित्य दोपहर से पहले ही उठ उठ कर बड़ी सड़क पर सुशोभित हो मनुष्यों को दर्शन देते हो ? ॥ ५१ ॥

कच्चिन्न सर्वे कर्मान्ताः प्रत्यक्षास्तेऽविशंकया ।
सर्वे वा पुनरुत्सृष्टा मध्यमेवात्र कारणम् ॥५२॥

सब कर्मचारी निडर हो तुम्हारे सामने तो नहीं आते या सब एकदम दूर ही तो नहीं रहते ? (ये दोनों बातें अच्छी नहीं हैं) मध्य भाव ही ठीक है ॥ ५२ ॥

कच्चिद्दुर्गाणि सर्वाणि धनधान्यायुधोदकैः ।
यंत्रैश्च प्रतिपूर्णानि तथा शिल्पिधनुर्धरैः ॥५३॥

क्या तुम्हारे सब क़िले धन, धान्य, हथियार, जल, मशीन, कारीगर और धनुर्द्धरों से पूर्ण हैं ? ॥ ५३ ॥

आयस्ते विपुलः कच्चित्कच्चिदल्पतरो व्ययः ।
अपात्रेषु न ते कच्चित्कोशो गच्छति राघव ॥५४॥

हे राघव ! क्या तुम्हारी आमदनी बहुत है और ख़र्च कम है तथा तुम्हारा ख़ज़ाना अपात्रों में तो नहीं जाता ? ॥५४॥

देवतार्थे च पित्रर्थे ब्राह्मणाभ्यागतेषु च ।
योधेषु मित्रवर्गेषु कच्चिद्गच्छति ते व्ययः ॥५५॥

क्या देवताओं के अर्थ में, पितरों के अर्थ में, ब्राह्मणों और अभ्यागतों में, सिपाहियों और मित्रों में तुम्हारा ख़र्च होता है ? ॥ ५५ ॥

कच्चिदार्योऽपि शुद्धात्मा क्षारितश्चापकर्मणा ।
अदृष्टः शास्त्रकुशलैर्न लोभाद्बध्यते शुचिः ॥५६॥

सच्चरित्र, शुद्धात्मा और पवित्र को कुकर्म का मिथ्या कलंक लगने पर बिना शास्त्रज्ञों के द्वारा दोष देखे ही लोभ से तो नहीं दंड देते ? ॥ ५६ ॥

गृहीतश्चैव पृष्टश्च काले दृष्टः सकारणः ।
कच्चिन्न मुच्यते चोरो धनलोभान्नरर्षभ ॥ ५७ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! पकड़े गये, पूछे गये और समय पर कारण

सहित देखे गये चोर को धन के लोभ से छोड़ते तो नहीं हो ? ॥ ४७ ॥

व्यसने कच्चिदाढ्यस्य दुर्बलस्य च राघव ।
अर्थं विरागाः पश्यन्ति तवामात्या बहुश्रुताः ॥४८॥

हे राघव ! धनी और ग़रीब के झगड़े में तुम्हारे विद्वान् मंत्री निर्लोभ हो मुक़द्दमा देखते हैं क्या ? ॥ ४८ ॥

यानि मिथ्याभिशस्तानां पतंत्यश्रूणि राघव ।
तानि पुत्रपशून्घ्नन्ति प्रीत्यर्थमनुशासतः ॥ ४६ ॥

हे राघव ! मिथ्या कलंकितों के जो आंसू गिरते हैं वे सुख भोगने के लिये ही राज्यशासन करने वाले राजा के पुत्र और पशु आदि का नाश कर देते हैं ॥ ४६ ॥

कच्चिद्वृद्धांश्च बालांश्च वैद्यान्मुख्यांश्च राघव ।
दानेन मनसा वाचा त्रिभिरेतैर्बुभूषसे ॥ ६० ॥

हे राघव ! क्या तुम वृद्ध, बालक, वैद्य और मुखियों को दान, मन और वचन इन तीनों से वश करना चाहते हो ? ॥ ६० ॥

कच्चिद्गुरूंश्च वृद्धांश्च तापसान्देवतातिथीन् ।
चैत्यांश्च सर्वान्सिद्धार्थान्ब्राह्मणांश्च नमस्यसि ॥६१॥

क्या तुम गुरु, वृद्ध, तपस्वी, देवता, अतिथि, चौराहे के वृक्ष और सब कृतार्थ ब्राह्मणों को नमस्कार करते हो ? ॥६१॥

कच्चिदर्थेन वा धर्ममर्थं धर्मेण वा पुनः ।
उभौ वा प्रीतिलोभेन कामेन न विबाधसे ॥ ६२ ॥

क्या तुम धन कमाने में लगकर धर्म का, धर्म में लग कर धन का और सुख के लोभरूप काम द्वारा वेश्यादि में आसक्त होकर धर्म और धन दोनों का नाश तो नहीं करते हो ? ॥ ६२ ॥

कच्चिदर्थं च कामं च धर्मं च जयतांवर ।
विभज्य काले कालज्ञ सर्वान्वरद सेवसे ॥६३॥

हे जीतने वालों में श्रेष्ठ ! हे समय जाननेवाले और हे वर देने वाले ! क्या तुम धर्म, धन और काम इन सब का समयविभाग कर सेवन करते हो ? ॥ ६३ ॥

कच्चित्ते ब्राह्मणाः शर्म सर्वशास्त्रार्थकोविदः ।
आशंसते महाप्राज्ञ पौरजानपदैः सह ॥ ६४ ॥

हे महापंडित ! क्या सब शास्त्रों के अर्थों का जानने वाला ब्राह्मण नगर और देश के निवासियों सहित तुम्हारे सुख की प्रार्थना करता है ? ॥ ६४ ॥

नास्तिक्यमनृतं क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम् ।
अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं पंचवृत्तिताम् ॥ ६५ ॥
एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञैश्च मंत्रणम् ।
निश्चितानामनारम्भं मंत्रस्यापरिरक्षणम् ॥ ६६ ॥
मंगलाद्यप्रयोगं च प्रत्युत्थानं च सर्वतः ।
कच्चित्त्वं वर्जयस्येतान् राजदोषांश्चतुर्दश ॥६७॥

क्या तुमने नास्तिकता, झूठ, क्रोध, असावधानी, देर से काम करना, ज्ञानियों को न देखना, आलस्य, देखने, सुनने,

सूंघने, खाने और छूने के वश होना, अकेले राजकार्यों का विचार करना, जो उस काम को न जानते हों उनसे सलाह करना, निश्चय किये हुए कामों का आरम्भ न करना, सलाह को गुप्त न रखना, प्रातःकाल मांगलिक कार्य न करना और अपने अधीन राजाओं से युद्ध के लिए उठना इन १४ राजा के दोषों को त्याग दिया है ? ॥ ६५ । ६६ । ६७ ॥

दशपंचचतुर्वर्गान्सप्तवर्गं च तत्वतः ।
अष्टवर्गं त्रिवर्गं च विद्यास्तिस्त्रश्च राघव ॥ ६८ ॥
इन्द्रियाणां जयं बुद्ध्वा पाड्गुण्यं दैवमानुषम् ।
कृत्यं विंशतिवर्गं च तथा प्रकृतिमण्डलम् ॥६९॥
यात्रादण्डविधानं च द्वियोनी सन्धिविग्रहौ ।
कच्चिदेतान्महाप्राज्ञ यथावदनुमन्यसे ॥ ७० ॥

हे रघुकुल में पैदा हुए ! हे महापंडित ! १० वर्ग *, ५ वर्ग, ४ वर्ग, ७ वर्ग, ८ वर्ग, ३ वर्ग, ३ विद्या, इन्द्रियों का जीतना, ६ गुण, देवताओं और मनुष्यों के दिये हुए

* १० वर्ग—शिकार खेलना, जुआ खेलना, दिन को सोना, ऐब लगाना, स्त्रियों का अतिसेवन, नशा खाना, गाना सुनना, बाजों का सुनना, नाच देखना और वृथा फिरना (ये त्याज्य हैं)

५. वर्ग—जल के बीच में किला बनाना, पहाड़ पर किला बनाना, वृक्षों के बीच में और ऊसर में किला बनाना और रेगिस्तान टीबों में किला बनाना, (ये कर्त्तव्य हैं)

दुःख, राजा का कार्य, २० वर्ग, ५ प्रकृति और १२ राज-मंडल, यात्राविधान, दंडविधान, मेल करना और वैर करना

---

४. वर्ग–साम (समझाना), दान देकर वैरी को वश करना, भेद (फूट) करा देना और दंड देना (ये कर्त्तव्य हैं)

७. वर्ग–स्वामी, मंत्री, देश, क़िला, ख़ज़ाना, सेना और मित्र (ये कर्तव्य हैं)

८. वर्ग–चुगली, साहस, वैर, डाह, गुणों में दोष लगाना, किसी के किये काम को बुरा बतलाना, कठोर वचन कहना और दंड भी कठोर ही देना (ये त्याज्य हैं)

३. वर्ग–धर्म,धन, स्त्री-भोग (ये कर्तव्य हैं)

३. विद्या–तीनों वेद, खेती व्यापार आदि, नीतिशास्त्र [राजनीति] (ये कर्तव्य हैं)

६ गुण–मेल और वैर करना, आक्रमण करना, अपने क़िले में ही रहना शत्रुओं से दूर रहना या हर्ज़ करना और शरणागति।

दैवी दुःख–आग लगना, अतिवृष्टि, महामारी हैजे, प्लेग आदि बीमारियों का होना, अकाल पड़ना, मरना (ये दूर करने योग्य हैं)

मनुष्यकृत दुःख–राजा के सेवकों से, चोरों से, शत्रुओं से, राजा के प्यारों से और लोभी राजा से प्रजा-पीड़ा होती है उसे निवृत्त करना।

राजा के काम–शत्रु के ४ प्रकार के नौकरों को मिला लेना, जैसे–जो लोभी हो और उसको वेतन न मिला हो, मानी

इन में जो कर्तव्य और अकर्तव्य हैं उनको जानकर क्या तुम ठीक ठीक सम्मति देते हो ? ॥ ६८ । ६९ । ७० ॥

का अपमान हुआ हो, क्रोधी को क्रोध दिलाया गया हो और निर्भय को भय दिखाया गया हो (ये कर्तव्य हैं)

२० वर्ग—बालक, वृद्ध, दीर्घरोगी, जाति से बाहर किया, डरपोक, डरपोक का पुत्र, लोभी, लोभी का सम्बन्धी, प्रजा जिसके ऊपर स्नेह न करती हो, विषयासक्त, अस्थिर चित्त, बहुतों से सलाह करने वाला, देवता और ब्राह्मणों का निन्दक, अभागा, भाग्य ही का भरोसा रखने वाला, अकाल का सताया, दुःखित सेना वाला, परदेशस्थित, बहुत शत्रु वाला, समय पर कार्य न करने वाला और सच्चे धर्म में प्रीति न करने वाला, ये जो २० हैं इनसे मेल न करे केवल लड़ाई करे।

५ प्रकृति—मंत्री, राज्य, किला, ख़ज़ाना और दण्ड।

१२ राजमण्डल—शत्रु, मित्र, शत्रु का मित्र, मित्र का मित्र, शत्रु के मित्र का मित्र, पास रहने वाला, हल्ला करने वाला, पार्श्वरक्षक, हल्ला करने वालों का झुंड, पार्श्वस्थ, मध्यम और उदासीन।

५ प्रकार की यात्रा—(चढ़ाई) बलवान् होने के कारण पार्ष्णिग्राह आदि से लड़कर दूसरे शत्रु पर चढ़ाई, उनसे मेल कर अन्य पर चढ़ाई, छोटे राजाओं को साथ लेकर चढ़ाई, दूसरे के ऊपर चढ़ाई की तैयारी कर दूसरे पर चढ़ाई और बलवान् होने के कारण शत्रु की उपेक्षा कर उसके मित्रों पर चढ़ाई।

दंडविधान—सेना की व्यूहरचना के भेद।

मंत्रिभिस्त्वं यथोद्दिष्टं चतुर्भिस्त्रिभिरेव वा ।
कच्चित्समस्तैर्व्यस्तैश्च मंत्रं मंत्रयसे बुध ॥ ७१ ॥

हे पंडित ! जैसा नीति में कहा गया है उसके अनुसार क्या तुम चार या तीन मंत्रियों को साथ ही बैठा कर या एक एक से अलग अलग सलाह करते हो ? ॥ ७१ ॥

कच्चित्ते सफला वेदाः कच्चित्ते सफलाः क्रियाः ।
कच्चित्ते सफला दाराः कच्चित्ते सफलं श्रुतम् ॥७२॥

क्या वेदोक्त कर्म करने से तुम्हारा वेदों का पढ़ना सफल हुआ ? क्या तुम्हारा कमाया धन आदि दान और भोग आदि से सफल हुआ ? क्या तुम्हारी स्त्री धर्म कर्म में योग दान द्वारा, रतिदान और सन्तान उत्पादन द्वारा सफलता को प्राप्त हुई ? और क्या तुम्हारा शास्त्रों का सुनना नम्रता प्राप्ति से सफल हुआ ॥ ७२ ॥

कच्चिदेषैव ते बुद्धिर्यथोक्ता मम राघव ।
आयुष्या च यशस्या च धर्मकामार्थसंहिता ॥७३॥

हे राघव ! क्या कही हुई यह बुद्धि जैसी मेरी है वैसी ही तुम्हारी भी है जो कि आयु बढ़ाने वाली, यश देने वाली तथा धर्म, काम और अर्थ बढ़ाने के लिये विशेष हितकारिणी है ॥ ७३ ॥

यां वृत्तिं वर्तते तातो यां च नः प्रपितामहः ।
तां वृत्तिं वर्तसे कच्चिद्या च सत्पथगा शुभा ॥७४॥

हमारे पिता और पितामह ने जैसा व्यवहार किया था

क्या तुम वही व्यवहार करते हो जो अच्छे मार्ग में लेजाने वाला और शुभ है? ॥ ७४ ॥

कच्चित्स्वादूकृतं भोज्यमेको नाश्नासि राघव ।
कच्चिदाशंसमानेभ्यो मित्रेभ्यः संप्रयच्छसि ॥७५॥

हे राघव! क्या तुम अकेले ही तो स्वादिष्ट भोजन नहीं खाते हो? क्या स्नेह बढ़ने की इच्छा से चाहने वाले मित्रों को सादर देते हो? ॥ ७५ ॥

राजा तु धर्मेण हि पालयित्वा
महीपतिर्दण्डधरः प्रजानाम् ।
अवाप्य कृत्स्नां वसुधां यथाव-
दितश्च्युतः स्वर्गमुपैति विद्वान् ॥ ७६ ॥

पृथ्वीनाथ, दंडधारी और विद्वान् राजा धर्म से प्रजा पालन कर यथाविधि संपूर्ण पृथ्वी को पाकर और सुख भोग कर अन्त में यहां से च्युत होकर स्वर्ग को जाता है॥ ७६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये
अयोध्याकाण्डे शततमः सर्गः ॥ १०० ॥

ततः सीतां महाभागां दृष्ट्वा तां धर्मचारिणीम् ।
सान्त्वयन्त्यब्रवीद्वृद्धा दिष्ट्या धर्ममवेक्षसे ॥ १ ॥
त्यक्त्वा ज्ञातिजनं सीते मानवृद्धिं च मानिनि ।
अवरुद्धं वने रामं दिष्ट्या त्वमनुगच्छसि ॥ २ ॥
नगरस्थो वनस्थो वा शुभो वा यदि वाशुभः ।
यासां स्त्रीणां प्रियो भर्ता तासां लोका महोदयाः॥३॥

दुःशीलः कामवृत्तो वा धनैर्वा परिवर्जितः ।
स्त्रीणामार्यस्वभावानां परमं दैवतं पतिः ॥ ४ ॥
नातो विशिष्टं पश्यामि बांधवं विमृशंत्यहम् ।
सर्वत्र योग्यं वैदेहि तपः कृतमिवाव्ययम् ॥ ५ ॥

तदनन्तर धर्म का आचरण करने वाली बड़ी भाग्य-वाली सीता को समझाती हुई वृद्धा (अनुसूयाजी) बोलीं कि हे सीते ! बड़े आनन्द की बात है कि तुम धर्म की ओर दृष्टि रखती हो । हे सुन्दरी ! तुम अपने ज्ञाति-जन, मान और ऋद्धि को छोड़ वनवासी राम की अनुगामिनी हुई हो । हे पतिव्रते ! जिन स्त्रियों को अपना पति प्यारा है—चाहे वह नगरवासी हो या वनवासी, सुंदर हो चाहे कुरूप— उन पतिव्रताओं के लिए उत्तमोत्तम लोक प्राप्त हैं । हे सीते ! श्रेष्ठ स्वभाव वाली स्त्रियों का पति ही परम देवता है, चाहे वह दुष्ट स्वभावयुक्त, कामी अथवा धनहीन क्यों न हो । हे सीते ! मैंने बहुत विचार करके देखा, परंतु स्त्रियों के लिये इस लोक या परलोक में पति को छोड़ दूसरा योग्य इष्ट बांधव न पाया । हे सीते ! अक्षय तपोबल दोनों लोकों में इष्ट बंधु की नाईं जैसा फल देता है वैसा दोनों लोकों में फल देने की योग्यता पति ही को है ॥ १–५ ॥

* महाभारत-यक्षप्रश्न *

[६]

जब कौरव और पाण्डवों का द्यूत समाप्त हो गया और धृतराष्ट्र तथा दुर्योधन की कुटिलनीति ने पाण्डवों को दीर्घकाल का वनवास दिया व युधिष्ठरादि पांचों पांडव दुर्व्यसन का फल भोगते हुए जंगल में घूमते थे। ये सब द्रौपदी सहित ऋषि के आश्रम में थे। उस समय धर्म ने इनकी परीक्षा के निमित्त मृगरूप धारण करके ऋषि की अरणि को अपने सींगों में उलझा कर प्रयाण किया और एक तालाब के ऊपर छिप गये। ऋषि के उपालंभ देने पर पांचों पांडव अरणि को खोजने के लिये निकले। बहुत परिश्रम से अति थक गये। युधिष्ठर ने जल पीने की इच्छा प्रकट की और पक्षियों का कलरव सुन कर बहुत समीप तडाग की संभावना करके अपने भाइयों को जल लानेके लिये भेजा। जब एक के बाद दूसरा चला गया और चारों में से कोई वापस न लौटा तो स्वयं युधिष्ठिर उसी स्थान पर पहुंचा। बहुत दुःख और आश्चर्य से स्तंभित हो गया, क्योंकि उसने देखा कि मेरे चारों भाई मृतक समान पड़े हैं बहुत रुदन करने के पश्चात् जल लेने की इच्छा से जल के निकट गया, त्योंही आकाशवाणी ने रोका कि जल मत लो। मैंने तेरे चारों भाइयों को मेरी आज्ञा का

उल्लंघन करने से मार डाला है। इन्होंने भी मेरे प्रश्नों का उत्तर विना दिये जल पीने का साहस किया था। तुम भी यदि मेरे प्रश्नों का उत्तर दिये विना जल ग्रहण करोगे तो मर जाओगे। उत्तर देकर जल पिओ, यह मेरी प्रतिज्ञा है। मेरी आज्ञा विना कोई ग्रहण नहीं कर सकता। युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—बहुत अच्छा, मैं आपकी आज्ञा विना जल ग्रहण न करूंगा। यक्ष ने प्रश्न करना प्रारंभ किया और युधिष्ठिर ने उत्तर देना ऐसे दुःख के समय में आरम्भ किया कि जब चारों भाई मरे हुए सामने पड़े थे। उसने बड़ी गंभीरता से यक्ष के सब प्रश्नों का ठीक ठीक समाधान किया जिनसे आज दिन संसार में युधिष्ठिर की वीरता, धर्मनिष्ठता, गंभीरता, चतुरता, शास्त्रज्ञान, नीतिज्ञता और शीलता की प्रख्याति हो रही है। वे ही प्रश्नोत्तर यहां लिखे जाते हैं।

यक्ष उवाच।

किंस्विदादित्यमुन्नयति के च तस्याभितश्चराः।
कश्चैनमस्तं नयति कस्मिंश्च प्रतितिष्ठति ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच।

ब्रह्मादित्यमुन्नयति देवास्तस्याभितश्चराः।
धर्मश्चास्तं नयति च सत्ये च प्रतितिष्ठति ॥ २ ॥

यक्ष उवाच ।

केनस्विच्छ्रोत्रियो भवति केनस्विद्विन्दते महत् ।
केनस्विद् द्वितीयवान्भवति राजन्केन च बुद्धिमान् ॥३॥

युधिष्ठिर उवाच ।

श्रुतेन श्रोत्रियो भवति तपसा विन्दते महत् ।
धृत्या द्वितीयवान्भवति बुद्धिमान्वृद्धसेवया ॥ ४ ॥

यक्ष उवाच ।

किं ब्राह्मणानां देवत्वं कश्च धर्मः सतामिव ।
कश्चैषां मानुषो भावः किमेषामसतामिव ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

स्वाध्याय एषां देवत्वं तप एषां सतामिव ।
मरणं मानुषो भावः परिवादोऽसतामिव ॥ ६ ॥

यक्ष उवाच ।

किं क्षत्रियाणां देवत्वं कश्च धर्मः सतामिव ।
कश्चैषां मानुषो भावः किमेषामसतामिव ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

इष्वस्त्रमेषां देवत्वं यज्ञ एषां सतामिव ।
भयं वै मानुषो भावः परित्यागोऽसतामिव ॥ ८ ॥

यक्ष उवाच ।

किमेकं यज्ञियं साम किमेकं यज्ञियं यजुः ।
का चैषां वृणुते यज्ञं कां यज्ञो नातिवर्तते ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

प्राणो वै यज्ञियं साम मनो वै यज्ञियं यजुः ।
ऋगेका वृणुते यज्ञं तां यज्ञो नातिवर्तते ॥ १० ॥

यक्ष उवाच ।

किंस्विदावपतां श्रेष्ठं किंस्विन्निवपतां वरम् ।
किंस्वित्प्रतिष्ठमानानां किंस्वित्प्रसवतां वरम् ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

वर्षमावपतां श्रेष्ठं बीजं निवपतां वरम् ।
गावः प्रतिष्ठमानानां पुत्रः प्रसवतां वरः ॥ १२ ॥

यक्ष उवाच ।

इन्द्रियार्थाननुभवन्बुद्धिमान् लोकपूजितः ।
संमतः सर्वभूतानामुच्छ्वसन्को न जीवति ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

देवतातिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्च यः ।
न निर्वपति पंचानामुच्छ्वसन्न स जीवति ॥ १४ ॥

यक्ष उवाच ।

किंस्विद् गुरुतरं भूमेः किंस्विदुच्चतरं च खात् ।
किंस्विच्छीघ्रतरं वायोः किंस्विद्बहुतरं तृणात् ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

माता गुरुतरा भूमेः खात्पितोच्चतरस्तथा ।
मनः शीघ्रतरं वाताच्चिन्ता बहुतरी तृणात् ॥ १६ ॥

यक्ष उवाच ।

किंस्वित्सुप्तं न निमिषति किंस्विज्जातं न चोपति ।
कस्यस्विद्धृदयं नास्ति किंस्विद्वेगेन वर्धते ॥ १७ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

मत्स्यः सुप्तो न निमिषत्यंडं जातं न चोपति ।
अश्मनो हृदयं नास्ति नदीवेगेन वर्धते ॥ १८ ॥

यक्ष उवाच ।

किंस्वित्प्रवसतो मित्रं किंस्विन्मित्रं गृहे सतः ।
आतुरस्य च किं मित्रं किंस्विन्मित्रं मरिष्यतः ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

सार्थः प्रवसतो मित्रं भार्या मित्रं गृहे सतः ।
आतुरस्य भिषग् मित्रं दानं मित्रं मरिष्यतः ॥ २० ॥

यक्ष उवाच ।

कोतिथिः सर्वभूतानां किंस्विद्धर्मं सनातनम् ।
अमृतं किंस्विद्राजेंद्र किंस्वित्सर्वमिदं जगत् ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

अतिथिः सर्वभूतानामग्निः सोमो गवामृतम् ।
सनातनोमृतो धर्मो वायुः सर्वमिदं जगत् ॥ २२ ॥

यक्ष उवाच ।

किंस्विदेको विचरते जातः को जायते पुनः ।
किंस्विद्धिमस्य भैषज्यं किंस्विदावपनं महत् ॥ २३ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

सूर्य एको विचरते चंद्रमा जायते पुनः ।
अग्निर्हिमस्य भैषज्यं भूमिरावपनं महत् ॥ २४ ॥

यक्ष उवाच ।

किंस्विदेकपदं धर्म्यं किंस्विदेकपदं यशः ।
किंस्विदेकपदं स्वर्ग्यं किंस्विदेकपदं सुखम् ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

दाक्ष्यमेकपदं धर्म्यं दानमेकपदं यशः ।
सत्यमेकपदं स्वर्ग्यं शीलमेकपदं सुखम् ॥ २६ ॥

यक्ष उवाच ।

किंस्विदात्मा मनुष्यस्य किंस्विद्दैवकृतः सखा ।
उपजीवनं किंस्विदस्य किंस्विदस्य परायणम् ॥२७॥

युधिष्ठिर उवाच ।

पुत्र आत्मा मनुष्यस्य भार्या दैवकृतः सखा ।
उपजीवनं च पर्जन्यो दानमस्य परायणम् ॥ २८ ॥

यक्ष उवाच ।

धन्यानामुत्तमं किंस्विद्धनानां स्यात्किमुत्तमम् ।
लाभानामुत्तमं किं स्यात्सुखानां स्यात्किमुत्तमम् ॥२९॥

युधिष्ठिर उवाच ।

धन्यानामुत्तमं दाक्ष्यं धनानामुत्तमं श्रुतम् ।
लाभानां श्रेय आरोग्यं सुखानां तुष्टिरुत्तमा ॥ ३० ॥

यक्ष उवाच ।

कश्च धर्मः परो लोके कश्च धर्मः सदाफलः ।
किं नियम्य न शोचंति कैश्च संधिर्न जीर्यते ॥३१॥

युधिष्ठिर उवाच ।

आनृशंस्यं परो धर्मस्त्रयीधर्मः सदाफलः ।
मनो यम्य न शोचंति संधिः सद्भिर्न जीर्यते ॥३२॥

यक्ष उवाच ।

किं नु हित्वा प्रियो भवति किं नु हित्वा न शोचति ।
किं नु हित्वार्थवान्भवति किं नु हित्वा सुखी भवेत् ॥३३॥

युधिष्ठिर उवाच ।

मानं हित्वा प्रियो भवति क्रोधं हित्वा न शोचति ।
कामं हित्वार्थवान्भवति लोभं हित्वा सुखी भवेत् ॥३४॥

यक्ष उवाच ।

किमर्थं ब्राह्मणे दानं किमर्थं नटनर्तके ।
किमर्थं चैव भृत्येषु किमर्थं चैव राजसु ॥ ३५ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

धर्मार्थं ब्राह्मणे दानं यशोर्थं नटनर्तके ।
भृत्येषु भरणार्थं वै भयार्थं चैव राजसु ॥ ३६ ॥

यक्ष उवाच ।

केनस्विदावृतो लोकः केनस्विन्न प्रकाशते ।
केन त्यजति मित्राणि केन स्वर्गं न गच्छति ॥ ३७ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

अज्ञानेनावृतो लोकस्तमसा न प्रकाशते ।
लोभात्त्यजति मित्राणि संगात्स्वर्गं न गच्छति ॥३८॥

यक्ष उवाच ।

मृतः कथं स्यात्पुरुषः कथं राष्ट्रं मृतं भवेत् ।
श्राद्धं मृतं कथं वा स्यात्कथं यज्ञो मृतो भवेत् ॥३९॥

युधिष्ठिर उवाच ।

मृतो दरिद्रः पुरुषो मृतं राष्ट्रमराजकम् ।
मृतमश्रोत्रियं श्राद्धं मृतो यज्ञस्त्वदक्षिणः ॥ ४० ॥

यक्ष उवाच ।

का दिक्किमुदकं प्रोक्तं किमन्नं किं च वै विषम् ।
श्राद्धस्य कालमाख्याहि ततः पिब हरस्व च ॥४१॥

युधिष्ठिर उवाच ।

संतो दिग्जलमाकाशं गौरन्नं प्रार्थना विषम् ।
श्राद्धस्य ब्राह्मणः कालः कथं वा यक्ष मन्यसे ॥४२॥

यक्ष उवाच ।

तपः किं लक्षणं प्रोक्तं को दमश्च प्रकीर्तितः ।
क्षमा च का परा प्रोक्ता का च ह्रीः परिकीर्तिता॥४३॥

युधिष्ठिर उवाच ।

तपः स्वधर्मवर्तित्वं मनसो दमनं दमः ।
क्षमा द्वंद्वसहिष्णुत्वं ह्रीरकार्यनिवर्तनम् ॥ ४४ ॥

यक्ष उवाच ।

किं ज्ञानं प्रोच्यते राजन् कः शमश्च प्रकीर्तितः ।
दया च का परा प्रोक्ता किं चार्जवमुदाहृतम् ॥४५॥

युधिष्ठिर उवाच ।

ज्ञानं तत्वार्थसंबोधः शमश्चित्तप्रशांतता ।
दया सर्वसुखैषित्वमार्जवं समचित्तता ॥ ४६ ॥

यक्ष उवाच ।

कः शत्रुर्दुर्जयः पुंसां कश्च व्याधिरनंतकः ।
कीदृशश्च स्मृतः साधुरसाधुः कीदृशः स्मृतः ॥४७॥

युधिष्ठिर उवाच ।

क्रोधः सुदुर्जयः शत्रुर्लोभो व्याधिरनंतकः ।
सर्वभूतहितः साधुरसाधुर्निर्दयः स्मृतः ॥ ४८ ॥

यक्ष उवाच ।

को मोहः प्रोच्यते राजन् कश्च मानः प्रकीर्तितः ।
किमालस्यं च विज्ञेयं कश्च शोक प्रकीर्तितः ॥४९॥

युधिष्ठिर उवाच ।

मोहो हि धर्ममूढत्वं मानस्त्वात्माभिमानिता ।
धर्मनिष्क्रियतालस्यं शोकस्त्वज्ञानमुच्यते ॥ ५० ॥

यक्ष उवाच ।

किं स्थैर्यमृषिभिः प्रोक्तं किं च धैर्यमुदाहृतम् ।
स्नानं च किं परं प्रोक्तं दानं च किमिहोच्यते ॥५१॥

युधिष्ठिर उवाच ।

स्वधर्मे स्थिरता स्थैर्यं धैर्यमिन्द्रियनिग्रहः ।
स्नानं मनोमलत्यागो दानं वै भूतरक्षणम् ॥ ५२ ॥

यक्ष उवाच ।

कः पंडितः पुमान् ज्ञेयो नास्तिकः कश्च उच्यते ।
को मूर्खः कश्च कामः स्यात्को मत्सर इति स्मृतः॥५३॥

युधिष्ठिर उवाच ।

धर्मज्ञः पंडितो ज्ञेयो नास्तिको मूर्ख उच्यते ।
कामः संसारहेतुश्च हृत्तापो मत्सरः स्मृतः ॥ ५४ ॥

यक्ष उवाच ।

कोऽहंकार इति प्रोक्तः कश्च दंभः प्रकीर्तितः ।
किं तद्दैवं परं प्रोक्तं किं तत्पैशुन्यमुच्यते ॥ ५५ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

महाज्ञानमहंकारो दंभो धर्मो ध्वजोच्छ्रयः ।
दैवं दानफलं प्रोक्तं पैशुन्यं परदूषणम् ॥ ५६ ॥

यक्ष उवाच ।

धर्मश्चार्थश्च कामश्च परस्परविरोधिनः ।
एषां नित्यविरुद्धानां कथमेकत्र संगमः ॥ ५७ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

यदा धर्मश्च भार्या च परस्परवशानुगौ ।
तदा धर्मार्थकामानां त्रयाणामपि संगमः ॥ ५८ ॥

यक्ष उवाच ।

अक्षयो नरकः केन प्राप्यते भरतर्षभ ।
एतन्मे पृच्छतः प्रश्नं तच्छीघ्रं वक्तुमर्हसि ॥५९॥

युधिष्ठिर उवाच ।

ब्राह्मणं स्वयमाहूय याचमानमकिंचनम् ।
पश्चान्नास्तीति यो ब्रूयात्सोऽक्षयं नरकं व्रजेत् ।.६०॥
वेदेषु धर्मशास्त्रेषु मिथ्या यो वै द्विजातिषु ।
देवेषु पितृधर्मेषु सोऽक्षयं नरकं व्रजेत् ॥ ६१ ॥
विद्यमाने धने लोभाद्दानभोगविवर्जितः ।
पश्चान्नास्तीति यो ब्रूयात्सोऽक्षयं नरकं व्रजेत् ॥६२॥

यक्ष उवाच ।

राजन् कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन वा ।
ब्राह्मण्यं केन भवति प्रब्रूह्येतत्सुनिश्चितम् ॥ ६३ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

शृणु यक्ष कुलं तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम् ।
कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः ॥ ६४ ॥
वृत्तं यत्नेन संरक्ष्यं ब्राह्मणेन विशेषतः ।
अक्षीणवृत्तो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ॥ ६५ ॥
पठकाः पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्रचिन्तकाः ।
सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान्स पंडितः ॥ ६६ ॥
चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः स शूद्रादतिरिच्यते ।
योऽग्निहोत्रपरो दान्तः स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥ ६७ ॥

यक्ष उवाच ।

प्रियवचनवादी किं लभते विमृशितकार्यकरः किं लभते ।
बहुमित्रकरः किं लभते धर्मे रतः किं लभते कथय ॥६८॥

युधिष्ठिर उवाच ।

प्रियवचनवादी प्रियो भवति
विमृशितकार्यकरोऽधिकं जयति ।
बहुमित्रकरः सुखं वसते
यश्च धर्मरतः स गतिं लभते ॥ ६९ ॥

यक्ष उवाच ।

को मोदते किमाश्चर्यं कः पंथाः का च वार्तिका ।
वद मे चतुरः प्रश्नान् मृता जीवंतु बांधवाः ॥ ७० ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

पंचमेहनि षष्ठे वा शाकं पचति स्वे गृहे ।
अनृणी चाप्रवासी च स वारिचर मोदते ॥ ७१ ॥
अहन्यहनि भूतानि गच्छंतीह यमालयम् ।
शेषाः स्थावरमिच्छंति किमाश्चर्यमतः परम् ॥ ७२ ॥

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पंथाः ॥ ७३ ॥

अस्मिन्महामोहमये कटाहे
सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन ।
मासर्तुदर्वीपरिघट्टनेन
भूतानि कालः पचतीति वार्ता ॥ ७४ ॥

यक्ष उवाच ।

व्याख्याता मे त्वया प्रश्ना याथातथ्यं परंतप ।
पुरुषं त्विदानीं व्याख्याहि यश्च सर्वधनी नरः ॥७५॥

युधिष्ठिर उवाच ।

दिवं स्पृशति भूमिं च शब्दः पुण्येन कर्मणा ।
यावत्स शब्दो भवति तावत्पुरुष उच्यते ॥ ७६ ॥
तुल्ये प्रियाप्रिये यस्य सुखदुःखे तथैव च ।
अतीतानागते चोभे स वै सर्वधनी नरः ॥ ७७ ॥

यक्ष उवाच ।

व्याख्यातः पुरुषो राजन्यश्च सर्वधनी नरः ।
तस्मात्त्वमेकं भ्रातॄणां यमिच्छसि स जीवतु ॥ ७८ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

श्यामो य एष रक्ताक्षो बृहच्छाल इवोत्थितः ।
व्यूढोरस्को महाबाहुर्नकुलो यक्ष जीवतु ॥ ७९ ॥

यक्ष उवाच ।

प्रियस्ते भीमसेनोयमर्जुनो वः परायणम् ।
स कस्मान्नकुलो राजन्सापत्नं जीवमिच्छसि ॥ ८० ॥

यस्य नागसहस्रेण दशसंख्येन वै बलम् ।
तुल्यं तं भीममुत्सृज्य नकुलं जीवमिच्छसि ॥ ८१ ॥
तथैनं मनुजाः प्राहुर्भीमसेनं प्रियं तव ।
अथ केनानुभावेन सापत्नं जीवमिच्छसि ॥ ८२ ॥
यस्य बाहुबलं सर्वे पांडवाः समुपासते ।
अर्जुनं तमपाहाय नकुलं जीवमिच्छसि ॥ ८३ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

धर्म एव हतो हंति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मं न त्यजामि मा नो धर्मो हतोवधीत्॥ ८४॥
आनृशंस्यं परो धर्मः परमार्थाच्च मे मतम् ।
आनृशंस्यं चिकीर्षामि नकुलो यक्ष जीवतु ॥ ८५ ॥
धर्मशीलः सदा राजा इति मां मानवा विदुः ।
स्वधर्मान्न चलिष्यामि नकुलो यक्ष जीवतु ॥ ८६ ॥
कुन्ती चैव तु माद्री च द्वे भार्ये तु पितुर्मम ।
उभे सपुत्रे स्यातां वै इति मे धीयते मतिः ॥ ८७ ॥
यथा कुंती तथा माद्री विशेषो नास्ति मे तयोः ।
मातृभ्यां सममिच्छामि नकुलो यक्ष जीवतु ॥ ८८ ॥

यक्ष उवाच ।

यस्य तेर्थाच्च कामाच्च आनृशंस्यं परं मतम् ।
तस्मात्ते भ्रातरः सर्वे जीवन्तु भरतर्षभ ॥ ८९ ॥

इति श्री महाभारते आरण्यके प० आरण्येयपर्व०
यक्षप्रश्ने त्रयोदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥

यक्ष बोले ।

सूर्य को कौन उदय को ले जाता है और कौन उनके चारों ओर चलते हैं, कौन इनको अस्त को ले जाता है और किस में यह प्रतिष्ठित होते हैं ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले ।

ब्रह्म देवता ही सूर्य को ऊपर ले जाता है और देवता उसके चारों ओर चलते हैं। उसका धर्म ही उसको अस्त को ले जाता है और सत्य में वह प्रतिष्ठित होता है ॥ २ ॥

यक्ष बोले ।

हे राजन् ! किससे श्रोत्रिय (वेदपाठी) होता है, किससे तत्वज्ञान को प्राप्त होता है, किससे सहायी होता है और किससे बुद्धिमान् होता है ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर बोले ।

वेदाध्ययन से श्रोत्रिय होता है, तपस्या से महत्त्व को प्राप्त होता है, धैर्य से सहायी होता है और वृद्धों की सेवा से बुद्धिमान् होता है ॥ ४ ॥

यक्ष बोले ।

ब्राह्मणों का देवतापन क्या है और उनका कौन धर्म सज्जनों का सा है और इनकी मनुष्यता क्या है तथा इनका कौन कार्य दुष्टों का सा है ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर बोले ।

स्वाध्याय (वेदादि पाठ) ही इनका देवतापन है, तप इनका सज्जनों का सा धर्म है, मरना इनकी मनुष्यता है और परनिन्दा इनका दुष्टों का सा कार्य है ॥ ६ ॥

यक्ष बोले ।

क्षत्रियों का देवतापन क्या है, कौन धर्म इनका सज्जनों का सा है, कौन इनकी मनुष्यता है और कौनसा काम इनका दुष्टों का सा है ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर बोले ।

प्रयोगसंहारमंत्र-ज्ञानपूर्वक धनुर्वेद का जानना इनका देवतापन है, यज्ञ करना इनका सज्जनों का सा धर्म है, भय करना इनकी मनुष्यता है और आश्रितों का परित्याग करना ही इनका दुष्टों का सा काम है ॥ ८ ॥

यक्ष बोले ।

प्रधान यज्ञीय सामवेदीय स्तुति-मंत्र क्या है, प्रधान यज्ञीय यजु क्या है, इनमें यज्ञ को कौन वरण करता है और यज्ञ किसका उल्लंघन नहीं करता ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर बोले ।

प्राण ही यज्ञ-संबंधी साम है, मन ही यज्ञ-संबंधी यजु है, एक ऋक् ही यज्ञ को वरण करता है और यज्ञ उसका उल्लंघन नहीं करता ॥ १० ॥

यक्ष बोले ।

चारों ओर से तृप्त करने वालों में क्या श्रेष्ठ है, बीज बोने वालों में क्या श्रेष्ठ है, प्रतिष्ठा चाहने वालों को क्या श्रेष्ठ है और संतान चाहने वालों को क्या श्रेष्ठ है ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर बोले ।

तृप्ति करनेवालों में वर्षा ही श्रेष्ठ है, बोनेवालों का सा बीज ही श्रेष्ठ है, आत्मरक्षा चाहने वालों को गायें ही श्रेष्ठ हैं और सन्तान चाहने वालों को पुत्र ही श्रेष्ठ है ॥ १२ ॥

यक्ष बोले ।

कान आदि इन्द्रियों के अर्थों (शब्द आदिकों) का अनुभव करता हुआ बुद्धिमान्, संसार में धनी आदि कहा जाकर लोगों से पूजित और सब प्राणियों को दान देने का अधिकारी कौन सांस लेता हुआ भी नहीं जीता अर्थात् जीवित नहीं कहा जाता ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर बोले ।

देवता, अतिथि, सेवक, पितर और अपने को इन पांचों को जो नहीं तृप्त करता वह सांस लेता हुआ भी जीता नहीं है ॥ १४ ॥

यक्ष बोले ।

पृथ्वी से अधिक बड़ी क्या है, आकाश से अधिक ऊंचा क्या है, हवा से अधिक वेग वाला कौन है और तृण से हलकी क्या है ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर बोले ।

माता पृथ्वी से श्रेष्ठ है, पिता आकाश से अधिक श्रेष्ठतर है, वायु से भी मन अति चंचल है और तृण से भी हलकी चिन्ता है ॥ १६ ॥

यक्ष बोले ।

सोता हुआ कौन नेत्र नहीं मीचता, उत्पन्न हुआ कौन नहीं चलता, किसके हृदय नहीं है और क्या वेग से बढ़ता है ॥ १७ ॥

युधिष्ठिर बोले ।

सोती हुई भी मछली आंखें नहीं मीचती, पैदा हुआ अंडा नहीं चलता, पत्थर के हृदय नहीं है और नदी वेग से बढ़ती है ॥ १८ ॥

यक्ष बोले ।

पथिक का मित्र कौन है, घर में रहने वाले का मित्र कौन है, रोगी का मित्र कौन है और मरणोन्मुख का मित्र कौन है ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर बोले ।

पथिक का मित्र साथी है, घर में रहने वाले की सखी स्त्री है, रोगी का मित्र वैद्य है और मरणोन्मुख का मित्र दान है ॥ २० ॥

यक्ष बोले ।

हे राजन् ! सब प्राणियों का अतिथि कौन है, सनातन धर्म कौन है, अमृत क्या है और यह सब संसार क्या है ॥२१॥

युधिष्ठिर बोले ।

सब प्राणियों के अतिथि अग्नि और सोम हैं, गाय का दूध ही अमृत है, मोक्ष ही सनातन (नित्य) धर्म है और वायु ही यह सब संसार है ॥ २२ ॥

यक्ष बोले ।

अकेला कौन घूमता है, कौन वार वार पैदा होता है, शीत दूर करने की दवा क्या है और बड़ा आधार क्या है ॥२३॥

युधिष्ठिर बोले ।

अकेला घूमने वाला सूर्य है, चन्द्रमा वार वार पैदा होता है, अग्नि शीत की ओषधि है और पृथ्वी सर्वाधार है ॥२४॥

यक्ष बोले ।

धर्म को न छोड़ने वाला कर्म क्या है, एकाश्रय यश क्या है, स्वर्गसाधन कर्म क्या है और एकाश्रय सुख क्या है ॥२५॥

युधिष्ठिर बोले ।

चतुरता ही एकदम धर्म का हित करने वाली है, दान ही एकदम यश बढ़ाने वाला है, सत्य ही एकदम स्वर्ग देने वाला है और शील ही एकदम सुख देने वाला है ॥ २६ ॥

यक्ष बोले ।

मनुष्य का आत्मा कौन है, भाग्य से प्राप्त मित्र कौन है, इसको जीवन देनेवाला कौन है और इसको श्रेष्ठ सुख देनेवाला कौन है ॥ २७ ॥

युधिष्ठिर बोले ।

मनुष्य का आत्मा पुत्र है, सौभाग्य से प्राप्त स्त्री ही मित्र है, मेघ जीवन देने वाला है और दान ही इसको श्रेष्ठ फल देने वाला है ॥ २८ ॥

यक्ष बोले ।

श्रेष्ठ पुरुषों में उत्तम क्या है, धनों में उत्तम क्या है, लाभों में उत्तम क्या है और सुखों में उत्तम क्या है ॥२९॥

युधिष्ठिर बोले ।

श्रेष्ठ पुरुषों की उत्तमता चातुर्य है, धनों में उत्तम विद्या है, लाभों में श्रेष्ठ आरोग्य है और सुखों में उत्तम संतोष है ॥ ३० ॥

यक्ष बोले ।

संसार में श्रेष्ठ धर्म कौन है, कौन धर्म सदा फल देनेवाला है, किसको वश करके लोग सोच नहीं करते और किससे मेल करने से वह मेल सदा नया रहता है ॥ ३१ ॥

युधिष्ठिर बोले ।

दूसरे को कष्ट देने में प्रवृत्त न होना परम-धर्म है, वैदिक-धर्म सदा फल देने वाला है, मन को वश करके लोग सोच नहीं करते और सज्जनों से किया हुआ मेल कभी पुराना नहीं होता ॥ ३२ ॥

यक्ष बोले ।

किसको छोड़ कर मित्र होता है, किसको छोड़ कर सोच नहीं करता, किसको छोड़ कर सफल होता है और किसको छोड़ कर सुखी होता है ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिर बोले ।

अभिमान छोड़ कर प्यारा होता है, क्रोध छोड़ कर सोच नहीं करता, अभिलाष छोड़ कर सफल होता है और लोभ छोड़ कर सुखी होता है ॥ ३४ ॥

यक्ष बोले ।

ब्राह्मण को किसलिये दिया जाता है, नटों और नाचने वालों को किसलिये दिया जाता है, सेवकों को किसलिये दिया जाता है और राजाओं को किसलिये दिया जाता है ॥३५॥

युधिष्ठिर बोले ।

ब्राह्मण को धर्म होने के लिये दिया जाता है, नटों और नाचने वालों को नाम होने के लिये दिया जाता है, सेवकों को पालन पोषण के लिये दिया जाता है और अपने निर्भय होने के लिये राजाओं को दिया जाता है ॥ ३६ ॥

यक्ष बोले ।

लोग किससे घिरे हैं, किससे प्रकाशित नहीं होते, किससे मित्रों को छोड़ते हैं और किससे स्वर्ग को नहीं जाते ॥ ३७ ॥

युधिष्ठिर बोले।

लोग अज्ञान से घिरे हैं, अज्ञानरूपी अंधकार से ही प्रकाशित नहीं होते, लोभ से मित्रों को छोड़ते हैं और कुसंग से ही स्वर्ग को नहीं जाते ॥ ३८ ॥

यक्ष बोले।

किसी कारण पुरुष मृतक-व्यवहार पात्र होता है, राज्य मृतक कैसे होता है, श्राद्ध मृतक कैसे होता है और यज्ञ मृतक कैसे होता है ॥ ३९ ॥

युधिष्ठिर बोले।

दरिद्र पुरुष मृत कहलाता है, राजारहित राज्य मृत है, वेदज्ञ श्रोत्रिय से रहित श्राद्ध मृत है और दक्षिणारहित यज्ञ मृत है ॥ ४० ॥

यक्ष बोले।

आचार का उपदेश देने वाला कौन है, जल किसको कहते हैं, अन्न क्या है, विष क्या है और श्राद्ध का समय कौन है इनका उत्तर दो तब जलपान करो और ले भी जाओ ॥ ४१ ॥

युधिष्ठिर बोले।

सज्जन ही आचार को बताने वाले हैं, आकाश ही जल का हेतु है, गाय का दूध, घृत ही अन्न है, याचना ही विष है और श्रोत्रिय ब्राह्मण का उपस्थितिकाल श्राद्ध का समय है ॥ ४२ ॥

यक्ष बोले ।

तप का क्या लक्षण है, दम किसको कहते हैं, सर्वाधिक क्षमा किसको कहते हैं और लज्जा किसको कहते हैं ॥ ४३ ॥

युधिष्ठिर बोले ।

स्वधर्मानुसरण ही तप है, मन को दबाना ही दम है, सर्दी गर्मी आदि द्वंद्वों का सह लेना ही क्षमा है और पाप से अलग रहना ही लज्जा का लक्षण है ॥ ४४ ॥

यक्ष बोले ।

हे राजन् ! ज्ञान किसे कहते हैं, शम किसे कहते हैं, सर्वाधिक दया किसे कहते हैं और सरलता किसे कहते हैं ॥ ४५ ॥

युधिष्ठिर बोले ।

तत्वार्थ का पूर्ण ज्ञान ही ज्ञान है, चित्त की पूर्ण शान्ति ही शम है, सबका सुख चाहना ही दया है और चित्त का समभाव ही सरलता है ॥ ४६ ॥

यक्ष बोले ।

पुरुषों का दुर्जय शत्रु कौन है, जो कभी न दूर हो ऐसा रोग कौन है, कौन पुरुष साधु और कौन असाधु है ॥ ४७ ॥

युधिष्ठिर बोले ।

क्रोध को अति कष्ट से भी नहीं जीत सकते ऐसा शत्रु

है, लोभ ही न मिटने वाला रोग है, सब प्राणियों का हित करने वाला साधु है और दयारहित ही असाधु है ॥ ४८ ॥

यक्ष बोले ।

हे राजन् ! मोह किसे कहते हैं, मान किसे कहते हैं, आलस्य किसे कहते हैं और शोक किसे कहते हैं ॥ ४९ ॥

युधिष्ठिर बोले ।

धर्म न जानना ही मोह है, अपने को सब कुछ मानना ही मान है, धर्म के कार्यों को करने के लिये क्रियारहित बनना ही आलस्य है और अज्ञान ही शोक है ॥ ५० ॥

यक्ष बोले ।

ऋषियों ने स्थैर्य (स्थिरता) किसको कहा है, धैर्य किसको कहा है, श्रेष्ठ स्नान किसे कहते हैं और दान किसे कहते हैं ॥ ५१ ॥

युधिष्ठिर बोले ।

अपने धर्म में स्थिर रहने को ही स्थिरता कहते हैं, इन्द्रियों को वश में रखना ही धैर्य है, मन के मल को दूर करना ही स्नान है और प्राणियों की रक्षा करना ही दान है ॥ ५२ ॥

यक्ष बोले ।

किस पुरुष को पंडित जानना चाहिए, नास्तिक किसे कहते हैं, मूर्ख कौन है, काम क्या है और मत्सर क्या है ॥५३॥

युधिष्ठिर बोले।

धर्म जानने वाले को पंडित जानना चाहिये, मूर्ख ही नास्तिक कहा जाता है, वासना ही काम है और हृदय का जलना ही मत्सर है ॥ ५४ ॥

यक्ष बोले।

अहंकार किसे कहते हैं, दंभ किसे कहते हैं, श्रेष्ठ भाग्य किसे कहते हैं और चुगली किसे कहते हैं ॥ ५५ ॥

युधिष्ठिर बोले।

बड़े अज्ञान को अहंकार कहते हैं, धर्म की पताका का फहराना ही दंभ है, दान का फल ही भाग्य है और दूसरों में दोष लगाना ही पैशुन्य है ॥ ५६ ॥

यक्ष बोले।

धर्म, अर्थ और काम परस्पर विरोधी हैं इन नित्य विरोधियों का एक जगह संगम कैसे होता है ॥ ५७ ॥

युधिष्ठिर बोले।

जब धर्म और स्त्री दोनों वश में हों तब धर्म, अर्थ और काम तीनों का संगम एक ही जगह होजाता है ॥५८॥

यक्ष बोले।

हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ ! अक्षय नरक किससे मिलता है यह प्रश्न जो मैं पूछता हूं इसका शीघ्र उत्तर दो ॥५९॥

युधिष्ठिर बोले ।

माँगने वाले दरिद्र ब्राह्मण को स्वयं बुला कर फिर नहीं है यह जो कहता है वह अक्षय नरक को जाता है ॥६०॥

वेद, धर्मशास्त्र, ब्राह्मण, देव, पितर और धर्म इन में जो श्रद्धा नहीं रखता वह अक्षय नरक को जाता है ॥ ६१ ॥

धन रहने पर भी लोभ से जो दान और भोग से रहित पुरुष पीछे नहीं है यह कहता है वह अक्षय नरक को जाता है ॥ ६२ ॥

यक्ष बोले ।

हे राजन् ! जन्म से, चरित्र से, वेदपाठ से, शास्त्र सुनने से वा पढ़ने से किससे ब्राह्मणपन होता है यह अतिनिश्चय करके कहो ॥ ६३ ॥

युधिष्ठिर बोले ।

हे यक्ष ! सुनो, ब्राह्मणपन में कारण न कुल है, न वेदपाठ और न विद्या पढ़ना, किन्तु सुचरित्र ही ब्राह्मणपन में कारण है इस में कोई संदेह नहीं है ॥ ६४ ॥

सच्चरित्र को यत्न से रखना चाहिये पर ब्राह्मण को तो विशेष करके, चरित्रवान् किसी तरह हीन नहीं कहा जाता पर चरित्रहीन नष्ट समान कहा जाता है ॥ ६५ ॥

पढ़ने पढ़ाने वाले और जो शास्त्रार्थ करने वाले सब ही व्यसनी और मूर्ख हैं, जो क्रियावान् है वही पंडित है ॥६६॥

चारों वेदों का जानने वाला भी दुश्चरित्र हो तो शूद्र से भी नीच है और जो अग्निहोत्र करने वाला और जितेन्द्रिय है वही ब्राह्मण है ॥ ६७ ॥

यक्ष बोले ।

प्रिय वचन बोलने वाला क्या पाता है, विचार कर कार्य करने वाला क्या पाता है, बहुत मित्र करने वाला क्या पाता है और धर्मात्मा पुरुष क्या पाता है, कहो ॥ ६८ ॥

युधिष्ठिर बोले ।

प्रिय वचन बोलने वाला सबका प्यारा होता है, विचार कर कार्य करने वाला सब से बड़ा होता है, बहुत मित्र करने वाला सुखी रहता है और धार्मिक पुरुष जो होता है वह अच्छी गति को पाता है ॥ ६९ ॥

यक्ष बोले ।

कौन प्रसन्न रहता है, आश्चर्य क्या है, मार्ग कौन है और वार्ता कौन है, मेरे चारों प्रश्नों का उत्तर दो तो आपके मृतक भाई जी उठें ॥ ७० ॥

युधिष्ठिर बोले ।

दिन रात में पांचवें (सायाह्न) या छठे (प्रदोष) काल में जो अपने घर में शाक पका कर खाता है, पर न किसी का ऋणी रहता है, न परदेश में रहता है, हे यक्ष ! वही प्रसन्न है ॥ ७१ ॥

यहां प्रतिदिन प्राणी मरते हैं, यह देख कर भी शेष जन अपने को स्थायी समझते हैं इससे बढ़कर आश्चर्य क्या है ॥ ७२ ॥

तर्क निश्चित रूप का नहीं है, श्रुतियां भी भिन्न भिन्न वचन कहती हैं और ऋषि भी एक नहीं है कि जिसका मत माना जाय, इससे धर्म का तत्व गुफा में छिपा है, इस दशा में बड़े लोग जिस मार्ग से गये हैं वही मार्ग है ॥ ७३ ॥

इस महामोहमय कड़ाह में सूर्यरूप अग्नि से रात्रि दिन रूप ईंधन से, महीना और ऋतुरूप करछुल से घोटने से काल प्राणियों को पकाता है, यही वार्ता है ॥ ७४ ॥

यक्ष बोले ।

हे शत्रुओं को तपाने वाले ! आपने मेरे प्रश्नों का यथार्थ उत्तर दिया, अब पुरुष जो सर्व स्वामी हो उसकी व्याख्या करो ॥ ७५ ॥

युधिष्ठिर बोले ।

पुण्य कर्म करने से जिसकी कीर्ति पृथ्वी और स्वर्ग में फैल जाती है और जबतक वह गाई जाती है तबतक वह पुरुष है ॥ ७६ ॥

प्रिय और अप्रिय, सुख और दुःख, भूत और भविष्य दोनों जिसको बराबर ज्ञात होते हैं वही सब से बड़ा धनी है ॥ ७७ ॥

यक्ष बोले ।

हे राजन् ! पुरुष और सब से बड़े धनी को भी आपने बतलाया इससे चारों भाइयों में से एक, जिसको आप चाहें, जी उठे ॥ ७८ ॥

युधिष्ठिर बोले ।

हे यक्ष ! जो यह नकुल श्यामवर्ण, लाल नेत्र, बड़े शाल-वृक्ष के समान ऊंचा, चौड़ी छाती वाला और बड़ी भुजा वाला है, जी उठे ॥ ७९ ॥

यक्ष बोले ।

हे राजन् ! यह भीमसेन आपको प्यारा है और अर्जुन आपको अति प्रिय है तो फिर सौतेले भाई नकुल को क्यों जीवित करना चाहते हो ॥ ८० ॥

दश हज़ार हाथियों में जितना बल होता है उतना बल जिस एक भीमसेन में है उसको छोड़ कर नकुल को क्यों जीवित करना चाहते हो ॥ ८१ ॥

और इन भीमसेन को लोग आपका प्रिय कहते हैं तो नकुल का विशेष प्रभाव क्या है जो तुम सौतेले भाई को जीवित करना चाहते हो ॥ ८२ ॥

सब पांडव जिसकी भुजा के बल का सहारा लेते हैं उस अर्जुन को छोड़ कर नकुल को क्यों जीवित करना चाहते हो ॥ ८३ ॥

युधिष्ठिर बोले ।

जो धर्म का नाश करता है, धर्म उसका नाश करता है और जो धर्म की रक्षा करता है धर्म उसकी रक्षा करता है इससे मैं धर्म नहीं छोड़ता कि छोड़ा हुआ धर्म मुझे न मारे ॥८४॥

सत्य कर के समता (सब को बराबर जानना) धर्म मुझे प्रिय है इससे हे यक्ष ! मैं दया करना चाहता हूं, नकुल जी उठे ॥ ८५ ॥

राजा युधिष्ठिर धर्मात्मा हैं, इस प्रकार सब मनुष्य मुझे सदा जानते हैं इससे मैं अपने धर्म से न हटूंगा, हे यक्ष ! नकुल जी उठे ॥ ८६ ॥

मेरे पिता की कुन्ती और माद्री दो स्त्रियां हैं दोनों पुत्र वाली हों यही मैंने बुद्धि से निश्चय किया है ॥ ८७ ॥

जैसी कुन्ती वैसी माद्री इनमें किसी एक में मेरा विशेष भाव नहीं है इससे दोनों माताओं को मैं बराबर चाहता हूं, हे यक्ष ! नकुल जीवित हो जाय ॥ ८८ ॥

यक्ष बोले ।

हे भरतवंशवालों में श्रेष्ठ ! जो आपको धन और काम भोग से समता ही अति प्रिय है इससे आप के सब भाई जीवित हो जायँ ॥ ८९ ॥

इति श्री महाभारते आरण्यके प० आरणेयपर्व० यक्षप्रश्ने त्रयोदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥

[१]

❀ तुलसीकृत रामायण ❀

श्री रामचन्द्रजी लक्ष्मणजी से कहते हैं—

चौपाई—रघुवंसिन्ह कर सहज सुभाऊ।
मन कुपंथ पग धरैं न काऊ॥

रघुवंशियों का जन्मसिद्ध स्वभाव है कि मन से कुमार्ग में कभी पैर नहीं रखते।

मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी।
जेहि सपनेहु परनारि न हेरी॥

मुझे अपने मन का पूर्ण विश्वास है, जो स्वप्न में भी पर-स्त्री नहीं देखता।

जिन्ह कै लहहिं न रिपु रन पीठी।
नहिं लावहिं पर-तिय मन डीठी॥
मंगन लहहिं न जिन्ह कै नाहीं।
ते नरवर थोरे जग माहीं॥

जिनकी पीठ को लड़ाई में शत्रु नहीं देखते, जो पर-स्त्री में मन और दृष्टि नहीं लगाते, मांगने वाले जिनसे निषेध को नहीं पाते ऐसे श्रेष्ठ मनुष्य जगत् में थोड़े ही हैं।

वाल्मीकिजी रामचन्द्रजी से कहते हैं—

सुनहु राम अब कहउं निकेता।
जहां बसहु सिय लषन समेता॥

हे राम! सुनो, अब स्थान कहता हूं जहां सीता और लक्ष्मण के साथ निवास करो।

जिन्ह के स्रवन समुद्र समाना।
कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे।
तिन्ह के हिय तुम्ह कहँ गृह रूरे॥

जिनके समुद्र के समान कान अनेक सुन्दर नदियों के समान आपकी कथाओं से निरंतर भरते रहते हैं, पर फिर भी पूर्ण नहीं होते, उन के हृदय में आपको घर करना अच्छा है।

लोचन चातक जिन्ह करि राखे।
रहहिं दरस जलधर अभिलाषे॥
निदरहिं सरित सिंधु सर भारी।
रूप बिंदु जल होहिं सुखारी॥
तिन्ह के हृदय सदन सुखदायक।
बसहु बंधु सिय सह रघुनायक॥

जिन्होंने नेत्रों को पपीहा कर रखा है, जो दर्शन-मेघ के इच्छुक रहते हैं, नदियां, सागर और बड़े सरोवरों का अनादर करते हैं रूप-बूंद जल पाकर सुखी होते हैं, उनके

मन-मंदिर में हे सुख देने वाले राम ! आप भाई और सीता सहित वास करो।

जसु तुम्हार मानस विमल, हंसिनि जीहा जासु।
मुकताहल गुन गन चुनइ, राम बसहु मन तासु॥

आपके यशरूप निर्मल मानस-सरोवर में जिसकी जिह्वा हंसी गुणसमूह मोतियों को चुगे, हे राम ! उसके मन में वास करो।

प्रभु प्रसाद शुचि सुभग सुवासा।
सादर जासु लहइ नित नासा॥
तुम्हहिं निवेदित भोजन करहीं।
प्रभुप्रसाद पट भूषन धरहीं॥
सीस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी।
प्रीति सहित करि विनय विसेषी॥
कर नित करहिं राम-पद पूजा।
राम भरोस हृदय नहिं दूजा॥
चरन रामतीरथ चलि जाहीं।
राम बसहु तिन्ह के मन माहीं॥

स्वच्छ, सुन्दर और सुगन्धित प्रभु के प्रसाद को बड़े आदर से जिसकी नाक नित्य पावे, जिस भोजन का आपको भोग लग चुका हो उसी को खायँ, आपके प्रसादभूत वस्त्राभूषण धारण करें, देवता, गुरु और ब्राह्मण को देख कर प्रेमसहित विशेष प्रार्थना करके जिनके शिर झुक जायँ,

हाथ नित्य राम के चरणों की पूजा करें, मन में राम का ही भरोसा रहे और नहीं, चरण रामतीर्थ को चले जाएँ, हे राम ! उनके मन में वास करो।

मंत्रराज नित जपहिं तुम्हारा।
पूजहिं तुम्हहिं सहित परिवारा॥
तरपन होम करहिं विधि नाना।
विप्र जेवाँइ देहिं बहु दाना॥
तुम्हतें अधिक गुरुहिं जिय जानी।
सकल भाय सेवहिं सनमानी॥
सब कर मांगहिं एक फल, रामचरन रति होउ।
तिन्ह के मन-मंदिर बसहु, सिय रघुनन्दन दोउ॥

नित्य आपके मंत्रराज को जपें, परिवार सहित आपको पूजें, अनेक प्रकार तर्पण और होम करें, ब्राह्मणों को भोजन कराकर बहुत दान दें, आप से अधिक गुरु को मन से जान कर आदरपूर्वक सब भाव से सेवें, सब का एक ही फल मांगें कि राम के चरणों में प्रीति हो, उनके मन-मंदिर में हे सीताराम ! आप दोनों वास करें।

काम कोह मद मान न मोहा।
लोभ न छोभ न राग न द्रोहा॥
जिन्ह के कपट दंभ नहिं माया।
तिन्ह के हृदय बसहु रघुराया॥

जिनके काम, क्रोध, मद, मान, मोह, लोभ, क्षोभ

(प्रकृति का बदल जाना), स्नेह, वैर, कपट, पाखंड और माया न हो, हे राम ! उनके मन में वास करो ।

सब के प्रिय सब के हितकारी ।
दुख सुख सरिस प्रशंसा गारी ॥
कहहिं सत्य प्रिय वचन विचारी ।
जागत सोवत सरन तुम्हारी ॥
तुम्हहिं छाड़ि गति दूसरि नाहीं ।
राम बसहु तिन्ह के मन माहीं ॥

सब के प्रिय हों, सब के हितकारी हों, सुख, दुःख, प्रशंसा और गाली तुल्य ज्ञात हों, विचार कर सत्य और प्यारी बात कहें, जगते और सोते आपकी शरण रहें, आप को छोड़ कर दूसरी गति न हो, हे राम ! उनके मन में रहो।

जननी सम जानहिं पर नारी ।
धन पराव विष तें विष भारी ॥
जे हरषहिं पर-संपति देखी ।
दुखित होहिं पर-विपति विसेखी ॥
जिन्हहिं राम तुम्ह प्रान पियारे ।
तिन्ह के मन शुभ सदन तुम्हारे ॥

पर-स्त्री को माता समान जाने, परधन को विष से भी बड़ा विष माने, दूसरे की संपत्ति देख कर जो प्रसन्न हों और दूसरे की विपत्ति में जो विशेष दुखी हों, हे राम ! जिनको आप प्राणों से भी अधिक प्यारे हों, उनके मन आपके सुंदर घर हैं ।

स्वामि सखा पितु मातु गुरु, जिनके सब तुम्ह तात।
मन-मंदिर तिन्ह के बसहु, सीयसहित दोउ भ्रात॥

हे तात ! जिनके स्वामी, मित्र, पिता, माता और गुरु सब आप ही हो, उनके मनमंदिर में सीता सहित दोनों भाई रहो।

अवगुन तजि सब के गुन गहहीं।
विप्र-धेनु-हित संकट सहहीं॥
नीति निपुण जिन्ह कइ जग लीका।
घर तुम्हार तिन्ह कर मन नीका॥

अवगुण छोड़ कर सब के गुणों को लें, ब्राह्मण और गौओं के लिये कष्ट सहें, नीति में निपुण हों, जिनकी जगत् में मर्यादा हो, उनका मन आपका सुंदर घर है।

गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा।
जेहि सब भांति तुम्हार भरोसा॥
रामभगत प्रिय लागहिं जेही।
तेहि उर बसहु सहित वैदेही॥

आपका गुण और अपना दोष समझे, जिसे सब तरह आपका भरोसा हो, जिसको राम के भक्त प्यारे लगें, उसके मन में सीता समेत रहो।

जाति पांति धन धरम बड़ाई।
प्रिय परिवार सदन सुखदाई॥

सब तजि तुम्हहिं रहइ लउलाई।
तेहि के हृदय रहहु रघुराई॥

जाति, पांति, धन, धर्म, बड़प्पन, प्यारा कुटुम्ब, सुख देने वाला घर सब को त्याग कर आप में ही लव लगा कर रहे, हे राम! उसके हृदय में रहो।

सरग नरक अपबरग समाना।
जहँ तहँ देख धरे धनुबाना॥
करम बचन मन राउर चेरा।
राम करहु तेहि के उर डेरा॥

स्वर्ग, नरक और मोक्ष जिसको समान हों, जहां तहां धनुर्बाणधारी आपको देखे और जो मन, वचन, कर्म से आप का सेवक हो, हे राम! उसके हृदय में आप डेरा करो।

जाहि न चाहिय कबहुं कछु, तुम सों सहज सनेह।
बसहु निरंतर तासु मन, सो राउर निज गेह॥

जिसको आपसे स्वाभाविक स्नेह को छोड़ कर और कुछ कभी न चाहिए, उसके मन में सदा रहो, वह आपका अपना घर है।

कह रिषिबधू सरस मृदु बानी।
नारि धरम कछु ब्याज बखानी॥

किसी बहाने से स्त्री-धर्म निरूपण करने के लिये ऋषि-पत्नी अनसूयाजी रसीली कोमल वाणी से बोलीं।

स्त्री के लिए एक ही धर्म और एक ही व्रत नियम है कि काया से, मन से, वचन से पति के चरणों में प्रेम करे।

जग पतिव्रता चारि विधि अहहीं।
वेद पुरान संत सब कहहीं॥

वेद, पुराण और सब सत्पुरुष कहते हैं कि जगत् में पतिव्रता चार प्रकार की हैं।

उत्तम मध्यम नीच लघु, सकल कहउं समुझाइ।
आगे सुनहिं ते तरहिं भव, सुनहु सीय चित लाइ॥

हे सीते ! तुम चित्त लगा कर सुनो—उत्तम, मध्यम, नीच और लघु ऐसी चार तरह की स्त्रियां हैं, उन सबको समझा कर कहता हूं, जो कोई आगे इसे सुनेंगे वे संसार से तर जायंगे।

उत्तम के अस बस मन माहीं।
सपनेहुं आन पुरुष जग नाहीं॥

उत्तम स्त्री के मन में ऐसा निश्चय हो जाता है कि उसके लिये जगत् में अपने पति के सिवा स्वप्न में भी और कोई पुरुष नहीं है।

मध्यम परपति देखइ कैसे।
भ्राता पिता पुत्र निज जैसे॥

मध्यम स्त्री दूसरी स्त्री के पति को कैसे देखती है जैसे अपना भाई, पिता या पुत्र हो।

धरम विचारि समुझि कुल रहई।
सो निकृष्ट तिय श्रुति अस कहई॥

जो स्त्री धर्म को विचार कर और कुल की रीति को समझ कर रह जाय वह स्त्री नीच है ऐसा वेद में कहा है।

बिनु अवसर भय तें रह जोई।
जानहु अधम नारि जग सोई॥

जो स्त्री अवसर न मिलने के कारण या डर से बच जावे वह स्त्री संसार में अधम है।

पति वंचक परपति रति करई।
रौरव नरक कलपसत परई॥
छन सुख लागि जनम सत कोटी।
दुख न समुझ तेहि सम को खोटी॥

जो स्त्री अपने पति से छल कर दूसरे पति से प्रेम करती है वह सौ कल्प पर्यन्त रौरव नरक में गिरती है।

क्षण भर के सुख के लिए सौ करोड़ जन्म में होने वाले दुःखों को जो न समझे, भला उसके बराबर खोटी और कौन हो सकती है।

बिनु श्रम नारि परम गति लहई।
पतिव्रत धरम छाँड़ि छल गहई॥

जो स्त्री छल को छोड़ कर पतिव्रत धर्म का पालन करती है, वह विना ही परिश्रम परमगति पा जाती है।

पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई ।
विधवा होइ पाइ तरुनाई ॥

जो पति सें प्रतिकूल रहती है वह कहीं भी जन्म ले पर तरुण अवस्था में आते ही विधवा हो जाती है ।

सहज अपावनि नारि, पति सेवत सुभगति लहइ ।
जस गावत श्रुति चारि, अजहूं तुलसी हरिहि प्रिय ॥

स्वभाव ही से अपवित्र स्त्री! पति-सेवा करते ही शुभ-गति को प्राप्त हो जाती है । देखो आजतक इस वात के यश को चारों वेद गाते हैं कि तुलसी विष्णुजी को प्यारी हैं ।

सुनु सीता तव नाम, सुमिरि नारि पतिव्रत करहिं ।
तोहि प्रानप्रिय राम, कहेउं कथा संसार हित ॥

हे सीता ! सुनो, स्त्रियां तुम्हारा स्मरण कर पतिव्रत धर्म आचरण करेंगी । तुम्हें रामचन्द्र प्राण समान प्रिय हैं अर्थात् तुम तो पतिव्रताओं की शिरोमणि हो, मैंने यह कथा संसार के हित के लिए कही है ।

मंगलरूप भयउ वन तब तें ।
कीन्ह निवास रमापति जब तें ॥
फटिकसिला अति सुभ्र सुहाई ।
सुख आसीन तहां दोउ भाई ॥

जब से लक्ष्मीपति भगवान् रामचन्द्र ने निवास किया तब से वह पर्वत और वन मंगलरूप हो गया । एक बहुत

ही सफ़ेद स्फटिक शिला थी, वहां दोनों भाई सुखपूर्वक आसन लगाकर बैठ गये।

कहत अनुज सन कथा अनेका ।
भगति बिरति नृप नीति विवेका ॥
बरषाकाल मेघ नभ छाये ।
गर्जत लागत परम सुहाये ॥

रामचन्द्रजी लक्ष्मणजी से भक्ति, वैराग्य, राजनीति और विचारपूर्ण अनेक कथाओं को कहने लगे। वर्षा-काल में आकाश में मेघ छा गये, वे गर्जना करते हुए बहुत ही सुहावने लगते थे।

लछिमन देखहु मोरगन, नाचत बारिद पेखि।
गृही बिरतिरत हरष जस, विष्णुभगत कहुं देखि ॥

रामचन्द्रजी ने कहा—लक्ष्मण ! देखो, ये मोर बादलों को देख कर कैसे नाचते हैं; जैसे वैराग्य में निरत कोई गृहस्थाश्रमी विष्णु के भक्त को देख कर प्रसन्न हो।

घन घमंड नभ गरजत घोरा ।
प्रियाहीन डरपत मन मोरा ॥
दामिनि दमकि रह न घन माहीं ।
खल की प्रीति यथा थिर नाहीं ॥

आकाश में बादल घुमड़ घुमड़ कर घोर गर्जना करते हैं, प्रिया के विना मेरा मन डरता है।

विजली बार बार चमकती है, पर वह बादलों में ठहरती नहीं; जिस तरह दुष्ट मनुष्य की प्रीति स्थिर नहीं होती।

बरषहिं जलद भूमि नियराये।
जथा नवहिं बुध विद्या पाये॥
बूंद अघात सहहिं गिरि कैसे।
खल के वचन संत सह जैसे॥

बादल पृथ्वी की ओर झुककर इस तरह बरसते हैं, जैसे पंडित लोग विद्या पाजाने पर नमते हैं, पहाड़ वर्षा की बूंदों के आघात को कैसे सहते हैं, जैसे सज्जन दुष्टों के वचन (फटकार) सह लें।

छुद्र नदी भरि चली तोराई।
जस थोरेहु धन खल इतराई॥
भूमि परत भा ढाबर पानी।
जनु जीवहि माया लपटानी॥

छोटी छोटी नदियां उमड़ कर इस तरह चलीं, जैसे दुष्ट मनुष्य थोड़ा सा भी धन मिल जाने पर उन्मत्त हो जाता है, पानी भूमि पर गिरते ही ऐसा मैला हो गया, मानो जीव से माया लिपट गई हो।

सिमिटि सिमिटि जल भरहि तलावा।
जिमि सदगुन सज्जन पहिं आवा॥
सरिता जल जलनिधि महुं जाई।
होइ अचल जिमि जिउ हरि पाई॥

पानी चारों ओर से इकट्ठा हो होकर तालाब को इस तरह भर रहा है, जैसे सद्गुण इकट्ठे हो होकर सज्जन के पास आये हों, नदियों का पानी समुद्र में जाकर इस तरह निश्चल हो जाता है जैसे जीव परमात्मा को पाकर स्थिर हो।

हरित भूमि तृनसंकुल, समुझि परहिं नहिं पंथ।
जिमि पाखंडवाद तें, गुप्त होहिं सद्ग्रंथ॥

घासों के जमाव से पृथ्वी हरी हो गई है, रास्ते देख नहीं पड़ते, जैसे पाखंड के बाद से अच्छे ग्रंथ गुप्त हो जाते हैं।

दादुर धुनि चहुं दिसा सुहाई।
वेद पढ़हिं जनु बटुसमुदाई॥
नव पल्लव भय विटप अनेका।
साधक मन जस मिले विवेका॥

चारों दिशाओं में मेंढकों की धुन ऐसी शोभित होरही हैं, मानो ब्रह्मचारियों का समूह वेद पढ़ रहा हो। अनेक वृक्ष नये पत्तों से ऐसे सुशोभित होगये, जैसे किसी साधन करने वाले को विचार मिल गया हो।

अर्क जवास पात बिनु भयऊ।
जस सुराज खल उद्यम गयऊ॥
खोजत कतहुं मिलइ नहिं धूरी।
करइ क्रोध जिमि धर्महिं दूरी॥

मदार, जवास बिन पत्तों का इस तरह होगया है, जैसे अच्छे राजा के राज्य में दुष्ट का उद्योग व्यर्थ होजाय। ढूँढ़ने पर भी कहीं धूल इस तरह नहीं मिलती, जैसे क्रोध धर्म को दूर कर देता है तब वह नहीं मिलता।

ससससम्पन्न सोह महि कैसी।
उपकारी कै सम्पति जैसी॥
निसि तम घन खद्योत विराजा।
जनु दंभिन कर मिला समाजा॥

अनेक धान्यों से संपन्न (भरी हुई) पृथ्वी कैसी शोभित होती है, जैसे उपकारी मनुष्य की संपत्ति शोभित हो। रात के घोर अंधेरे में जुगनू ऐसे चमकते हैं, मानो पाखंडियों का समाज जुटा हो।

महावृष्टि चलि फूटि कियारी।
जिमि सुतंत्र भये बिगरहिं नारी॥
कृषी निरावहिं चतुर किसाना।
जिमि बुध तजहिं मोह मद माना॥

भारी वर्षा होने पर क्यारियाँ (खेतों और तालावों की पालें या बांध) इस तरह फूट चलीं, जैसे स्वतंत्र होजाने पर स्त्रियाँ बिगड़ जाती हैं। चतुर किसान लोग खेती को इस तरह निराते (सुधारते, नाज के भीतर के घास कूड़े का अलग फेंकते) हैं, जैसे बुद्धिमान् लोग नाना प्रकार के मोह-मदों को त्याग देते हैं।

देखियत चक्रवाक खग नाहीं।
कलिहि पाइ जिमि धर्म पराहीं॥
ऊषर बरषइ तृन नहिं जामा।
जिमि हरिजन हिय उपज न कामा॥

आज कल चकवा पक्षी इस तरह नहीं दिखाई देते, जैसे कलियुग को पाकर धर्म भाग जायँ (न देख पड़ें)। ऊसर भूमि में वर्षा होने पर भी तृण नहीं उपजता, जैसे भगवद्भक्त के हृदय में काम (वासनायें) नहीं उत्पन्न होते।

विविध जंतुसंकुल महि भ्राजा।
प्रजा बाढ़ जिमि पाइ सुराजा॥
जहँ तहँ पथिक रहे थाकि नाना।
जिमि इन्द्रियगन उपजे ज्ञाना॥

पृथिवी बहुत से जीव-जंतुओं से भरी हुई ऐसी शोभित होरही है, जैसे अच्छा राज्य पाकर प्रजा बढ़े। जहां तहां अनेक राह चलनेवाले (बटोही) थक कर इस तरह विश्राम कर रहे हैं जैसे ज्ञान उत्पन्न होने पर इंद्रियगण स्थिर होजायँ।

कबहुँ प्रबल चल मारुत, जहँ तहँ मेघ बिलाहिं।
जिमि कपूत के उपजे, कुल सद्धर्म नसाहिं॥

कभी प्रबल हवा के चलने से बादल जहां तहां इस तरह बिला जाते (लोप होजाते) हैं, जैसे कुपूत के उत्पन्न होने पर वंश के श्रेष्ठ धर्म नष्ट होजायँ।

कबहुँ दिवस महुँ निबिड तम, कबहुँक प्रगट पतंग।
बिनसइ उपजइ ज्ञान जिमि, पाइ कुसंग सुसंग ॥

कभी दिन में भी घोर अंधेरा छा जाता है और कभी सूर्य प्रकट होजाता है, जैसे सत्संग पाकर ज्ञान बढ़ता और कुसंगत पाकर नष्ट होजाता है।

वरषा विगत सरद ऋतु आई।
लछिमन देखहु परम सुहाई॥
फूले काँस सकल महि छाई।
जनु वरषा ऋतु प्रगट बुढ़ाई॥

यों रामचंद्रजी ने वर्षाऋतु में वर्षा का वर्णन किया, फिर शरद्-ऋतु आजाने पर वे कहने लगे—

हे लक्ष्मण! देखो, वर्षा बीत गई और शरद्ऋतु आई, यह बहुत ही सुहावनी लगती है। सारी पृथ्वी पर कांस फूल कर छा गये। वे ऐसे मालूम होते हैं, मानो वर्षा-ऋतु का बुढ़ापा आगया हो।

उदित अगस्त पंथ जल सोखा।
जिमि लोभहि सोखइ संतोषा॥
सरिता सर निर्मल जल सोहा।
संत-हृदय जस गत मद मोहा॥

अगस्त्य का उदय होगया और रास्ते का जल ऐसा सूख गया जैसे संतोष लोभ को सुखादे। नदी और तालावों

में ऐसा स्वच्छ जल शोभित होरहा है, जैसे मद और मोह से शून्य सज्जनों का हृदय शोभित हो।

रस रस सूख सरित सर पानी।
ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी॥
जानि शरद-ऋतु खंजन आये।
पाइ समय जिमि सुकृत सुहाये॥

नदी और तालाबों का पानी धीरे धीरे ऐसा सूख चला, जैसे ज्ञानवान् मनुष्य धीरे धीरे ममता को त्यागते हैं। शरद्-ऋतु समझ कर खंजन पत्ती ऐसे आये हैं, जैसे कोई अवसर पाकर पुण्य अच्छे लगते हैं।

पंक न रेनु सोह असि धरनी।
नीति निपुन नृप कै जसि करनी॥
जल संकोच बिकल भइ मीना।
अबुध कुटुम्बी जिमि धनहीना॥

पृथ्वी पर न कीचड़, न धूल ही रही, इसलिए वह ऐसी सुहावनी लगती है, जैसे नीतिकुशल राजा की करतूत सुहावे। जल की कमी से मछलियाँ ऐसी व्याकुल होने लगीं, जैसे मूर्ख कुटुम्बी धनहीन होने से घबरावे।

बिनु घन निर्मल सोह अकासा।
हरिजन इव परिहरि सब आसा॥
कहुँ कहुँ वृष्टि सारदी थोरी।
कोउ एक पाव भगति जस मोरी॥

विना वादलों का निर्मल आकाश ऐसा शोभित होरहा है, जैसे सब आशाओं को छोड़कर भगवद्भक्त शोभित हो। कहीं कहीं शरद्-ऋतु की थोड़ीसी वर्षा होजाती है, जैसे मेरी भक्ति कोई ही पाता है।

चले हरषि तजि नगर नृप, तापस वनिक भिखारि।
जिमि हरिभगति पाइ स्रम, तजहिं आश्रमी चारि॥

राजा, तपस्वी, वनिये और भिखारी (भिक्षार्थी और संन्यासी) लोग प्रसन्न होकर नगर छोड़ कर ऐसे चले, (चातुर्मास्य में सब काम-काज बंद रहने से ये लोग अपने स्थानों में रुके रहते हैं) जैसे भगवद्भक्ति पाकर चारों आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) वाले श्रम (चिन्ता) करना छोड़ दें।

सुखी मीन जे नीर अगाधा।
जिमि हरिसरन न एकउ वाधा॥
फूले कमल सोह सर कैसा।
निर्गुन ब्रह्म सगुन भये जैसा॥

जो मीन गहरे पानी में हैं वे ऐसे सुखी हैं, जैसे भगवान् के शरणागत मनुष्यों को एक भी वाधा (पीड़ा) नहीं होती, तालावों में कमल खिल जाने से वे ऐसे शोभित हो रहे हैं, जैसे निर्गुण ब्रह्म सगुण हो जाने पर शोभित हो।

गुंजत मधुकर मुखर अनूपा।
सुंदर खगरव नाना रूपा॥

चक्रवाक मन दुख निसि पेखी ।
जिमि दुर्जन परसंपति देखी ॥

खूब बोलने वाले भौंरे अनुपम गूँज रहे हैं, अनेक तरह के सुंदर पक्षियों के शब्द हो रहे हैं, चकवे के मन में रात देख कर ऐसा दुःख होता है, जैसे दुष्ट मनुष्य को दूसरे की संपत्ति देख कर हो ।

चातक रटत तृषा अति ओही ।
जिमि सुख लहइ न संकर द्रोही ॥
सरदातप निसि ससि अपहरई ।
संत दरस जिमि पातक टरई ॥

जैसे शंकर से द्रोह करने वाला सुख नहीं पाता इसी तरह पपीहा रट रहा है, उसे बड़ी प्यास है, पर शान्ति का उपाय नहीं । रात के समय शरद्-ऋतु के ताप को चन्द्रमा ऐसे मिटाता है, जैसे सन्तों का दर्शन पापों को ।

देखि इंदु चकोर समुदाई ।
चितवहिं जिमि हरिजन हरि पाई ॥
मसकदंस बीते हिम त्रासा ।
जिमि द्विज द्रोह किये कुलनासा ॥

चकोर पक्षियों का समूह चन्द्रमा को इस तरह देख रहा है, जैसे भगवद्भक्त भगवान् को पाकर देखे । मच्छर और डांस ठंढ के दुःख से ऐसे नष्ट हो गये, जैसे ब्राह्मण से द्वेष करने पर कुल नष्ट हो ।

भूमि जीव संकुल रहे, गये शरद ऋतु पाय।
सद्गुरु मिले जाहिं जिमि, संसय भ्रम समुदाय॥

पृथ्वी पर जो बहुत से जीव-जंतु इकट्ठे हो रहे थे, वे सब ऐसे चले गये, जैसे अच्छा गुरु मिल जाने पर शिष्य का संदेह और भ्रमों का समूह मिट जाय।

जो संपति सिव रावनहिं, दीन्हि दिये दस माथ।
सो संपदा विभीषनहिं, सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥

शिवजी ने जो संपत्ति रावण को दश शिर देने पर दी, वही संपत्ति विभीषण को रामचन्द्रजी ने संकोचपूर्वक दी।

सुनहु सखा कह कृपानिधाना।
जेहि जय होइ सो स्यंदन आना॥

दयानिधान रामचन्द्रजी विभीषण से कहते हैं कि हे मित्र ! सुनो, जिससे जीत होती है वह रथ दूसरा है।

सौरज धीरज तेहि रथ चाका।
सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥
बल विवेक दम परहित घोरे।
छमा कृपा समता रजु जोरे॥

(वह रथ ऐसा है) उस रथ के वीरता और धैर्य ये दो पहिये हैं, सत्य और शील दृढ़ ध्वजा और पताका हैं, बल, विचार, इन्द्रियों को वश में रखना और दूसरे का हित करना ये चार घोड़े हैं जो क्षमा, कृपा और समता रूपी रस्सियों से उस रथ में जोड़े हुए हैं।

ईस भजन सारथी सुजाना।
विरति चर्म संतोष कृपाना॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा।
वर विज्ञान कठिन कोदंडा॥

ईश्वर का भजन चतुर सारथि है, वैराग्य ढाल और संतोष तलवार है, दान फरसा, बुद्धि प्रचंड शक्ति और श्रेष्ठ विज्ञान कठोर धनुष है।

अमल अचल मन त्रोन समाना।
सम जम नियम सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद विप्र गुरु पूजा।
एहि सम विजय उपाय न दूजा॥

निर्मल और निश्चल मन तर्कस है उसमें शम, यम और नियम रूपी अनेकों बाण भरे हुए हैं, ब्राह्मण और गुरु की पूजा अभेद्य कवच है, इसके समान विजय का दूसरा उपाय नहीं है।

सखा धर्ममय अस रथ जा के।
जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताके॥

हे मित्र! जिस के पास ऐसा धर्ममय रथ है उसके शत्रु जीतने के लिये कहीं बाक़ी नहीं हैं किन्तु जीते जिताये हैं।

संत असंतन्ह कै असि करनी।
जिमि कुठार चंदन आचरनी॥

काटइ परसु मलय सुनु भाई ।
निज गुन देइ सुगंध बसाई ॥

सज्जनों और दुष्टों की ऐसी करतूत होती है, जैसे कुल्हाड़े और चन्दन का आचरण, हे भाई ! सुनो, कुल्हाड़ा चंदन को काटता है पर वह अपना सुगंध गुण देकर उसको सुगंधित कर देता है ।

ता तें सुर सीसन्हि चढ़त, जगवल्लभ श्रीखंड ।
अनल दाहि पीटत घनहिं, परसु बदन यह दंड ॥

इससे संसार का प्यारा चन्दन देवताओं के सिर पर चढ़ता है और कुल्हाड़े का मुंह आग में जला कर हथौड़े से पीटा जाता है, यह दंड उसको मिलता है ।

※ रामचन्द्रिका ※

[२]

मात को मोह न द्रोह दुमात को,
ना कछु तात के गात दहे को ।
प्रान को छोह न बंधु बिछोह न,
राज को मोह न ओधि गये को ।
नैक न "केशव" आवत जीव में,
ना कछु सीत वियोग सहे को ।
ता रन-भूमि में राम कह्यौ,
मोहि सोच विभीषण भूप कहे को ॥

न मुझे माता का मोह है, न दूसरी माता का वैर है, न पिता के शरीर के भस्म होने का सोच है, न प्राणों का प्रेम है, न भाई के वियोग का दुःख है, न अवध के राज्य के जाने का शोक है, केशवदास कहते हैं कि उस रणभूमि में रामचंद्रजी ने कहा कि सीता का वियोग सहने का दुःख भी मेरे मन में तनिक नहीं आता है पर मुझे इस समय एक ही सोच सता रहा है जो मैंने विभीषण को राजा कह दिया है। यह रामचन्द्रजी की दृढ़ प्रतिज्ञा है।

पोढण कौं तृण के पथरे अरु,
ओढन को पट द्वै बकली के।
भोजन याम मिलै कबहूं,
कबहूँक भखैं फल द्वै कदली के।
सम्पति को परवेश यहै रु,
महादुख देह विदेहलली के।
ता दिन लंक दई जु विभीषण,
हाथ बदौं रघुनाथ बली के॥

लेटने के लिए तृण के वस्त्र, ओढ़ने के लिए वल्कल के दो वस्त्र हैं, कभी समय पर भोजन मिलता है, कभी केले के दो फल खाते हैं, बस सम्पत्ति तो इतनी ही है और शरीर में जानकी के वियोग का महादुःख है, जब यह दशा थी उस दिन बलवान् रामचन्द्रजी ने अपने हाथ से विभीषण को लंका दी, इससे उनके अद्वितीय दानी होने की प्रशंसा है।

* दादूजी की वाणी *

[३]

भूमिका

यहां पर श्री दादूदयालजी की प्रसिद्ध वाणी से विनती का अंग उल्लेख किया जाता है जिसका हेतु यह है कि विनती करने से ही मनुष्य का हृदय शुद्ध होता है और जब ज़मीन शुद्ध है तो बीज उत्पन्न होने में समय नहीं लगता।

दादूदयाल का जन्म अहमदाबाद में सं० १६०१ में हुआ, पिता का नाम विनोदीराम नागर ब्राह्मण था। असली नाम दाऊ भट्ट था, इनको बालकपने में श्रीकृष्ण ने वृद्ध पुरुष बनकर उपदेश दिया। अहमदाबाद से पाली आये यहां इनकी इच्छा के विरुद्ध इनका विवाह हुआ, फिर यह सांभर आगये, सांभर में इन्होंने बहुत तपस्या की, इनका तेजोबल बढ़ा, सांभर में कई परचे दिखलाये, फिर वहां से चलकर आमेर आये, आमेर में इनकी करामात से लोग इनके भक्त हुये, महाराज तक इनका सम्मान हुआ, फिर अनेक स्थानों में इन्होंने भ्रमण किया और इनके हज़ारों शिष्य होगये, इनके शिष्यों में टीला, मोहन, दफतरी, दरयाई, सन्तदास, बड़े सुन्दरदास, रज्जबजी, इनके पुत्र गरीबदासजी, मिस्कीनदासजी, इनकी दोनों पुत्रियां हव्वा बाई, शव्वा बाई, सुन्दरदासजी बूसर, जगन्नाथजी, जगजीवनजी,

जग्गाजी आदि बावन शिष्य बहुत प्रसिद्ध हुए। इनकी जन्म-लीला में यह भी लिखा है कि यह अकबर बादशाह से फतहपुर सीकरी में मिले, इनकी करामात से अकबर बहुत चकित हुआ, अकबर के प्रश्न पर पहले–'पहले अरण हुआ कि हथोड़ा' दादूजी का जो उत्तर है वह यह है:—

"एक सबद में सो किया, ऐसा समरथ सोइ।
आगे पीछे सो करे, सो बलहीना होइ॥"

अकबर ने कबीरजी की बड़ाई की उस पर यह जवाब दिया—

"चिड़ी चंच भर ले गई, नीर न घट नहिं जाय।
ऐसा बासण ना किया, दरिया मांहि समाय॥

और बहुतसी बातें हुईं सो उनके जीवन में प्रसिद्ध हैं, दिल्ली से लौटते हुए अनेक स्थानों में होकर दौसा आये, वहां से निराणे आये, निराणे में बहुत दिनों पाल के ऊपर एक कुटी में डेरा रहा, निराणे के खंगारोत सरदारों ने इनका बड़ा सम्मान किया, आखिर सं० १६६० में इनका देहावसान हुआ, इनका कबीरजी जैसा ही निश्चय था कि मृतक शरीर को न गाड़ना चाहिये न जलाना चाहिये।

साधु, सूर, सोहे मैदाना।
तिनको नाहिं गौर मसाना॥

कबीर मरना तहां भला, जहां अपना नहिं कोइ।
माटी भखै जिनावरा मुद्दां न रोवै कोइ॥

हरि भज साफल जीवणा, पर-उपकार समाय ।
दादू मरना तहां भला, जहां पशु पंछी खाय ॥

अन्त समय में शिष्यों ने चिन्ता की दादूजी ने कहा कि मेरे शरीर पर हाथ फेरो, तो शिष्यों का हाथ उनके शरीर में होकर निकल गया जिस पर यह साखी कही गई जिसका पहला पद यह है—

"दादू और कबीर की काया भई कपूर"

दादूजी की इच्छानुसार उनके शव को पालकी में रख कर भैराणे के डूंगर के खोले में लेगये वहां अद्यापि स्थान बना हुआ है और दादू-पंथी यात्रा के लिये जाते हैं ।

अथ

श्री स्वामी दादूकृत वीनती को अङ्ग लिख्यते

दादू नमो नमो निरंजनं । नमस्कार गुरुदेवत: ॥
वन्दनं सर्व साधवा: । प्रणामं, पारंगत: ॥ १ ॥
दादू बहुत बुरा किया । तुम्हें न करणा रोष ।
साहिब समाई का धणी । बन्दे को सब दोष ॥२॥
दादू बुरा बुरा सब हम किया । सो मुख कह्या न जाय॥
निर्मल मेरा साइयां । ताकों दोष न लाय ॥ ३ ॥
साईं सेवा चोर मैं । अपराधी बन्दा ॥
दादू दूजा को नहीं । मुझ सरीखा गन्दा ॥ ४ ॥

दादू तिल २ का अपराधी तेरा। रती रती का चोर॥
पल २ का मैं गुनही तेरा। वकसहु औगुन मोर॥५॥
महापराधी एक मैं। सारे इहिं संसार॥
औगुण मेरे अति घणे। अन्त न आवै पार॥ ६॥
वेमरजादा मिति नहीं। ऐसे किये अपार॥
मैं अपराधी वापजी। मेरे तुमही एक अधार॥७॥
दोष अनेक कलंक सब। बहुत बुरा मुझ मांहि॥
मैं किये अपराध सब। तुम तें छाना नाहिं॥ ८॥
गुनहगार अपराधी तेरा। भाजि कहां हम जांहि॥
दादू देख्या सोधि सब। तुम विन कहीं न समांहि॥९॥
आदि अन्तलौं आयकर। सुकृत कछू न कीन्ह॥
माया मोह मद मत्सरा। स्वाद सबै चित दीन्ह॥१०॥
काम क्रोध संशय सदा। कबहू नाम न लीन्ह॥
पाखंड प्रचंड पाप मैं। दादू ऐसे खीन्ह॥ ११॥
दादू वहु वन्धन से वँधिया। एक विचारा जीव॥
अपने वल छूटै नहीं। छोडणहारा पीव॥ १२॥
दादू वन्दीवान है। तू वन्दि छोडि दिवान॥
अव जिनि राखो वन्दि मैं। मीरां मिहरवान॥ १३॥
दादू अन्तर कालिमा। हिरदै वहुत विकार॥
परगट पूरा दूर करि। दादू करै पुकार॥ १४॥
सव कुछ व्यापै रामजी। कुछ छूटा नाहीं॥
तुम तें कहां छुपाइये। सवही देखो माहीं॥ १५॥

सकल साल मनमें रहै । राम विसर क्यों जाय ॥
यह दुख दादू क्यों सहै । साईं करो सहाय ॥१६॥
राखणहारा राखि तू । यह मन मेरा राख ॥
तुम विन दूजा को नहीं । साधू वोलै साखि ॥१७॥
माया विषय विकार तैं । मेरा मन भागै ॥
सोई कीजे सांइया । तू मीठा लागै ॥ १८ ॥
साईं दीजे सो रती । तू मीठा लागै ॥
दूजा खारा होय सव । सूता जिव जागै ॥ १६ ॥
ज्यों आपै देखे आपकों । सो नैना दे मुझ ।
मीरां मेरा मिहर कर । दादू देखै तुझ ॥ २० ॥
दादू पछतावा रह्या । सकै न ठाहर लाय ॥
अरथ न आया रामकै । यह तन योंहीं जाय ॥२१॥
दादू कहि दिन २ नौतम भक्ति दे । दिन २ नौतम नांउ ॥
दिन २ नौतम नेह दे । मैं वलिहारी जांउ ॥ २२ ॥

साईं संशय दूर करि ।
करि शंका का नाश ॥
भानि भरम दुवध्या दुखदारुण ।
समता सहज प्रकाश ॥ २३ ॥

नाहीं परगट ह्वै रह्या । है सो रह्या लुकाय ॥
सइंयां परदा दूर कर । तू ह्वै प्रगट आय ॥ २४ ॥
दादू माया परगट हो रही । यों जे होता राम ॥
अरस परस मिल खेलते । सव जीव सबही ठाम ॥२५॥

दया करै तब अङ्ग लगावै। भक्ति अखंडित देवैं॥
दादू दरसन आप अकेला। दूजा हरि सब लेवै॥२६॥
दादू साध सिखावै आत्मा। सेवा दृढ कर लेइ॥
पारब्रह्म सों बीनती। दया कर दर्शन देइ॥ २७॥
साहिब साध दयाल है। हम हीं अपराधी॥
दादू जीव अभागिया। अविद्या साधी॥ २८॥
सब जीव तोरें राम सों। पै राम न तोरै॥
दादू काचे ताग ज्यों। टूटै त्यों जोरै॥ २९॥
फूटा फेरि सँवारि करि। ले पहुंचावै ओर॥
ऐसा कोई नां मिले। दादू गई बहोर॥ ३०॥
ऐसा कोई नां मिलै। तन फेर सवांरै॥
बूढे तैं बाला करै। खै काल निवारै॥ ३१॥
गलै विलै करि वीनती। एक मेक अरदास॥
अरस परस करुणा करै। तब दरबै दादू दास॥३२॥
सांई तेरे डर डरों। सदा रह्यो भय भीत॥
अजासिंह जों भय घणां। दादू लीया जीत॥ ३३॥
दादू पलक मांहि प्रगट सही। जे जन करै पुकार।
दीन दुखी तब देखि कर। अति आतुर तिहि बार॥३४॥
आगे पीछे संग रहै। आप उठायें भार॥
साधु दुखी तब हरि दुखी। ऐसा सिरजनहार॥३५॥
सेवक की रक्षा करै। सेवक की प्रतिपाल॥
सेवक की वा हरि चढै। दादू दीन दयाल॥ ३६॥

काया नाव समुद्र में । औघट बूड़ै आय ॥
इहिं औसर इक अगाध विन । दादू कोन सहाय ॥३७॥
यह तन भेरा भौजला । क्यों कर लंघे तीर ।
खेवट विन कैसें तिरै । दादू गहर गंभीर ॥ ३८ ॥
पिंड पिरोहन सिंधुजल । भवसागर संसार ॥
राम विना सूझै नहीं । दादू खेवन हार ॥ ३९ ॥
यह घट वोहिथ धारमें । दरिया वार न पार ॥
मै भीत भयानक देखि कर । दादू करी पुकार ॥४०॥
कलियुग घोर अँधार है । तिसका वार न पार ॥
दादू तुझ विन क्यों तिरै । समरथ सिरजनहार ॥४१॥
काया के वस जीव सव । कसि कसि वँध्या मांहि ॥
दादू आतम राम विन । क्योंही छूटे नांही ॥ ४२ ॥
दादू प्राणी वंध्या पंचसों । क्यों ही छूटै नांहि ॥
नीधणियां यां मारिये । यह जीव काया माहि ॥४३॥
दादू कह तुम विन धणी न धोरी जीव का ।
यौंही आवै जाय ॥
जे तू साईं सत्य है ।
तो वेगा प्रगट आय ॥ ४४ ॥
निर्धणियां यां मारिये । धणी न धोरी कोय ॥
दादू सो क्यों मारियै । साहिव शिर पर होय ॥४५॥
राम विमुख जुगि जुगि दुखी । लख चौरासी जीव ॥
जा में मरै जग आवटै । राखणहारा पीव ॥ ४६ ॥

समरथ सरजनहार है। जो कुछ करै सो होय॥
दादू सेवक राखि लै। काल न लागै कोय॥ ४७॥
साईं सांचा नाम दे। काल झाल मिट जाय॥
दादू निर्भै ह्वै रहै। कबहूं काल न खाय॥ ४८॥
कोई नहिं करतार विन। प्राण उधारणहार॥
जियरा दुखिया राम बिन। दादू इहिं संसार॥४६॥
जिनकी रक्षा तू करै। ते उवरैं करतार॥
जे तू छांडै हाथतें। ते डूवैं संसार॥ ५०॥
राखणहार एक तू। मारणहार अनेक॥
दादू कै दूजा नहीं। तू आपैं ही देख॥ ५१॥
दादू जग ज्वाला जमरूप है। साहिब राखणहार॥
तुम विच अन्तर जिन पडै। तातें करों पुकार॥५२॥
दादू जहां तहां विषय विकार तैं। तुमही राखणहार॥
तन मन तुमकों सोंपिया। सांचा सरजनहार॥५३॥
दादू कह गर्क रसातल जात है। तुम विन सब संसार॥
कर गहि करता काढिलै। दे अवलंबन आधार॥५४॥
दादू दौं लागी जग प्रज्वलै। घट घट सब संसार॥
हमतें कछू न होत है। तू बर्ष वुझावणहार॥ ५५॥
दादू आतम जीव अनाथ सव। करतार उवारैं॥
राम निहोरा कीजिये। जिन काहू मारैं॥ ५६॥
अरस जमीं औजूद में। तहां तपै अफताप॥
सव जग जलता देखिकर। दादू पुकारै साध॥५७॥

सकल भवन सब आत्मा निर्विष कर हरलेइ ॥
पड़दा है सो दूर कर । कुसमल रहण न देइ ॥५८॥
तन मन निर्मल आत्मा । सब काहू की होय ॥
दादू विषय विकार की । बात न बूझै कोय ॥ ५६ ॥
समरथ धोरी कन्ध धर । रथले और निवाह ॥
मारिग मांहि न मेलिये । पीछे विडद लजाय ॥६०॥
दादू गगन गिरै तब को धरै । धरती धरै छाडै ॥
जे तुम छांडहु रामरथ । कंध को माढै ॥ ६१ ॥
अन्तरजामी एक तू । आतम के आधार ॥
जो तुम छांडहु हाथ तें । तो कौन सँवाहणहार॥६२॥
तेरा सेवक तुम लगै । तुमहीं माथै भार ॥
दादू डूबत रामजी । वेगि उतारो पार ॥ ६३ ॥
सत छूटा सूरातन गया । बल पौरष भागा जाय ॥
कोई धीरज ना धरै । काल पहूंचा आय ॥ ६४ ॥
संगी थाके संग के । मेरा कछु न वसाय ॥
भाव भक्ति धन लूटिये । दादू दुखी खुदाइ ॥ ६५ ॥
दादू जियरे जक नहीं । विसराम न पावै ॥
आतम पाणी लूणज्यों । ऐसे होइ न आवै ॥ ६६ ॥
दादू कह तेरी खूबी खूब है । सब नीका लागै ॥
सुन्दर शोभा काढी लै । सब कोई भागै ॥ ६७ ॥
तुमहो तैसी कीजिये । तो छूटैंगे जीव ॥
हम हैं ऐसी जिन करो । मैं सदके जाउं पीव ॥६८॥

अनाथों का आसरा । निरधारो आधार ॥
निर्धन के धन राम है । दादू सिरजनहार ॥ ६९ ॥
साहिब दरि दादू खडा । निशि दिन करै पुकार ॥
मीरां मेरा महर करि । साहिब दे दीदार ॥ ७० ॥
दादू प्यासा प्रेम का । साहिब राम पिलाय ॥
परगट प्याला देहु भरि । मृतक लेहु जिलाय ॥७१॥
अल्ला आले नूर का । भर भर प्याला देहु ॥
हमको प्रेम पिलाय कर । मतवाला कर लेहु ॥७२॥
तुम को हम से बहुत हैं । हमको तुम से नांहि ॥
दादू को जिन परिहरो । तू रहु नैनहु मांहि ॥ ७३ ॥
तुम ते तबही होइ तब । दरस परस दर हाल ॥
हम ते कबहु न होयगा । जे बीतहि जुग काल ॥७४॥
तुमहीं ते तुम को मिलै । एक पलक में आय ॥
हम ते कबहु न होयगा । कोटि कल्प जो जाय ॥७५॥
साहिब सूं मिल खेलते । होता प्रेम सनेह ॥
दादू प्रेम सनेह बिन । खरी दुहेली देह ॥ ७६ ॥
साहिब से मिल खेलते । होता प्रेम सनेह ॥
परगट दरशन देखते । दादू सुखिया देह ॥ ७७ ॥
तुम को भावैं और कुछ । हम कुछ किया और ॥
महर करो तो छूटिये । नहीं तो नाहीं ठोर ॥ ७८ ॥
मुझ भावैं सो मैं किया । तुझ भावै सो नांहि ॥
दादू गुनहगार है । मैं देख्या मन मांहि ॥ ७९ ॥

खुशी तुम्हारी त्यों करो । हम तो मानी हार ॥
भावै बंदा बकसिये । भावै गहि कर मार ॥८०॥
दादू जे साहिब लेखा लिया ।
तो शीश काट सूली दिया ॥
महरिमयाकरफलकिया ।
तो जिये जिये करि जिया ॥ ८१ ॥

इति श्री स्वामी दादूकृत विनती का अङ्ग सम्पूर्णम् ॥

अंग्रेज़ी-संग्रह

[१]

ॐ बाइबिल ॐ

यीशुमसीह के उपदेश—

धन्य हैं वे जो नम्र हैं क्योंकि वे पृथ्वी के अधिकारी होंगे।

धन्य हैं वे जिन के मन शुद्ध हैं क्योंकि वे परमेश्वर को देखेंगे।

हे कपटी शास्त्रियो और फरीसियो तुम पर हाय तुम पोदीने और सौंफ और जीरे का दसवां अंश देते हो पर तुमने व्यवस्था की भारी भारी बातों को अर्थात् न्याय और दया और विश्वास को छोड़ दिया है। चाहिए था कि इन्हें भी करते रहते और उन्हें भी न छोड़ते। हे अंधे अगुवो जो मच्छर को तो छान डालते हो पर ऊंट को निगल जाते हो।

तुम पर हाय तुम कटोरे और थाली को ऊपर ऊपर तो मांजते हो पर वे भीतर अंधेर और असंयम से भरे हैं।

हे अंधे फरीसी पहिले कटोरे और थाली के भीतर साफ कर कि वे बाहर भी साफ हों।

तुम पर हाय तुम चूना फेरे हुए क़ब्रों के समान हो जो ऊपर से तो सुंदर दिखाई देती हैं पर भीतर मुरदों की

हड्डियों और सब प्रकार की मलिनता से भरी हैं। इसी रीति से तुम भी ऊपर से मनुष्यों को धर्मी दिखाई देते हो पर भीतर कपट और अधर्म से भरे हो।

यह न समझो कि मैं व्यवस्था या नबियों के लेखों को लोप करने आया हूं। लोप करने नहीं पर पूरा करने आया हूं।

तुमने सुना है कि अगलों को कहा गया था कि खून न करना और जो कोई खून करे वह कचहरी में दंड के योग्य होगा। पर मैं तुम से कहता हूं कि जो कोई अपने भाई पर क्रोध करे वह कचहरी में दंड के योग्य होगा और जो कोई अपने भाई से कहे अरे निकम्मा वह महासभा में दंड के योग्य होगा और जो कोई कहे अरे मूर्ख वह नरक की आग के दंड के योग्य होगा। सो यदि तू अपनी भेट बेदी पर लाये और वहां स्मरण करे कि मेरे भाई के मन में मेरी ओर कुछ विरोध है तो अपनी भेट वहां बेदी के सामने छोड़ कर चला जा। पहले अपने भाई से मेल कर तब आकर अपनी भेट चढ़ा।

तुमने सुना है कि कहा गया था कि व्यभिचार न करना। पर मैं तुम से कहता हूं जो कोई बुरे मन से किसी स्त्री को देखे वह अपने मन में उससे व्यभिचार कर चुका।

चौकस रहो कि तुम मनुष्यों के सामने दिखाने के लिए अपने धर्म के काम न करो नहीं तो अपने स्वर्गीय पिता से कुछ फल न पाओगे।

इसलिए जब तू दान करे तो अपने आगे तुरही न फुंकवा जैसा कपटी सभाओं और गलियों में करते हैं कि लोग उनकी बड़ाई करें मैं तुमसे सच कहता हूं वे अपना फल पा चुके। पर जब तू दान करे तो जो तेरा दाहिना हाथ करता है तेरा बायां हाथ न जानने पाये कि तेरा दान गुप्त में हो और तेरा पिता जो गुप्त में देखता है तुझे बदला देगा।

जब तू प्रार्थना करे तो कपटियों के समान न हो क्योंकि लोगों को दिखाने के लिए सभाओं में और सड़कों के मोड़ों पर खड़े होकर प्रार्थना करना उनको भाता है। मैं तुमसे सच कहता हूं वे अपना फल पाचुके। पर जब तू प्रार्थना करे तो अपनी कोठरी में जा और द्वार मूंद कर अपने पिता से जो गुप्त में है प्रार्थना कर और तेरा पिता जो गुप्त में देखता है तुझे बदला देगा। प्रार्थना करने में अन्य जातियों की नाईं बकबक न करो क्योंकि वे समझते हैं कि हमारे बहुत बोलने से हमारी सुनी जाएगी। सो तुम उनकी नाईं न बनो क्योंकि तुम्हारा पिता तुम्हारे मांगने से पहिले जानता है तुम्हें क्या क्या चाहिए।

कोई दो स्वामियों की सेवा नहीं कर सकता क्योंकि वह एक से वैर और दूसरे से प्रेम रक्खेगा या एक से मिला रहेगा और दूसरे को हलका जानेगा। तुम परमेश्वर और धन दोनों की सेवा नहीं कर सकते।

दोष न लगाओ कि तुम पर दोष न लगाया जाए। क्योंकि जैसे तुम दोष लगाते हो वैसा ही तुम पर लगाया जायगा और जिस नाप से तुम नापते हो उसी से तुम्हारे लिए नापा जायगा।

पवित्र वस्तु कुत्तों को न दो और न अपने मोती सुअरों के आगे डालो ऐसा न हो कि वे उन्हें पांवों तले रौंदें और फिर कर तुम को फाड़ें।

मांगो तो तुम्हें दिया जायगा, ढूंढो तो तुम पाओगे, खटखटाओ तो तुम्हारे लिए खोला जायगा। क्योंकि जो कोई मांगता है उसे मिलता है और जो ढूंढता है वह पाता है और जो खटखटाता है उसके लिए खोला जायगा।

जो कुछ तुम चाहते हो कि लोग तुम्हारे साथ करें तुम भी उनके साथ वैसा ही करो क्योंकि व्यवस्था और नबियों की शिक्षा यही है।

सकेत फाटक से प्रवेश करो क्योंकि चौड़ा है वह फाटक और चाकल है वह मार्ग जो विनाश को पहुंचाता है और बहुतेरे हैं जो उससे प्रवेश करते हैं। क्योंकि सकेत है वह फाटक और सकरा है वह मार्ग जो जीवन को पहुंचाता है और थोड़े हैं जो उसे पाते हैं।

झूठे नबियों से चौकस रहो जो भेड़ों के भेष में तुम्हारे पास आते हैं पर अंतर में फाड़ने वाले भेड़िये हैं। उनके फलों से उनको पहचानोगे।

न हरएक जो मुझसे हे प्रभु हे प्रभु कहता है स्वर्ग के राज्य में प्रवेश करेगा पर वही जो मेरे स्वर्गीय पिता की इच्छा पर चलता है।

इसलिए जो कोई मेरी ये बातें सुन कर उन्हें माने वह बुद्धिमान मनुष्य की नाईं ठहरेगा जिसने अपना घर चटान पर बनाया और मेंह बरसा और बाढ़ें आईं और आंधियां चलीं और उस घर पर लगीं पर वह नहीं गिरा क्योंकि उसकी नेव चटान पर डाली गई थी।

वैद्य भले चंगों को नहीं पर बीमारों को अवश्य है। पर तुम जाकर इसका अर्थ सीख लो कि मैं बलिदान नहीं पर दया चाहता हूं क्योंकि मैं धर्मियों को नहीं पर पापियों को बुलाने आया हूं।

जो शरीर को घात करते हैं पर आत्मा को घात नहीं कर सकते उनसे न डरना पर उसी से डरो जो आत्मा और शरीर दोनों को नरक में नाश कर सकता है।

हे सब थके और बोझ से दबे लोगो! मेरे पास आओ मैं तुम्हें विश्राम दूंगा। मेरा जूआ अपने ऊपर उठालो और मुझ से सीखो क्योंकि मैं नम्र और मन में दीन हूं और तुम अपने मन में विश्राम पाओगे। क्योंकि मेरा जूआ सहज और मेरा बोझ हलका है।

उसने उन के मन की बात जान कर उनसे कहा जिस किसी राज्य में फूट होती है वह उजड़ जाता है और कोई नगर वा घराना जिस में फूट होती है बना न रहेगा।

ये लोग होठों से तो मेरा आदर करते हैं पर उनका मन मुझसे दूर रहता है। और ये व्यर्थ मेरी उपासना करते हैं क्योंकि मनुष्यों की विधियों को धर्मोपदेश कर के सिखाते हैं।

ठोकरों के कारण संसार पर हाय ठोकरों का लगना अवश्य है पर हाय उस मनुष्य पर जिसके द्वारा ठोकर लगती है। यदि तेरा हाथ या तेरा पैर तुझे ठोकर खिलाए तो उसे काटकर फेंक दे टुंडा या लंगड़ा होकर जीवन में प्रवेश करना तेरे लिए इससे भला है कि दो हाथ या दो पांव रहते हुए तू अनंत आग में डाला जाए। क्योंकि मनुष्य का पुत्र आया है कि खोये हुओं को बचावे। तुम क्या समझते हो या किसी मनुष्य के सौ भेड़ें हों और उनमें से एक भटक जाए तो क्या निन्नानवे को छोड़ कर और पहाड़ों पर जाकर उस भटकी हुई को न ढूंढ़ेगा। और यदि ऐसा हो कि उसे पाए तो मैं तुमसे सच कहता हूं कि वह उन निन्नानवे भेड़ों के लिए जो न भटकी थीं इतना आनन्द न करेगा जितना कि इस भेड़ के लिए करेगा। ऐसा ही तुम्हारे पिता की जो स्वर्ग में है इच्छा नहीं कि इन छोटों में से एक भी नाश हो।

और इन बातों के पीछे प्रभु ने सत्तर और मनुष्य ठहराए और जिस जिस नगर और जगह वह आप जाने पर था वहां उन्हें दो दो कर के अपने आगे भेजा। और उसने उनसे कहा पक्के खेत बहुत हैं पर मज़दूर थोड़े इसलिए खेत के स्वामी से विनती करो कि वह अपने खेत काटने

को मज़दूर भेज दे। जाओ देखो मैं तुम्हें भेड़ों की नाईं भेड़ियों के बीच में भेजता हूं। न बटुआ न झोली न जूते लो और न मार्ग में किसी को नमस्कार करो। जिस किसी घर में जाओ पहिले कहो कि इस घर पर कल्याण हो। यदि वहां कोई कल्याण के योग्य होगा तो तुम्हारा कल्याण उस पर ठहरेगा नहीं तो तुम्हारे पास लौट आएगा। उसी घर में रहो और जो कुछ उनसे मिले वही खाओ पीओ क्योंकि मज़दूर को अपनी मज़दूरी मिलनी चाहिए। घर घर न फिरना। और जिस नगर में जाओ और वहां के लोग तुम्हें उतारें तो जो कुछ तुम्हारे सामने रक्खा जाए खाओ। वहां के बीमारों को चंगा करो और उनसे कहो कि परमेश्वर का राज्य तुम्हारे निकट आ पहुंचा है।

जब तू दिन का या रात का भोज करे तो अपने मित्रों या भाइयों या कुटुंबियों या धनवान पड़ोसियों को न बुला ऐसा न हो कि वे भी तुझे नेवता दें और तेरा बदला हो जाए। पर जब तू भोज करे तो कंगालों टुंडों लंगड़ों और अंधों को बुला। तब तू धन्य होगा क्योंकि उनके पास तुझे बदला देने को कुछ नहीं पर तुझे धर्मियों के जी उठने पर बदला मिलेगा।

तुम तो मनुष्यों के सामने अपने आप को धर्मी ठहराते हो। परन्तु परमेश्वर तुम्हारे मन को जानता है। जो मनुष्यों के लेखे महान है वह परमेश्वर के निकट घिनौना है।

उसने आंख उठा कर धनवानों को अपना अपना दान भंडार में डालते देखा। और उसने एक कंगाल विधवा को भी उसमें दो दमड़ियां डालते देखा। तब उसने कहा मैं तुम से सच कहता हूं कि इस कंगाल विधवा ने सब से बढ़कर डाला है। क्योंकि उन सब ने अपनी अपनी बढ़ती में से दान में कुछ डाला है पर इसने अपनी घटी में से अपनी सारी जीविका डालदी है।

परमेश्वर आत्मा है और अवश्य है कि उसके भजन करने वाले आत्मा और सच्चाई से भजन करें।

आत्मा तो जीवनदायक है शरीर से कुछ लाभ नहीं जो बातें मैंने तुम से कही हैं वे आत्मा हैं और जीवन भी हैं।

अच्छा रखवाला मैं हूं अच्छा रखवाला भेड़ों के लिए अपना प्राण देता है, मज़दूर जो न रखवाला है और न भेड़ों का मालिक है भेड़िये को आते देख भेड़ों को छोड़ कर भाग जाता है और भेड़िया उन्हें पकड़ता और तित्तर बित्तर कर देता है।

यह इसलिए होता है कि वह मज़दूर है और उसको भेड़ों की चिन्ता नहीं। अच्छा रखवाला मैं हूं जिस तरह पिता मुझे जानता है और मैं पिता को जानता हूं, इसी तरह मैं अपनी भेड़ों को जानता हूं और मेरी भेड़ें मुझे जानती हैं और मैं भेड़ों के लिए अपना प्राण देता हूं। और मेरी और भी भेड़ें हैं जो इस भेड़शाला की नहीं मुझे

उनका भी लाना अवश्य है वे मेरा शब्द सुनेंगी तब एकही झुंड और एक ही रखवाला होगा। पिता इसलिए मुझ से प्रेम रखता है कि मैं अपना प्राण देता हूं कि उसे फिर लेऊं। कोई उसको मुझ से छीनता नहीं वरन मैं उसे आप ही देता हूं मुझे उसके देने का भी अधिकार है और उसके फिर लेने का भी अधिकार है। यह आज्ञा मेरे पिता से मुझे मिली।

मैं तुम से सच कहता हूं जबतक गेहूं का दाना भूमि में पड़ कर मर नहीं जाता वह अकेला रहता है पर जब मर जाता है तो बहुत फल लाता है। जो अपने प्राण को प्रिय जानता है वह उसे खो देता है और जो इस जगत में अपने प्राण को अप्रिय जानता है वह अनन्त जीवन के लिए उसकी रक्षा करेगा।

सो यदि मैंने प्रभु और गुरु होकर तुम्हारे पांव धोए तो तुम्हें भी एक दूसरे के पांव धोना चाहिए। क्योंकि मैंने तुम्हें नमूना दिखा दिया है कि जैसा मैंने तुम्हारे साथ किया है तुम भी किया करो। मैं तुम से सच कहता हूं दास अपने स्वामी से बड़ा नहीं और न भेजा हुआ अपने भेजने वाले से। तुम जो ये बातें जानते हो यदि उन पर चलो तो धन्य हो।

यीशुमसीह के पहिले के भविष्यवक्ताओं के उपदेश

शासनकर्ता—

उन चरवाहों से कह कि प्रभु यहोवा यों कहता है हाय इस्राएल के चरवाहों पर जो अपने अपने पेट भरते हैं क्या चरवाहों को अपने भेड़ बकरियों का पेट न भरना चाहिये। तुम लोग चर्बी खाते, ऊन पहिनते और मोटे मोटे पशुओं को काटते हो और भेड़ बकरियों को तुम नहीं चराते। न तो तुमने बीमारों को बलवान किया, न रोगियों को चंगा किया, न घायलों के घावों को बांधा, न निकली हुई को फेर लाए, न खोई हुई को खोजा पर तुमने बल और बरबस्ती से अधिकार चलाया है। वे चरवाहे के न होने के कारण तितर बितर हुई।······सुनो मैं चरवाहों के विरुद्ध हूं और उनसे अपनी भेड़ बकरियों का लेखा लूंगा और उनको उन्हें फिर चराने न दूंगा सो वे फिर अपना अपना पेट भरने न पायेंगे क्योंकि मैं अपनी भेड़ बकरियां उनके मुंह से छुड़ाऊंगा कि वे आगे को उनका अहार न हों।

यहोवा का भय मानना बुद्धि का मूल है।

छः वस्तुओं से यहोवा बैर रखता है वरन सात हैं जिनसे उसका जीव घिनाता है। अर्थात् घमण्ड से चढ़ी हुई आंखें, झूठ बोलने हारी जीभ और निर्दोष का लोहू

दहाने हारे हाथ, अनर्थ कल्पना गढ़ने हारा मन, बुराई करने को वेग दौड़ने हारे पांव, झूठ बोलने हारा साची और भाइयों के बीच झगड़ा करनेहारा मनुष्य ।

जहां बहुत बातें होती हैं वहां अपराध भी होता है पर जो अपने मुंह को बन्द रखता है सो बुद्धि से काम करता है ।

दस आज्ञा

१. मुझे छोड़ दूसरे को ईश्वर करके न मानना ।

२. तू अपने लिए कोई मूर्ति खोद कर न बनाना, न किसी की प्रतिमा बनाना जो आकाश में वा पृथ्वी पर वा पृथ्वी के जल में है । तू उनको दण्डवत न करना न उनकी उपासना करना क्योंकि मैं तेरा परमेश्वर यहोवा जलन रखने हारा ईश्वर हूं और जो मुझ से वैर रखते हैं उनके बेटों, पोतों और परपोतों को भी पितरों का दण्ड दिया करता हूं, और जो मुझ से प्रेम रखते हैं, मेरी आज्ञाओं को मानते हैं, उन हज़ारों पर करुणा किया करता हूं ।

३. अपने परमेश्वर का नाम व्यर्थ न लेना क्योंकि जो यहोवा का नाम व्यर्थ ले वह उसको निर्दोष न ठहराएगा ।

४. विश्राम दिन को पवित्र मानने के लिए स्मरण रखना । छः दिन तो परिश्रम करके अपना सारा काम काज करना । पर सातवां दिन तेरे परमेश्वर यहोवा के लिए विश्राम-दिन है । उसमें न तो तू किसी भाँति का काम काज करना न तेरा बेटा न तेरी बेटी न तेरा दास न तेरी

दासी न तेरे पशु न कोई परदेशी जो तेरे फाटकों के भीतर हो। क्योंकि छः दिन में यहोवा ने आकाश और पृथ्वी और समुद्र और जो कुछ उनमें है सबको बनाया और सातवें दिन विश्राम किया इसलिए यहोवा ने विश्राम-दिन को आशीष दिई और उसको पवित्र ठहराया।

५. अपने पिता और अपनी माता का आदर करना जिससे जो देश तेरा परमेश्वर यहोवा तुझे देता है उसमें तू बहुत दिन लों रहने पाए।

६. खून न करना।

७. व्यभिचार न करना।

८. चोरी न करना।

९. किसी के विरुद्ध झूठी साची न देना।

१०. किसी के घर का लालच न करना न तो किसी की स्त्री का लालच करना न किसी के दास दासी वा बैल गदहे का न किसी की किसी वस्तु का लालच करना।

यीशुमसीह के प्रेरितों के उपदेश

सो मैं चाहता हूं कि हर जगह पुरुष बिना क्रोध और विवाद के पवित्र हाथों को उठाकर प्रार्थना किया करें। वैसे ही स्त्रियां संकोच और संयम के साथ सोहते हुए पहिरावन से अपने आपको संवारें न कि बाल गूंथने और सोने और मोतियों और बहुमोल कपड़ों से, पर भले कामों से कि

परमेश्वर की भक्ति का प्रण करनेवाली स्त्रियों को यही सोहता है। स्त्री को चुपचाप पूरी अधीनता से सीखना चाहिए। और मैं कहता हूं कि स्त्री न उपदेश करे और न पुरुष पर आज्ञा चलाए परन्तु चुपचाप रहे।

दान देनेवाला उदारता से दे जो प्रधानता करे वह यतन से करे जो दया करे वह हर्ष से करे। प्रेम निष्कपट हो बुराई से घिन करो भलाई में लगे रहो। भाईचारे के प्रेम से एक दूसरे पर मया रक्खो परस्पर आदर करने में एक दूसरे से बढ़ चलो। यतन करने में आलसी न हो आत्मिक जोश में भरे रहो प्रभु की सेवा करते रहो। आशा में आनन्दित रहो क्लेश में स्थिर रहो प्रार्थना में लगे रहो। पवित्र लोगों को जो कुछ अवश्य हो उसमें उनकी सहायता करो पाहुनाई करने में लगे रहो। अपने सताने वालों को आशीस दो आशीस दो स्राप न दो।

हे पत्नियो अपने अपने पति के ऐसे अधीन रहो जैसे प्रभु के। क्योंकि पति पत्नी का सिर है जैसे कि मसीह कलीसिया का सिर है और आप ही देह का उद्धारकर्त्ता है। पर जैसे कलीसिया मसीह के अधीन है वैसे पत्नियां भी हर बात में अपने अपने पति के अधीन रहें। हे पतियो अपनी अपनी पत्नी से प्रेम रक्खो जैसा मसीह ने भी कलीसिया से प्रेम करके अपने आप को उसके लिये दे दिया। कि उसको वचन के द्वारा जल के स्नान से शुद्ध

करके पवित्र बनाए। और उसे एक ऐसी तेजस्वी कलीसिया बनाकर अपने पास खड़ी करे जिसमें न कलंक न झुर्री न कोई और ऐसी वस्तु हो बरन पवित्र और निर्दोष हो। यों ही उचित है कि पति अपनी अपनी पत्नी से देह के समान प्रेम रक्खे जो अपनी पत्नी से प्रेम रखता है वह अपने आप से प्रेम रखता है। क्योंकि किसी ने कभी अपने शरीर से वैर नहीं रक्खा बरन उसको पालता पोसता है जैसा मसीह भी कलीसिया को। इसलिये कि हम उसकी देह के अंग हैं।

पर तुम में से हरएक अपनी पत्नी से अपने समान प्रेम रक्खे और पत्नी भी अपने पुरुष का भय माने।

हे बालको प्रभु में अपने माता पिता का कहा मानो क्योंकि यह ठीक है। अपनी माता और पिता का आदर कर (यह पहिली आज्ञा है जिसके साथ प्रतिज्ञा भी है) कि तेरा भला हो और तू धरती पर बहुत दिन जीता रहे। और हे बच्चेवालो अपने बच्चों को रिस न दिलावो परन्तु प्रभु की शिक्षा और चितावनी देते हुए उनका पालन करो।

हे दासो जो लोग शरीर के अनुसार तुम्हारे स्वामी हैं अपने मन की सीधाई से डरते और कांपते हुए जैसे मसीह की वैसे ही उनकी आज्ञा मानो। और मनुष्यों को प्रसन्न करने वालों की नाई दिखाने के लिये सेवा न करो पर मसीह के दासों की नाई मन से परमेश्वर की इच्छा पर

चलो। और उस सेवा को मनुष्यों की नहीं परन्तु प्रभु की जानकर सुमति से करो। क्योंकि तुम जानते हो कि जो कोई जैसा अच्छा काम करेगा चाहे दास हो चाहे स्वतन्त्र प्रभु से वैसा ही पाएगा। और हे स्वामियो तुम भी धमकियां छोड़ कर उनके साथ वैसा ही व्यवहार करो क्योंकि जानते हो कि उनका और तुम्हारा दोनों का स्वामी स्वर्ग में है और वह किसी का पक्ष नहीं करता।

निदान प्रभु में और उसकी शक्ति के प्रभाव में बलवन्त बनो। परमेश्वर के सारे हथियार बांध लो कि तुम शैतान की जुगतों के सामने खड़े रह सको। क्योंकि हमारा यह लड़ना लोहू और मांस से नहीं परन्तु प्रधानों से और अधिकारियों से और इस संसार के अंधकार के हाकिमों से और आकाश में की दुष्टता की आत्मिक सेना से है। इसलिये परमेश्वर के सारे हथियार बांध लो कि तुम बुरे दिन में सामना कर सको और सब कुछ पूरा करके खड़े रह सको। सो सत्य से अपनी कमर कसकर और धार्मिकता का झिलम पहिन कर, और पांवों में मेल के सुसमाचार की तैयारी के जूते पहिन कर खड़े रहो। और उन सब के साथ विश्वास की ढाल लो जिससे तुम उस दुष्ट के सब जलते हुए तीरों को बुझा सकोगे। और उद्धार का टोप और आत्मा की तलवार जो परमेश्वर का वचन है ले लो।

❀ लार्ड कर्ज़न का भाषण ❀

[२]

भूमिका

जगत्प्रसिद्ध स्वर्गवासी लार्ड कर्ज़न के निम्नलिखित व्याख्यान की ओर मैं आपका ध्यान सादर आकर्षित करना चाहता हूं। व्याख्यान स्वयम् उनके श्रेष्ठ आदेशों का, पुष्ट सिद्धान्तों का और विस्तार अनुभव का पूर्णरूप से परिचय देता है। यह भाषण राजपूताना के महाराजा के निमित्त होने के कारण अत्यन्त ही उपयोगी है। बहुत ही थोड़े शब्दों में उन्होंने महान् जटिल विषयों पर पूर्ण प्रकाश डाला है। उन्होंने एक सच्चे, आदर्श तथा योग्य रियासत के अफसर की परिभाषा बतलाई है। मुझे पूरा विश्वास है कि इसको ध्यानपूर्वक आद्योपान्त पढ़ना बहुत शिक्षाप्रद होगा।

कुछ अफसरों के नाम इस स्थान पर लिखना अनुचित न होगा जिन्होंने उन्नति के हेतु अपने सद्विचार, प्रस्तुत सहानुभूति, हार्दिक सहयोग, स्वामिभक्ति तथा सहायता में तत्परता द्वारा जनता के हृदय में उनके प्रति अटल स्नेह-भाव छोड़ गए हैं:—

(१) कर्नल पालट, रेज़िडेन्ट जोधपुर।

(२) कर्नल ए० सी० टालबट रेज़िडेन्ट बीकानेर।

(३) मिस्टर जी० आर० इरविन रेज़िडेन्ट जयपुर।

(४) मिस्टर सी० ई० स्टायर्ड सुपरिन्टेंडिंग इंजीनियर जयपुर ।

(५) कर्नल ए० एस० मीक, प्रेसीडेन्ट कौंसिल आफ स्टेट, जयपुर ।

(६) मिस्टर एफ. हेनवी, रेज़िडेन्ट जयपुर ।

मिस्टर जी० आर० अरविन और मिस्टर सी० ई० स्टायर्ड से निजी परिचय का मुझे आनन्द प्राप्त हुआ था। संवत् १९५६ के अकाल में जो प्रशंसनीय और महान् कार्य मिस्टर जी० आर० इरविन ने किया था उसके कारण यहां हरएक के हृदय में उनके लिए उच्चकोटि का स्नेहभाव बना हुआ है । दीन-दुःखियों के हृदय में तो उनका इतना प्रभाव पड़ा कि वह अब भी इसकी प्रतीक्षा करते हैं कि वैसा ही कोई अफसर आकर उनकी दुर्दशा में सहानुभूति प्रकट करें तथा सहायता दे । उनकी आदर्शनीय उदारता भली प्रकार प्रसिद्ध है । दान के कारण बहुधा उनको आवश्यक वस्तुओं से भी वंचित रहना पड़ता था यहां तक कि लोग कभी कभी उनको पेवन्द लगे हुए वस्त्र धारण किए देखते थे । उनका नाम चिरकाल तक बना रहेगा ।

मिस्टर सी० ई० स्टायर्ड जो सर सुइनटन जेकब के पश्चात् आए एक अद्वितीय योग्य और खरे व्यक्ति थे । यह प्रसिद्ध है कि वह महान् कठिन कार्य आश्चर्यजनक थोड़े

ख़र्चे में सिद्ध करते थे। आप एक अमूल्य अफ़सर और रियासत के परम शुभचिन्तक थे।

कर्नल ए० एस० मीक जो अभाग्यवश यहां थोड़े ही दिन रहे तिसपर भी हरएक बड़े छोटे के हृदय में उनके लिए आदर भरा है। वह जो यथार्थ में दुखी होते थे उन का दुःख निवारण करने के लिए तथा सहायता करने के लिए सदैव तत्पर रहते थे। एक समय जब कि शहर में भयंकर अग्निप्रकोप हुआ था तो घोड़े पर चढ़ कर आप सब अफसरों से पहिले उस स्थान पर पहुंचे और यथाशक्ति सहायता देने का प्रयत्न किया। यह घटना उनके सरल स्वभाव का उत्तम परिचय देती है। एक महत्वपूर्ण गुण जो अति आदरणीय है, उनमें यह था कि वह अपनी भूल को तत्काल मान लेते थे। वह व्यर्थ हठ कर के दूसरों को दोषी नहीं ठहराते थे। यह एक ऐसा गुण है जो हृदय की उत्तमता को प्रकाशित करता है और जिसका अनुकरण करना प्रत्येक अफ़सर का धर्म है।

हम लोगों को आशा तथा प्रार्थना करना चाहिये कि बृटिश सरकार सदैव ऐसे चुने हुए अफसर भेजे जो पूरी सहानुभूति रक्खें और रियासतें तथा बृटिश सरकार दोनों के लिए अभिमान के कारण होवें।

लार्ड कर्ज़न का व्याख्यान *

"यह कुछ कम आनन्द की बात नहीं है कि राजपूताने के दौरे के अन्त में मैं इस महत्वपूर्ण रियासत में प्रवेश करूं, अन्तिम राजपूत सर्दार जिनसे मुझे मेहमानदारी का आदर प्राप्त हो वह उच्च श्रेणी के और अपने जातीय सद्भावों और गुणों से परिपूर्ण महाराजा जयपुर होवें और मेरे दौरे का अन्तिम व्याख्यान एक इतने प्रसिद्ध व्यक्ति के सारगर्भित भाषण के उत्तर में होवे।

इस चार वर्ष के समय में जब कि मैं भारतवर्ष में काम करता रहा हूं मुझे बहुत से महाराजाओं और राजाओं से मिलने का अवसर प्राप्त हुआ और मुझे इस समय एक ऐसे व्यक्ति के मुख से, जो उन सबों की ओर से राय प्रकट करने के लिए सर्वथा योग्य हैं, यह सुन कर अत्यन्त हर्ष हुआ कि वह मुझको अपना मित्र और परम शुभचिन्तक मानते हैं। यह मैं सम्राट् के कर्मचारी की हैसियत में नहीं कहता हूं जिनके (सम्राट्) लिए हृदयों में पूरा भक्तिभाव भरा हुआ है। यह मैं भारतीय गवर्नमेन्ट के अध्यक्ष और भारतवर्ष का हित-चिन्तक के रूप में कह रहा हूं जिसमें कि आप महाराजा राजागण की भलाई और रक्षा लिपटी हुई है।

* जयपुर में राज्य-भोज के समय ता० २८ नवम्बर सन् १९०२ को।

लार्ड कर्ज़न इन इण्डिया, १८९८–१९०५, जिल्द १ से।

आप (महाराजा जयपुर) मुझे स्मरण दिलाते हैं कि तीन वर्ष पहले मैंने भारतवर्ष के महाराजाओं को भारतीय शासन के कार्य चलाने में अपना हिस्सेदार तथा सहायक कहा था। यह यथार्थ में ऐसा ही है, मैं सदा से आप लोगों को जो ऊंचे पद को सुशोभित करते हैं, अपना सहायक, साथ के काम करने वाले, मानता आया हूं। कई अवसरों पर मैंने आप लोगों के निजी शासन के हालात और उसी सम्बन्धी विषयों पर वादाविवाद किया और कई अवसरों पर, जैसा आप भलीभाँति जानते हैं, मैंने आप लोगों के सहयोग और राय की चेष्टा की। मैंने कई बार यह विचारा कि रियासतों से भारतीय-समाज को कितना लाभ है। आधुनिक समय का प्रचंड वेग और आधुनिक समय का शासन जो बंधे हुए नियमों पर होने के कारण स्वाभाविकतः विशेष मनोरंजक नहीं होता इनके मध्य में रियासतें पुरानी प्रथा पर चल कर और पुराने क़ायदों को सुरक्षित रख कर मर्यादा को संभाले हुए हैं और प्राचीन ख़ानदानी सौन्दर्य और वैभव को नष्ट होने से रोके हुए हैं। प्रजा आप लोगों से प्रेम करती है और एक कारण जिससे आप उनके स्नेह के पात्र बनते हैं यह भी है कि आप लोग इसी देश के हैं। पुश्तैनी सरदारों को (इलाकेदारान) और प्रजा को आप लोगों के राज्य में उन्नति करने का पूरा मौक़ा मिलता है। सर्वोपरि, मैं अनुभव करता हूं कि ख़ास तौर से राजपूताने

में प्रशंसनीय सभ्यता है जो कि केवल भारतवर्षियों के लिए ही नहीं, परन्तु साथ ही योरोपियन्स के लिए भी बहुत शिक्षाप्रद है। महाराजों में प्राचीन जातीय-सभ्यता भरी हुई है जो कि उनके आदर्श पुरुषाओं से चली आती है। दूसरों की सहायता करने में तत्परता और नम्रता महाराजाओं में स्वाभाविक गुण हैं। अगर इनका कभी अभाव हुआ तो भारतीय-समाज इस प्रकार नष्ट हो जायगा जैसे आंधी में विना मस्तूल का जहाज़ नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।

यह बहुधा ख़याल किया जाता है कि अंग्रेज़ी सरकार जो रियासतों के नीति-विभाग पर अधिकार रखती है (यह अधिकार जो कि रियासतों की रक्षा के भार के प्रत्युपकार में है) इसका उद्देश्य यह है कि रियासतों को अंग्रेज़ी ढंग का बनावे। परन्तु मेरी यह इच्छा कभी नहीं रही है और मैंने कभी ऐसी चेष्टा नहीं की। हमारी यह इच्छा है कि रियासतों में उत्तम प्रबन्ध मितव्यय में होवे। हम यह चाहते हैं कि लोकोपकारक कार्य होवें और शिक्षा और दीन जातियों की ओर ध्यान दिया जाय। हम यह चाहते हैं कि रुपयों का हड़प करना, अत्याचार और बुराइयां कम हों। हम यह चाहते हैं कि रियासत अकाल के समय उत्तम प्रबन्ध उदारता सहित करे। जहांतक कि बृटिश राजशासन के समय में इन विषयों पर इस देश में उन्नति हुई है, यह भले ही अंग्रेज़ी कहे जा सकते हैं। परन्तु अगर

कोई यह कहे कि हमारी यह इच्छा है कि रियासतों को अंग्रेज़ों से भरदें और या रियासतों के प्राचीन जातीय विचार और प्रथा को मिटावें तो वे सर्वथा भूल में हैं। अंग्रेज़ बहुधा कोई नवीन लोकोपकारक कार्य को आरंभ करने के लिए अथवा कोई आवश्यक सुधार के वास्ते चाहे जाते हैं। कला-कौशल और खान इत्यादि की उन्नति और वह कार्य जिसमें वैज्ञानिक सम्बन्ध है, बाहर की सहायता कई स्थानों पर अनिवार्य है, क्योंकि बहुत सम्भावना है कि बिना इसके रियासत के खान इत्यादि उपयोगी वस्तुएं बिना काम में लाए ही रह जायं। कितना उत्तम कार्य एक अंग्रेज़ अफसर किसी रियासत में कर सकता है इसका अनुमान एक व्यक्ति के उदाहरण से किया जा सकता है जो कि आज रात्रि को इस भोज में उपस्थित हैं और जिनके लिए कि हाल ही में मुझे हर्ष के साथ एक उपाधि के लिए सिफ़ारिश करने का अवसर प्राप्त हुआ था याने सर सुइनटन जेकब। ऐसा कार्य—विचारयुक्त जिससे किसी को बाधा न पहुंचे और जो वृटिश जाति के प्रशंसनीय आदर्श को दर्शाता है और साथ ही रियासत के हित को सदैव लक्ष्य में रखता है—किसी समय भी उदाहरण के रूप में सन्मुख रक्खा जा सकता है। परन्तु यह बहुत कठिन है और यह आशा नहीं की जा सकती कि सदैव सर सुइनटन

केवल सा व्यक्ति मिल सके, अतएव जब कभी मैं किसी अंग्रेज़ी अफ़सर को रियासत में प्रबन्ध के लिए नियुक्त करता हूं, मेरा मुख्य उद्देश्य सदा यह रहता है कि उक्त व्यक्ति ऐसा हो जो रियासत के लोगों को शिक्षित बना कर अपना काम स्वयं संभालने के लिए योग्य बना सके। एक रियासत में यूरोपियन्स का एक समूह बनकर उस तरी को चूसना जो कि वहां की प्रजा के जीवन का आधार है इससे अधिक कोई दृश्य मेरे नेत्रों को अरुचिकर नहीं होता और जिसे कि मैंने पूर्णतया निरुत्साहित करने की यथाशक्ति चेष्टा न की हो।

इसी प्रकार अगर एक रियासत अपने नियमानुसार अच्छी तरह से शासन करती है तो मैं यह हठ कदापि नहीं करूंगा कि उसका प्रबन्ध अंग्रेज़ी रीति से होवे। वह जीव जो प्राकृतिक दशा में क्रमशः उन्नति करता है उसमें अधिक बलशाली रुधिर का प्रवाह होता है उसकी अपेक्षा जिसने कि कृत्रिम अस्वाभाविक रूप से वृद्धि पाई हो। अतएव मुझे किसी भी भारतवर्ष के भाग को देख कर हर्ष होता है जहां प्राचीन नियम और सभ्यता प्रचलित है जैसे कि राजपूताना; और मुझे विशेषरूप से प्रसन्नता इस कारण है कि आप ऐसे महाराजा का मेहमान हूं जिनकी रियासत में पुराने नियमानुसार उत्तम प्रबन्ध है। अंग्रेज़ों ने राज-

पूताने का पिछली शताब्दी के प्रथम २० वर्ष में बहुत उपकार किया है जब कि इसका लुटेरे मरहठा और पठानों द्वारा नष्ट-भ्रष्ट हो जाने का पूरा भय था। अगर लार्ड वेलेज़ली और लार्ड हेस्टिंग उस समय प्रबन्ध न करते और सन्धियां न की जातीं तो राजपूताना एक अलग राजनैतिक विभाग के रूप में न रह सकता और आज इसका पता भी न रहता। उस सेवा तथा सहायता के लिए राजपूत राजा महाराजा सदा बहुत ही अनुगृहीत रहे हैं और इसका प्रत्युपकार व श्रेष्ठ राजभक्ति द्वारा बृटिश सम्राट् को दे रहे हैं। परन्तु बड़ा भारी दुःख होगा अगर राजपूताना जो उस समय युद्ध और दूसरे अत्याचारों से बचाया गया अब अमन चैन और उन्नति के समय छोटे छोटे टुकड़ों में टूट जाय। मुझे पूर्ण आशा है कि यह समाज जो मुग़लों द्वारा कभी पराजित नहीं हुआ और जो सैकड़ों वर्ष तक युद्ध और घेरों का धक्का सहन करता आया है अब समयानुसार चल कर वृटिश राज्य में अपनी पूरी रक्षा, स्वतंत्रता का भोग करेगा और उत्तम प्रबन्ध और उन्नति के मार्ग में वृटिश राज़्य को अपना विश्वासपात्र रास्ता बतलानेवाला मानेगा।

आप (महाराज़ा जयपुर) अच्छी तरह जानते हैं कि मैंने कभी अपने विचारों को नहीं छिपाया कि महाराजाओं का कर्तव्य और व्यवहार कैसा होना चाहिये। यह मेरे विचार विशेष संतोपदायक नहीं हुए और बहुधा या तो इनके

समझने में अन्तर हुआ या समझाने में त्रुटि रही। मेरा आदर्श एक तितली रूप में नहीं है जो एक फूल से दूसरे फूल पर विना प्रयोजन भ्रमण करती रहती है, परन्तु मेरा आदर्श एक मधुमक्खी के रूप में है जो अपना निज का छत्ता वनाती है और मधु एकत्रित करती है। इस प्रकार के मनुष्य के प्रति मेरे हृदय में पूरी सहानुभूति और आदर रहता है। ऐसा व्यक्ति अपने लोगों में प्रेम का पात्र वनता है और सरकार का भी प्रिय होता है। कभी कभी मैं भविष्य की ओर देख कर यह अनुमान करता हूं कि भारत के राजा, महाराजा पूर्णतया पश्चिमी विचाएं ग्रहण करके और शिक्षित वनकर और साथ ही अपनी निज की सभ्यता और स्वाभाविकता को न छोड़ कर भारत के प्रवन्ध में और अधिक भाग लेंगे। वह दिन देख कर मुझे असीम आनन्द होगा, परन्तु वह दिन नहीं आयेगा अगर भारतीय राजा महाराजा फ़िज़ूल खर्च, सुस्त और उत्साहित रहेंगे। जैसा कि आपने कहा है ऐसा दिन तभी आसकता है जव वह अपने धर्म, अपनी प्रथा और अपनी प्रजा का पूरा ध्यान रक्खें।

इस प्रकार का राजा कैसा होता है और उसका क्या कर्त्तव्य है इसके आप (महाराजा जयपुर) उत्तम उदाहरण हैं। हम आपके अकाल के समय के अथवा अन्य शुभ-

कार्य्यों में उदारता से भलीभाँति परिचित हैं और आपको अपनी रियासत के हित का कितना ध्यान है यह भी हम जानते हैं। जब मैंने आप से सम्राट् की गद्दीनशीनी के समय राजपूताना के सदस्य बन कर विलायत जाने के लिए अनुरोध किया तब आपको घर तथा पुराने चाल ढाल छोड़ने में कुछ आपत्ति मालूम हुई, परन्तु लौटकर अब आपका विश्वास अधिक पुष्ट होगया है कि स्वभाव की सरलता तथा गम्भीरता, सचाई और उदारता विलायत के सरदारों तथा प्रजा द्वारा उतनी ही आदरणीय हैं जैसे कि यहां इस देश में पूज्य हैं। मुझे आशा है कि आपके उदाहरण का आपके बाद आने वाले अनुकरण करेंगे और भारतवर्ष के इतिहास में यह एक प्रशंसनीय चिह्न रहेगा।

आपने अपने व्याख्यान के अन्तिम भाग में आने वाले देहली दरबार की ओर संकेत किया जो सम्राट् की गद्दीनशीनी के उपलक्ष्य में होने वाला है। मुझे असीम हर्ष हुआ यह सुन करके कि आप महाराजाओं की ओर से उन प्रस्तावों का, जो खूब सोच विचार करके राजाओं, महाराजाओं को इस दरबार में भाग लेने के लिए किया गया है, समर्थन करते हैं। मैंने इस प्रबन्ध के लिए कितना परिश्रम किया है यह बतलाना कठिन है। सब राजाओं, महाराजाओं को पत्र भेजने और उनके द्वारा समझाने के बाद मेरी मुख्य प्रबल इच्छा यही रही है कि राजा महा-

राजा सन् १८७७ की तरह दर्शक रूप में न रहें परन्तु कार्यकर्ता बनें। सम्राट् जिनकी राजगद्दी के उपलक्ष्य में उत्सव है ठीक उसी प्रकार उनके भी सम्राट् हैं जैसे कि मेरे तथा हम लोगों के और मुझे यह बहुत अनुचित प्रतीत होता है कि राजा महाराजा अलग खड़े रहें मानो उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं है और केवल वाइसराय या वृटिश अफ़सरों ही का यह काम है। यह दरबार वाइसराय का दरबार नहीं है। यह सम्राट् का दरबार है और यह अनुभव करने के लिए कि राजा महाराजाओं का उनके प्रति कैसा भाव है, मैंने सब को इस महान् उत्सव में भाग लेने को निमंत्रण दिया है। मेरी इससे कदापि यह इच्छा नहीं कि मैं राजा, महाराजाओं के मान में कुछ कमी करूं, मेरी तो सदा यह उत्कण्ठा रही है कि मैं उनकी इज़्ज़त को बढ़ाऊं। मुझे अत्यन्त हर्ष है कि आपने मेरी इच्छाओं को भली प्रकार समझा और उदारतापूर्वक उनको सम्मानित किया और मुझे पूर्ण आशा है कि उनकी अब उत्साहपूर्वक पूर्ति तथा सफलता होगी।"

महाराष्ट्र सभा के नियम

(कौंसिल ऑफ स्टेट)

१. प्रधानमंत्री (प्राइम मिनिस्टर) जो कौंसिल का सभापति होकर रहे—

यह सुशील, धर्मज्ञ, नीतिनिपुण, उदार, बहुतसे विषयों को खूब समझने वाला, परिणामदर्शी, काम, क्रोध और लोभ को जीतने वाला, वीच की आयु का, न बहुत वृद्ध हो कि जिसकी इंद्रियां शिथिल होगई हों और न नवयुवक हो जिसको संसार का अनुभव न हुआ हो। सब इन्द्रियां काम करने वाली हों, समय समय पर कार्य करने में रुचि हो, विद्वान् (संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेज़ी तीनों भाषाओं का पूर्ण पंडित) हो, जिसका यश फैला हो इत्यादि अनेक गुणों से भूषित, खूब परीक्षा करके रखना चाहिये।

२. परराष्ट्र मंत्री (फारिन मिनिस्टर)—

यह भी मध्यावस्था का हो, काम, क्रोध और लोभ रहित हो, पूर्ण पंडित हो, अंग्रेज़ी, हिन्दी और फ़ारसी का पूर्ण विद्वान् हो, दूसरी रियासतों सम्बन्धी कार्य वा गवर्नमेन्ट आफ इंडियां के कार्य इसके हाथ में रहें, नीतिकुशल, तीक्ष्णबुद्धि का हो, विश्वासपात्र हो।

३. माल का हाकिम (रेविन्यू मिनिस्टर)—

यह भी ऊपर लिखे हुए अनेक गुणों से भूषित हो, पूरा निर्लोभी, सत्यदर्शी, खूब मेहनती, अकेला घोड़े पर चढ़ कर सब जगह भ्रमण कर सके, मालगुजारी के काम को अच्छी तरह समझनेवाला हो, रियासत की कुल मालगुजारी का काम इसके हाथ में रहे।

४. आय-व्यय निरीक्षक मंत्री (फाइनेन्स मिनिस्टर)—

यह भी सब गुणों से भूषित पूर्ण विद्वान् हो, फ़िजूलख़र्ची की आदत वाला न हो, साथ ही अति कृपण भी न हो, रियासत का बजट बनाना और रुपया समय पर ख़र्च करना यह काम इसके अधीन रहे।

५. सेनानी (मिलटरी मिनिस्टर)—

यह सेना के काम में अतिनिपुण हो, घोड़े की सवारी, बंदूक का लगाना इत्यादि गुणों से भूषित हो, सेना को पूर्ण शिक्षित बना सके। सेना का कुल काम इसके हाथ में रहे।

६. कोषाध्यक्ष (ट्रेज़री आफीसर)—

इसके हाथ में रियासत का ख़ज़ाना रहे, परन्तु महाराज का निज का ख़ज़ाना वा वह ख़ज़ाना जो रियासत के लिये है परन्तु ख़ुद महाराज की निगरानी में रहता है ये दोनों ख़ज़ाने इस मंत्री के अधीन न रहें। यह मंत्री बड़ा निर्लोभी, हिसाब के काम में अति निपुण और मितव्यय करने वाला

हो, ख़ज़ाने को हरवक्त बढ़ाने की कोशिश करता रहे। रियासत में एक या दो बैंक कायम करे जिससे यहां की प्रजा को लाभ पहुंचे और भी द्रव्य-सम्बन्धी कार्य करने में निपुण हो। टकसाल का काम भी इसके अधीन हो।

७. दुर्ग-मंत्री (मिनिस्टर ऑफ फोर्ट्स)—

जिसके हाथ में रियासत के सब क़िलों का प्रबन्ध रहे जैसे समय समय पर दुर्गों की दुरुस्ती, उनमें सामान का रक्खा जाना, सिपाहियों की निगरानी, उनकी शिक्षा का प्रबन्ध, दुर्ग में रहनेवाली सब चीज़ों को यथासमय जांच करना, वापी, कूप, तड़ाग आदि बनवाना। इस मंत्री में दृढ़ता, बुद्धि की तीक्ष्णता और स्वामिभक्ति ये गुण खूब होने चाहियें।

८. रक्षा-विभाग का मंत्री (मिनिस्टर ऑफ पुलिस)—

इसके हाथ में रियासत की कुल पुलिस रहनी चाहिये इन्सपेक्टर जनरल पुलिस इत्यादि सब इसके मातहत रहें। इसमें बहुत से गुण होने के सिवा यह गुण अवश्य होने चाहियें जैसे—दया, मुक़दमे की असलियत निकालने में चातुर्य, निर्लोभिता, मातहतों को रिश्वत से रोकना, परिश्रमशील, सत्यवक्ता, मातहतों पर आतंक जमानेवाला, निरपराधी प्रजा को पुलिस से बचानेवाला, प्रजा के और पुलिस के आपस में प्रीति बढ़ाने का प्रयत्न करनेवाला इत्यादि गुणों से भूषित होना चाहिये।

९. गुप्त रक्षाविभाग का मंत्री (सी. आई. डी. मिनिस्टर)—

यह मेम्बर उन्हीं गुणों से भूपित हो जो ऊपर लिखे गये हैं, परन्तु गुप्त रीति से मुक़दमे की वा विषय की जांच करता रहे और लोभ तो इसके पास होकर भी न निकले। वहुत परिश्रमी और धीरे धीरे हर बात का निचोड़ निकालने में निपुण, प्रजा और राजा दोनों में प्यार बढ़ानेवाला और दोनों का विश्वासपात्र, जिसके कार्य से प्रजा संतुष्ट हो, ऐसा होना चाहिये।

१०. गृह-मंत्री (होम मिनिस्टर)—

अनेक शुभगुणों से भूपित, वयोवृद्ध, सदाचारी और राजा को शिक्षा देने में तत्पर ऐसा होना चाहिये। निज कार्यों को खूब समझनेवाला गंभीर, राजकार्य की गुप्त वार्तो को सहसा प्रकट न करनेवाला और चतुर होना चाहिये। प्राचीन रीति रिवाज़ को समझनेवाला और उनको सहसा तुच्छ समझ कर परिवर्तन न करने वाला हो।

११. शिक्षा-मंत्री (मिनिस्टर ऑफ एज्यूकेशन)—

संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेज़ी, फारसी, देशीय इत्यादि भाषाओं का पूर्ण विद्वान् और भी कई भाषाओं का जिसको परिचय हो, मादक द्रव्यों का त्यागी, दुर्व्यसनों से वंचित, निरालस्य, सदाचारी, सुशील, वैदिकधर्म का अनुगामी इत्यादि गुणों से भूषित, जिसके चरित्र से शिक्षा

मिल सके, जो सब का प्रिय हो, ऐसा मिनिस्टर विद्याप्रचार का काम करे। कालेज, स्कूल, लाइब्रेरी जगह जगह स्थापित करे और धार्मिक व नैतिक शिक्षाओं का खूब प्रचार करे- सारे राज्य को विद्वान् कर दे। शिक्षा से मनुष्य अद्वितीय बन जाता है। इस मंत्री का काम बड़ा सारगर्भित है इसलिये इस काम पर बड़े अद्वितीय मनुष्य को रखना चाहिये, इतनी योग्यता का हो जो स्वयं राजा को भी शिक्षा दे सके।

१२. व्यापारिक मंत्री (मिनिस्टर ऑफ कामर्स)—

यह व्यापार के विषय को खूब समझने वाला हो, निर्लोभी और पक्षपातरहित हो, कौन कौनसी चीज़ों का रियासत में व्यापार बढ़ना चाहिए और किस प्रकार से व्यापारिक उन्नति हो सकेगी इस बात को समझने वाला हो। राजकीय मोदीख़ाना से लेकर सम्पूर्ण महकमे मात्र की वस्तुओं के ख़रीदने का और पुराने को निकालने का इसे पूर्ण अधिकार हो।

१३. रेल, पोस्ट ऑफिस, टेलिग्राफ, टेलीफोन विभाग का मंत्री—

यह बहुत होशियार इंजीनियर और रेल के काम को खूब समझने वाला हो, रियासत भर में सब जगह रेल की वृद्धि करना, रेल के मुसाफ़िरों के सुख का प्रबंध करना, रेलसंबन्धी सब आवश्यक चीज़ें रियासत में ही

बनवाना इत्यादि कार्य्यों का जानने वाला हो। पोस्ट, टेलिग्राफ, टेलीफोन के उत्तम प्रबन्ध का भार भी इसके ऊपर हो।

१४. लोकोपकार मंत्री (मिनिस्टर ऑफ पब्लिक वर्क्स)—

यह भी बहुत योग्य दर्जे का मिनिस्टर होना चाहिए और बहुत कम रुपया खर्च करके उत्तम काम कराने में निपुण हो। जैसा कर्नल जेकब और मिस्टर स्टाथर्ड ने जयपुर की रियासत में किया। रियासत से सहानुभूति रखने वाला होना चाहिए। फ़िजूलख़र्ची का स्वभाव न हो, ऐसा मिनिस्टर इस महकमे का प्रधान बनाया जावे।

१५. स्वास्थ्यमंत्री (हेल्थ मिनिस्टर)—

इस मंत्री में सबसे बड़ा गुण यह हो कि स्वयं नीरोग हो। रियासत भर के लोगों को नीरोग रखने के उपायों को करे। शहरों और ग्रामों को शुद्ध रखने के उपायों को करे। अग्नि, वायु और जल द्वारा शुद्धि का उपाय सबको सिखावे और जिस जिस उपाय से होसके शहरों के भीतर और बाहर शुद्धि का उपाय करे। स्त्री, पुरुष और बालकों को शुद्ध रहने का उपाय सिखावे और शुद्ध रहने से जो लाभ पहुंचता है उसकी शिक्षा को खूब फैलावे। हरएक शहर और ग्राम में शुद्धि की कमेटी बनाई जाय और जितने उपाय शुद्ध करने के हों सब किये जायँ।

१६. धर्माध्यक्ष (लॉ मिनिस्टर)—

यह मंत्री पूर्ण विद्वान्, बड़ा धार्मिक और प्राचीन और अर्वाचीन क़ानूनों को अच्छी तरह से जानने वाला होना चाहिए। इस विद्या का पूर्ण विद्वान् हो, हाईकोर्ट इत्यादि कचहरियों के जजों का परिवर्तन इत्यादि इसके अधीन हो। रियासत में जहां जहां आवश्यकता हो कचहरियां बनवावे। निर्लोभी, विद्वान् और सुशील जजों को नियुक्त करे। रियासत की सब कचहरियों को प्रति तीसरे मास घूम घूम के देखे और प्रजागण से स्वतंत्रतापूर्वक अच्छी तरह से मिले और जो कुछ सुने और देखे उसकी भली प्रकार जांच करके सत्य असत्य का निर्णय करे और न्याय से प्रजा के संतोष को बढ़ाने की चेष्टा करे। ऐसा क़ानून बनाया जाय जिसमें सत्य असत्य का निर्णय होसके, अप-राधी जजों का कुछ भी लिहाज न करे, मातहतों का पूर्ण निरीक्षण करे, दोषों को दोषी ठहराने से पहले उसको अपना वृत्तान्त कहने का पूरा मौका दे। जांच करती समय उखड़े नहीं। एक दिन के कार्य में यदि एक महीना भी लगे तो लगावे परंतु सत्य का निर्णय करे। खुद निर्लोभी, शुद्ध-चरित्र, धार्मिक और अक्रोधी हो, बड़े से बड़े जज से लेकर छोटे से छोटे जज तक कांम, क्रोध और लोभ इन तीन में से एक भी अवगुण जिसमें हो ऐसे मनुष्य को कदापि किसी शिफ़ारिस से इस महकमे में नौकरी न दे।

१७. पुण्य सदस्य (चैरिटी मिनिस्टर)—

यह कार्य बड़ा उत्तम है परंतु इसको करने वाले की योग्यता पर बहुत कुछ निर्भर है। किस समय किसको क्या देना चाहिए यह परीक्षा करके देना यही पुण्य है। रियासत में जितनी गोशालायें, जितने अनाथालय, जितने सदावर्त, जितनी धर्मशालायें, वापी, कूप, तड़ाग जो पुण्य के हेतु बने हों उनका सबका प्रबंध करना और समय समय पर अपनी आंख से देखना यह सब इस मंत्री के अधीन रहे। यह मंत्री स्वार्थत्यागी होना चाहिए। दयावान् और परिश्रमी हो, रियासत के सब मंदिरों का प्रबंध इसी के हाथ में रहे और हरएक मंदिर की आय और व्यय सहित एक रिपोर्ट प्रति मास के अंत में प्रकाशित करदी जाय जिसको सर्वसाधारण देख सकें और प्रतिवर्ष के अंत में एक रिपोर्ट प्रकाशित करदी जाय और जो रुपया मंदिरों में बचत का रहे वह दीन और दुःखितों की सहायता में, गोशालाओं में और विद्यार्थियों के लिये व्यय किया जाय। प्रजावर्ग में से कोई यदि अपनी संपत्ति धर्मकार्य में लगाने के वास्ते दे तो उस का पूरा प्रवन्ध करके उसकी इच्छानुसार अथवा सर्वोपयोगी कार्य में लगाने का अधिकार भी इसको हो।

१८. भिषगध्यक्ष (मेडिकल मिनिस्टर)—

यह मंत्री डाक्टरी विद्या में अतिनिपुण हो। नवीन वा प्राचीन दोनों प्रकार की विद्याओं के बढ़ाने का उपाय

करे। हरएक काम में दक्ष, चतुर और निर्लोभी वैद्य वा डाक्टरों को नियुक्त करे। वैद्यों और डाक्टरों का निर्लोभी होना तथा दुर्व्यसनी न होना बहुत आवश्यक है। इसका नियम बनाया जाय कि ग़रीबों से फीस बिल्कुल न ली जाय और धनिकों से भी मनमानी फ़ीस न ली जाय। आवश्यकतानुसार रियासत भर में अस्पताल बनाये जायँ और जो जो डाक्टर और वैद्य वहां रहें उनका कड़ा शासन किया जाय। प्रवीण और चतुर डाक्टर न होने से और लोभी होने से किसी समय बहुत हानि होती है, इसलिये इन सब बातों का उत्तम प्रबन्ध किया जाय और भी आवश्यकतानुसार सब तरह का प्रबन्ध किया जाय और वर्ष में दो बार रियासत के सब अस्पतालों का निरीक्षण स्वयं जाकर करे। ग्रीष्म और वर्षा-ऋतु में सर्प प्रजा को बहुत पीड़ा पहुंचाते हैं और ग्रामों में तो समय पर औषध के अभाव से बहुतों के प्राणान्त भी हो जाते हैं। अतएव उक्त मंत्री का यह कर्तव्य होगा कि वह इसका उचित प्रबन्ध करे। सेठ साहूकारों को सर्प काटने की औषध रखने के लिये उत्साहित करे और पुलिस के अफसरों को तथा अन्य राज्य-कर्मचारियों को जो ग्राम से सम्बन्ध रखते हैं ये दवाइयां सदैव पास रखने को दी जायँ ताकि वे समय पर लोगों के प्राण बचा सकें। कुछ सवार रक्खे जायँ जो घूम घूम कर ग्रामनिवासियों की देख भाल करें और सर्प काटने की दवा मुफ्त बांटें।

१९. उत्सव मंत्री (मिनिस्टर ऑफ सेरिमोनी)—

इस मिनिस्टर के हाथ में प्राचीन वा अर्वाचीन पद्धति के अनुसार जो जो कार्य इस सम्बन्ध के हों; रहें और एक पुस्तक इस विषय की छपवा कर तैयार करा दी जाय जिसमें जिस जिस समय, जिस जिस काल में जिस जिस मास में जो होना चाहिये उसका पूरा वृत्तान्त लिखा जाय। ठीक समय पर रीत्यनुसार महाराजा की सवारी, दरबार आदि का प्रबन्ध कैसा होना चाहिये यह सब उस पुस्तक में लिखा जाय और इस मिनिस्टर को यह अधिकार दिया जाय कि वह इस पुस्तक में लिखे हुए दरबार और सवारियों का सुप्रबन्ध करे और कुछ भी त्रुटि न होने दे।

२०. कलाकौशल का मंत्री (मिनिस्टर जनरल वर्कशाप्स)—

इस मंत्री के अधिकार में कलाकौशल और नये कारखाने बनाने का काम रहे। धातु और लकड़ी की सब प्रकार की कारीगरी सिखलाई जाय और इस प्रकार के कारखाने बनाये जायं जिनसे देश में कलाकौशल खूब फैले।

२१. बालरक्षक मंत्री (कोर्ट ऑफ वार्ड्स मिनिस्टर)—

यह मिनिस्टर बहुत सुशील, विद्वान्, धार्मिक और वयोवृद्ध होना चाहिए। बहुतसे नवयुवक सरदारों के ठिकानों और घरों का प्रबन्ध इसके हाथ में रहता है और उनकी

शिक्षा का भार भी इसी के शिर पर है। इसलिये इसके योग्य होने से बहुत बड़ा लाभ हो सकता है और अयोग्य होने से बहुत बड़ी हानि, अतएव इस विभाग का मंत्री बहुत परीक्षा करके नियत किया जाय और राजा स्वयं इस विभाग के हिसाब को वा हरएक अंग को और प्रबन्ध को अच्छी तरह देखे, क्योंकि इस विभाग का संबंध उन्हीं नवयुवकों से है जो समय पाकर राजा की सभा में उपस्थित होंगे और ये ही रियासतरूपी वृक्ष की जड़ और टहनियां हैं। इसलिए इस वृक्ष को प्रफुल्लित रखने के लिये जड़ों का दृढ़ होना और शाखाओं का हरा भरा रहना बहुत ही आवश्यक है। इन दोनों के कमज़ोर हो जाने से वृक्ष केवल स्तम्भ सा रहकर शोभा नहीं देता।

यह कहावत है कि–Take care of the children, the nation will take care of itself.

इसलिए इस मिनिस्टर का बहुत योग्य होना अत्यावश्यक है।

२२. आंतरिक मंत्री (प्राइवेट सेक्रेटरी)—

यह व्यक्ति जिसका काम निरंतर महाराजा के पास रह कर उनके निज के कार्य को देखने का होगा एक बहुत बड़ी योग्यता का मनुष्य होना चाहिए जो कई भाषाओं के जानने में चतुर हो और महाराजा साहब का परम विश्वासपात्र बन सके, उनको समय समय पर उत्तम सलाह दे सके

श्रौर विषय को समझने में बड़ा चतुर, अच्छे चरित्र का होना चाहिए जो बहुतसी बातों से जिनका महाराजा साहब को प्रतिदिन काम पड़ता रहता है, परिचित होवे श्रौर महाराजा के निज के आय श्रौर व्यय का हिसाब प्रतिदिन तैयार करके दूसरे दिन उनके सामने पेश कर दिया करे। इससे उनको अपने निज के ख़र्च का पूर्ण ज्ञान रहेगा। एक मास के अन्त में हिसाब पूर्णतया तैयार करके महाराजा के सामने पेश कर दिया करे, इसी प्रकार एक वर्ष का। यह प्रणाली बहुत लाभ देने वाली है, इसलिए अवश्य होनी चाहिए।

महाराजा साहब के सामने पेश होने के लिए प्रतिदिन बहुतसे प्रार्थनापत्र आयेंगे, इसलिए सबके आराम के लिए महाराजा साहब के महल के सामने, जहां सब प्रजागण जा सकें, ऐसे स्थान पर एक छोटा स्थान बना दिया जाय श्रौर उसमें एक बक्स, ताला बन्द मोहर चपड़ी लगा हुआ रहे जिसमें ऊपर एक छिद्र पत्र डालने के लिए रहे। प्रतिदिन इस बक्स का ताला महाराजा के सामने ही खुले श्रौर जितने प्रार्थनापत्र आवें उनको प्राइवेट सेक्रेटरी एक रजिस्टर में दर्ज करे श्रौर हरएक पत्र महाराजा साहब को मालूम करके जो हुक्म फरमावें उसपर लिखे श्रौर रजिस्टर में भी उस हुक्म की नक़ल रख ली जाय। जिस महकमे में भेजने का हुक्म हो उस महकमे में वह प्रार्थनापत्र भेज दिया

जाय और यदि १५ दिन में कोई उत्तर न आवे तो उस महकमे को फिर उत्तर भेजने की शीघ्रता की जाय।

२३. वन, उपवन, खान, खेलकूद, आखेट, अश्वशाला और रियासत की सवारियों का मंत्री—

यह मंत्री इन सब कामों को अच्छी तरह से जानने वाला हो। मेहनती और युवा अवस्था का हो। जो जो विभाग उसके प्रबंध में हैं उन सब पर एक एक सेक्रेटरी या उपमंत्री नियत करे और उनसे प्रतिदिन साप्ताहिक, मासिक और वार्षिक रिपोर्टें लेता रहे। हरएक महकमे को आवश्यकता अनुसार दौरा करके अपनी आंख से देखे। देख रेख बहुत कड़ी होनी चाहिए। ग़लती मिलने पर किसी का लिहाज़ न करे। परिश्रमी स्वभाव का होवे।

२४. अंगरक्षक (ए० डी० सी०)—

प्राचीन समय से यह नियम चला आता है कि राजाओं के पास परम विश्वासपात्र मनुष्य हर समय रहा करते थे। यह बड़ी योग्यता के सुचरित्र और अनेक विद्याओं में निपुण होते थे और इतने साहस और योग्यता के होते थे कि राजा की सेवा अपने आप बिना किसी की सहायता के कर सकें और समय उपस्थित होने पर नीति के जटिल प्रश्नों में अपनी राय देते थे। दृष्टान्त के लिए महाराजा श्री रामचन्द्र के A. D. C. श्री लक्ष्मण थे। यह शब्द किसी समय "कृपा-पात्र" नाम से प्रख्यात था फिर मरज़ीदान और हजूरी कह-

लाया और अब A. D. C. नाम से प्रख्यात है। शब्दों का परिवर्तन समय के अनुसार होता रहता है, परन्तु कार्य वही रहता है जो लक्ष्मण रामचन्द्र के सामने करते थे। आजकल यदि किसी राजा के सौभाग्य से और राजा के चुनाव से सुपात्र A. D. C. (अंगरक्षक) मिले तो बहुत बड़ी प्रसन्नता की बात है। इसमें चुनाव की बहुत आवश्यकता है। राजा को चाहिए कि स्वयम् परीक्षा करके अपने परिकर निश्चय करे और अपने मंत्रियों द्वारा नियत करने से पहिले उनके स्वभाव, उनके चारित्र, उनकी विद्या और उनकी योग्यता की पूरी परीक्षा करावे और यह भी अच्छी तरह से जांचे कि उनकी प्रख्याति क्या है, मनुष्य उनके विषय में क्या कहते हैं, क्योंकि "Birds of a feather flock together." and "Tell me whom he lives with and I will tell you what he is."

समानशीलव्यसनेषु सख्यम्।

जैसी संगत वैसी बुद्धि

इन दोनों कहावतों से पूरी परीक्षा हो जाती है। इसी जयपुर नगर में प्रसिद्ध महाराजा रामसिंहजी के पास दो क्षत्रिय A. D. C. रहे। (१) ठाकुर ज़ोरावरसिंहजी चांपावत, (२) उनके सुयोग्य पुत्र ठाकुर नारायणसिंहजी चांपावत। इन दोनों सज्जनों ने अपने कार्यों को अच्छी निपुणता से निभाया और राजाओं के पास रहने लायक

साबित हुए। महाराजा श्री रामसिंहजी ने दूर देशों से मनुष्यरूपी रत्नों को सन्मान से अपने पास रखने की बहुत चेष्टा की थी जिसका यह फल हुआ कि अनेक योग्य पुरुष उनकी सभा में रहा करते थे।

२५. राजा का मित्र पुरोहित (एडवाइज़र टू ए यंग रूलर)—

राजा के पास एक बहुत बड़ी योग्यता का पुरोहित अवश्य रहना चाहिये जिसको आजकल एडवाइज़र टू ए रूलिंग चीफ (adviser to a ruling chief) कहा जा सकता है। यह मनुष्य पुराने समय में क्या होता था और यह किस पद को सुशोभित करता था यह मैं आपको बहुत थोड़े शब्दों में समझा देता हूं, जैसे कि दयालु भगवान् श्री रामचन्द्र के पास परम तेजस्वी वसिष्ठ पुरोहित का काम करते थे और विदेह राजा जनक के पास शतानन्द पुरोहित का काम करते थे, परन्तु हाय महाशोक? न वह राजा न वह पुरोहित। इस कालचक्र के परदे में क्या क्या अद्भुत चीजें इस भारतभूमि में प्रकट हो चुकी हैं और अब उनका स्मरण करके उनकी मीठी याद में हमारा समय बड़े दुःख से व्यतीत होता है कि स्वप्न में भी उनके दर्शन नहीं होते। अस्तु, किसको दोष दें। हमारे ही किये कर्मों का फल है। जैसा बोया वैसा पाओ। बोवे पेड़ बबूल का, आम कहां से खाय।

महाराष्ट्र सभा के नियम

पुरोहित का धर्म सारे देश की रक्षा करने की सलाह देना और उसका मंत्र बताना है। पुरोहित का मुख्य धर्म है राजा को विषयासक्त न होने देना और भविष्य काल में भी आपत्तियों के टालने की सलाह देना। अनेक प्रकार के दोषों से बचाना, समय पर सलाह देना, सारे देश का हित विचारना और स्वयम् अनेक प्रकार के शुभगुणों से युक्त हो। ऐसा पवित्र व्यक्ति राजा के पास पुरोहित बनाकर रखना चाहिये। आजकल समय के फेरफार से इस शब्द के अर्थ कुछ और हो गए हैं, परन्तु असली अर्थ (adviser to a king) राजा का सलाहकार है। मेरी जैसी तुच्छ बुद्धि वाला इस विषय पर क्या लिखेगा, केवल यही प्रार्थना है कि ऊपर लिखे गुणों से संयुक्त व्यक्ति राजा के पास रहना चाहिए।

२६. समाचाराध्यक्ष (इन्टेलिजेन्स सेक्रेटरी)—

यह व्यक्ति उत्तम विद्वान्, सुचरित्र और तीक्ष्ण बुद्धि का होना चाहिए जिसका मुख्य कर्तव्य महाराजा साहब को राज्य-सम्बन्धी तथा अन्य देश-देशान्तर के समाचारों से पूर्णरूप से परिचित रखने का होगा। भिन्न भिन्न समाचार-पत्रों को सुनाना अथवा उनमें से लाभदायक समाचारों को संचित करके उनसे महाराजा साहब को सूचित करना। इस उपलक्ष्य में इसकी आवश्यकता है कि हरएक निज़ामत में तथा हरएक मुख्य संस्थाओं में गुप्त अनुचर रक्खे जाएँ जो

नित्य अपने अपने स्थानों की घटनाओं का सविस्तर ब्यौरा लिख कर उक्त सेक्रेटरी के पास भेजें, परन्तु हां, इतना स्पष्ट रूप से लिखना परम उपयोगी समझता हूं कि उक्त सेक्रेटरी को इन रिपोर्टों के खोलने का अधिकार न दिया जाय। महाराजा साहब स्वयम् खोलें अथवा अपनी उपस्थिति में खुलवा कर सुनें जैसा कि स्वर्गवासी महाराजा रामसिंहजी का नियम था। इस विभाग का पूरा प्रबन्ध उक्त सेक्रेटरी को सौंप दिया जाय जिसका यह धर्म होगा कि वह अपने अधीन कर्मचारियों पर कड़ी दृष्टि रखकर अपने को उत्तम निरीक्षक अथवा राज्य-भक्त प्रमाणित करे और यदि कोई मिथ्या समाचार देना सावित हो तो समाचार देने वालों को यथा अपराध दण्ड अवश्य दिया जाय। इस महकमे से बहुत लाभ की सम्भावना है, परन्तु कुप्रबन्ध से हानि भी बहुत हो सकती है इसलिए इसका प्रधान सेक्रेटरी बहुत योग्य व्यक्ति होना चाहिए और इसके दफ्तर से रियासत में टेलीफोन का प्रबन्ध हो सके तो उपयोगी हो सकता है।

प्रस्ताव

महाराजा साहब बहादुर का आगमन।

महाराजा जयपुर दूर देश में शिक्षा ग्रहण करके वापस आ रहे हैं इसलिये उनके स्वागत के लिये जयपुर के पंडितों को और जयपुर के भाई बेटों को वा अन्य सरदार जो रियासत से अच्छी जीविका प्राप्त कर चुके हैं इन सब को महाराजा साहब के स्वागत के लिये कटिबद्ध तैयार होना चाहिये। केवल रेलवे स्टेशन पर सजधज कर बहु-मूल्य आभूषण पहिनकर और उत्तमोत्तम सवारियों में बैठ कर दश मिनट के लिये स्वागत करने को स्वागत नहीं कहा जा सकता।

महाराजा जयपुर नवयुवक हैं और स्वर्गवासी महा-राजा माधवसिंहजी के इस असार-संसार को त्याग करते ही नवयुवक महाराज की शिक्षा का कुल भार इनके धर्म और धन की रक्षा का कुल भार इस कछवाहों की रियासत की हितचिन्ता का कुल भार इन भाई बेटों और अन्ये सरदारों पर आ गया जो दीवानखाने में किसी किसी समय दरबार में अपने उज्वल वस्त्र और आभूषणों की चमक से

वहां की शोभा को बढ़ाते हैं। उस शोभा को और उस समय के क्षणिक वैभव को देख कर दर्शक के मन में यह संतोष होता है कि इन वीर और सुचरित्र सरदारों के रहते हुए, इन विद्वान् पंडितों के रहते हुए और इन नीति-कुशल अहलकारगणों के रहते हुए इस रियासत के वैभव और प्रतिष्ठा को कदापि कुछ भी धक्का न पहुंचेगा और नवयुवक महाराजा को शिक्षा देने में एक से एक बढ़कर चरित्रवान् इनके भाई बेटे तैयार मिलेंगे जो महाराजा को एक अद्वितीय रईस बनाने में अनेक प्रकार की शिक्षा यहीं दे सकेंगे और रियासत के बाहर से किसी सज्जन को बुलाने की आवश्यकता न रहेगी।

हे सरदारो ! अब वह समय आ गया है जो कुछ आप के चरित्रों की उत्तमता हो और जो कुछ विद्यायें आप के अंदर भरी हों उनको बाहर निकाल कर अब महाराज को अर्पण करने में देर न करना, क्योंकि यही समय शिक्षा का है। मुझे आशा है, इसके सिवाय और मैं क्या लिखूं कि सरदारगण मेरी इस प्रार्थना पर बहुत ध्यानपूर्वक विचार करेंगे और जो कुछ भी उत्तम गुण रूपी ख़ज़ाना निज निज हृदयों में भरा हो उसको समयानुसार महाराज को प्रस्तुत होकर भेंट करने में कमी न करेंगे।

सांसारिक वैभव की शिक्षा, जो तुच्छ है, महाराजा जयपुर के लिए आवश्यक नहीं, क्योंकि यह तो धन से सहसा

बहुतों को प्राप्त हो सकती है, तो एक इतने वैभवशाली रईस के लिये होना क्या कठिन है। रोल्स राइस मोटर में बैठकर प्रतिदिन घंटों घूमना और शिकार के कैंपों में महीनों अपना समय व्यर्थ व्यतीत करना उत्तम शिक्षा नहीं है। परंतु प्रातः-स्मरणीय श्री भगवान् रामचन्द्रजी के कथनानुसार हमारे प्यारे राजा का वही समय इस काम में लगाया जाय कि आज कितने अर्थी आये और किस किस का क्या न्याय हुआ और ऐसा तो नहीं है कि कोई प्रातःकाल से सायंकाल तक राजद्वार पर बैठ कर मौक़ा न मिलने के कारण निराश होकर अपने घर गया हो।

श्री भगवान् वाल्मीकीय रामायण में लक्ष्मण से ऐसा फर्माते हैं:—

पौरकार्याणि यो राजा न करोति दिने दिने ।
संवृते नरके घोरे पतितो नात्र संशयः ॥ १ ॥

जो राजा पुरवासियों के काम प्रतिदिन नहीं करता, वह निःसंदेह घोर अंधेर नरक में पड़ा हुआ है।

भीष्मपितामह राजधर्म का उपदेश करते हुए महाभारत में ऐसा कहते हैं:—

एवं हि क्षत्रबंधूनां मार्गमाहुः प्रधानतः ।
नास्य कृत्यतमं किंचिदन्यद्दस्युनिबर्हणात् ॥१॥

ऐसा ही क्षत्रियों का प्रधान मार्ग कहते हैं कि इनका चोरों को दंड देने से बढ़कर और कोई कार्य नहीं है।

हे सरदारो ! अब समय चूकने का मौक़ा नहीं है, क्योंकि "का हानिः समयच्युतिः" समय खोने से बढ़कर कौन हानि है, अब भाई बेटे शब्द को सार्थक करने का मौक़ा आगया । राजपूताने के रईस, राजपूताने के सरदार और प्रजागण आपकी तरफ़ देख रहे हैं और समय इस बात की प्रतीक्षा में है कि जयपुर के इतिहास में इन भाई बेटों और सरदारों को किन अक्षरों से अंकित करूं ।

यदि सरदारगण बहुत ऊंचे दर्जे की धार्मिक शिक्षा का अनुकरण इस समय न कर सकें तो हमको इसी में संतोष होगा कि वे वीर, उत्साही, नीतिज्ञ और स्वामिभक्त वा जातिसेवक दुर्गादासजी राठौड़ का अनुकरण करें जो कुछ ही समय पहिले अपने अनुपम चरित्र से और अद्वितीय साहस से सरदारों के लिए शिक्षा दे गए कि सरदारों को इस ढंग का बनने की इच्छा करनी चाहिए । जैसे राजाओं के लिए महाराणा प्रताप का जीवन शिक्षाप्रद है वैसे ही वीर दुर्गादास का चरित्र सरदारों के लिए है । वीर दुर्गादास ने इस दोहे को सार्थक कर दियाः—

सब को रिपु हूं, वृद्ध हूं, कृश हूं अरु असहाय ।
ऐसी शंका सिंह को, कबहुं न व्यापत आय ॥

सबका शत्रु हूं, वृद्ध हूं, दुर्बल और सहायक रहित हूं, ऐसी शंका सिंह को कभी नहीं आकर घेरती ।

समाचारपत्र

हरएक रियासत में इस बात की बहुत आवश्यकता है कि एक स्थानीय पत्र देवनागरी वा उस देश की जो भाषा हो उसमें निकला करे और यह पत्र सरकारी न हो। किसी सज्जन विद्वान् को इसके निकालने की आज्ञा मिले, जो समय समय पर सरकारी कर्मचारियों पर यदि उनके अनुचित काम हों तो कड़ा आक्षेप करता रहे और सरकारी बजट वा न्याय-विभाग पर अपनी राय देता रहे। उसको किसी प्रकार का बंधन न किया जाय, क्योंकि बंधन से विषय के सत्य असत्य का निर्णय करने में बहुत बाधा होती है।

समाचारपत्र की इसलिए आवश्यकता है कि रियासत की गवर्नमेन्ट एक उन्मत्त मातंग है जो अपने वैभवरूपी नशे में चूर रहती है, इसलिए उसका निरंकुश होना हानिकारक है और समाचारपत्र द्वारा तीक्ष्ण अंकुश लगने पर मर्यादा छोड़ने का भय नहीं रहता। समाचारपत्र दर्पण है जिसमें रियासत की छाया पड़ सकती है इसलिए एक बहुत ही स्वतंत्र समाचारपत्र का होना अति आवश्यक है। परन्तु अंकुश किसके हाथ में है और दर्पण के पीछे कलई किस कारीगर ने की है यह भी जानना अति आवश्यक है, क्योंकि हठी महावत विना कारण अंकुश लगा कर हाथी को बहुत हानि पहुंचा देता है और यदि कांच शुद्ध और

पक्की कलई का न हो तो छाया यथावत् नहीं आती और भ्रम होता है, इसलिए यह समाचारपत्र रियासत को उसी हालत में लाभ पहुंचावेगा जब इसका एडीटर (संपादक) धार्मिक, विद्वान् और निष्पक्ष होगा।

साप्ताहिक सभा

प्रति सप्ताह एक सभा विद्वानों की नियत समय और नियत स्थान पर हुआ करे जिसमें व्यावहारिक और पारमार्थिक विषय पर व्याख्यान हुआ करें। वेद, पुराण, इतिहास सब पर व्याख्यान हों।

अच्छे अच्छे विद्वान् शास्त्र के मर्म को कहें और महाराजा साहब स्वयं वा उनके भाई बेटे और विशेष कर नवयुवक सरदार उस सभा में अवश्य उपस्थित हों। दूर देशों के वा अन्य धर्मावलंबी विद्वानों को भी उस सभा में व्याख्यान देने का अवसर दिया जाय। सभा के अंत में महाराजा स्वयं यह कहें कि इस विषय पर मैं यह समझा और सभासद्गण भी बोलें। सभा में एक रजिस्टर रहना चाहिए जिसमें सभा का मंत्री सबकी उपस्थिति लिखा करे और शार्टहेन्ड राइटर (शीघ्र लिपि लिखने वाले) उस सभा की कुल कार्यवाही लिखा करें और प्रतिमास सब व्याख्यान पुस्तक रूप में प्रकाशित कर दिये जायं जो उचित मूल्य पर सर्वसाधारण को मिल सकें। यह सभा यदि जयपुर में रामनिवास बाग़ के एलबर्ट हाल में हो तो स्थान उत्तम है

क्योंकि महाराज सवाई रामसिंहजी ने अपनी तीच्ण बुद्धि और दूरदर्शिता से इस स्थान को इसी उपयोग के लिए बनवाया था।

इस सभा के सदस्यों और व्याख्यानदाताओं को भगवान् रामचन्द्र की निम्नलिखित आज्ञा स्मरण रखनी चाहिए जो उन्होंने अयोध्या में प्रजा को उपदेश देते समय की थी:—

जौं अनीति कछु भाषउं भाई।
तौ मोहि बरजेउ भय बिसराई॥

हे भाइयो! यदि मैं कुछ नीति-विरुद्ध कहूं तो आप लोग निर्भय होकर मुझे रोकियेगा।

जहां यह सभा हो निम्नलिखित श्लोक बहुत मोटे अक्षरों में अंकित करा दिया जाय:—

न सा सभा यत्र न संति वृद्धा
वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम्।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति
न तत्सत्यं यच्छलेनानुविद्धम्॥ १॥

वह सभा नहीं है जहां वृद्ध नहीं हैं, वे वृद्ध नहीं हैं जो धर्म नहीं कहते हैं, वह धर्म नहीं है जिसमें सत्य नहीं है और वह सत्य नहीं है जो छल से दूषित है।

वार्षिक सभा

रियासत में प्रतिवर्ष के आदि वा अंत में एक ऐसी सभा होनी चाहिए जिसमें रियासत के ऊंचे दर्जे के कर्मचारी, भाई बेटे, सरदार और प्रजा में से चुने हुए प्रजागण नियत स्थान पर बैठकर रियासत की हानि और लाभ का विचार किया करें। रियासत का बजट उनके सामने पेश हो जिस पर वह अपनी सम्मति दें। प्राचीन वा नवीन क़ानूनों पर विचार करें और अन्य आवश्यक विषयों पर भी विचार करें जिसमें रियासत को वा प्रजागण को लाभ पहुंच सके। इस सभा का विशेष महत्व इसी में है कि राजा और प्रजा के सम्बन्धरूपी कड़ियों को बहुत दृढ़ कर दे और यदि कहीं कोई कड़ी ढीली होगई हो तो उसको प्याररूपी अग्नि में तपा कर मित्ररूपी हथोड़े से ठीक कर दे, यही इस सभा का धर्म होना चाहिए और यदि ऐसा हो तो मैं निःसंकोच कहता हूं कि उस रियासत में नीचे और ऊपर की आफ़तों को निवारण करने में पूरा बल निरंतर स्थायीरूप से बना रहेगा और उसकी नींव संसाररूपी समुद्र में इतनी दृढ़ चट्टान पर लग जायगी कि जिसको वायु और जल किसी प्रकार की हानि नहीं पहुंचा सकेंगे। जैसा कि गोल्डस्मिथ ने ठीक कहा है:—As rocks resist the billows and the sky.

नवयुवक महाराज को शिक्षा प्रदान करने के लिए

एक अति आवश्यक प्राचीन प्रणाली अवश्य स्थायी रूप से स्थापित होनी चाहिए, क्योंकि इतिहासों से यह प्रत्यक्ष रूप से स्पष्ट होता है कि यह प्रणाली प्राचीन भारत में बहुत थी और बड़े बड़े राजाओं ने इससे अनुपम शिक्षायें ग्रहण की हैं जिनसे उनका जीवन सफल हुआ।

न्यायविभाग का प्रबन्ध।

जुडीशियल डिपार्टमेन्ट याने न्यायविभाग का उत्तम प्रबन्ध रहना और परीक्षित धर्माधिकारियों, न्यायाधीशों को नियुक्त करना एक असाधारण और महान् कठिन काम है, क्योंकि काम, क्रोध, लोभ, पक्षपात और भय यह सब न्याय में बहुत बड़ा विघ्न डाल देते हैं। इन सब को निवारण करके शत्रु और मित्र को एक तराजू में तोलना साधारण सा काम नहीं है। इसलिए हाईकोर्ट के जज तो अवश्य बहुत परीक्षा करके नियत होने चाहिएं। कई कचहरियों को बनाने का नियम इसीलिए रक्खा गया है कि यदि एक में भूल हो तो दूसरी जगह सुधार होसके और सब से ऊपर की कचहरी की भूल का सुधार होना असम्भव सा होजाता है, इसलिए ऊपर के हाकिमों को नियत करने से पहिले उनके गुणों की पूरी परीक्षा होनी चाहिए और यह भी देखा जाय कि इनकी पिछली आयु किस काम में व्यतीत हुई है और मनुष्य इनके विषय में कैसी चर्चा करते हैं।

इन जजों की परीक्षा तो असल तब होती है जब इनके सामने धनिक और ग़रीब के आपस के झगड़े पेश हों और उत्तमतर और कड़ी परीक्षा उस समय होती है जब इनके सामने एक पक्ष राजकर्मचारियों का और दूसरा पक्ष साधारण प्रजागण का होता है। उस समय शुद्ध न्याय के करने में राजकर्मचारियों का पक्ष न लें और उनका लिहाज़ न करें और धर्म के आसन पर बैठते ही ईश्वर से सच्चे दिल से प्रार्थना करें कि हे प्रभो! हमको ऐसी बुद्धि दो कि हम न्याय कर सकें, क्योंकि न्याय करना ईश्वर का धर्म है मनुष्य का नहीं। मनुष्य की बुद्धि तुच्छ है, वह न्याय के तत्व को नहीं जान सकता इसलिए हे दयानिधि पिता! मेरे अन्दर प्रवेश करके मेरी बुद्धि को ऐसी करो जिससे मैं न्याय से हट कर अन्यायरूपी खड्डे में न गिरूं, क्योंकि मनुष्य महान् लालची, कामी, क्रोधी और पक्षपाती होता है और जिसमें यह अवगुण भरे हों वह न्याय करने का साहस कैसे कर सकता है। हे मेरे प्यारे प्रभो! मुझको काम और क्रोधरूपी शत्रु से बचा, मैं तो केवल वेतन से बंधाहुवा यहां प्रतिदिन आ बैठता हूं। यदि वेतन न दिया जाय तो इस स्थान पर कभी न आऊं इसलिए हाथ जोड़ कर यह प्रार्थना है कि आप मुझ ऐसे निर्बुद्धि को दया करके निभाना।

ऐसी प्रार्थना जो जज सच्चे हृदय से सब प्रकार से शुद्ध होकर, उस परम प्रभु से करता है उसको वह दयानिधि

पिता कृपा की दृष्टि से देखता है क्योंकि ईश्वर सबके हृदय में वर्तमान है, इसलिए स्फुरण होते ही मनुष्य के हृदय के भावों को तत्काल पहिचान लेता है। यदि ऐसे न्यायाधीश मिलें तो रियासत का अहोभाग्य है, क्योंकि राजा को इस संसाररूपी समुद्र से तारने और इसमें निमग्न करने के दोनों काम इन न्यायाधीशों के हाथ में रहते हैं। मनु में यह आज्ञा है कि जिस राजा के अधीन राजकर्मचारी वा प्रजागण जैसे जैसे उत्तम और अधम कर्म करते हैं उसका छठा हिस्सा राजा के भाग में प्रतिदिन चला जाता है और शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों के छठे हिस्से का फल राजा को अवश्य भोगना पड़ता है, इसलिए राजा का मुख्य कर्तव्य है कि न्यायाधीश, वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, धार्मिक, सुचरित्र, न्याय करने में दृढ़, पक्षपात-रहित, वीर, निर्लोभी मनुष्यों को नियत करे।

हाईकोर्ट वा चीफ़कोर्ट की अपील सुनने के लिए एक महक़मा और होना चाहिए जो राजा के स्थानापन्न होकर हाईकोर्ट की अपीलों को सुना करे और राजा को वादी, प्रतिवादी की व्याख्या सुनाकर मुकदमे के तत्व से परिचित करे। इस महकमे में दो या यथा आवश्यक न्यायाधीश रहने चाहिएं जो दोनों क़ानून, दीवानी और फ़ौजदारी, जानने में अति निपुण हों।

ऊपर लिखे हुए न्यायाधीशों के गुण इनमें भी हों और

बहुत उच्च-कोटि के विद्वान् हों, अपने विषय के पूर्ण पंडित हों। इनके सामने जो मुकद्दमा सुना जायगा उसकी फिर कोई अपील नहीं होगी। हां, एक नज़रसानी का अवसर अवश्य मिलना चाहिए।

यह प्रायः देखा जाता है कि अगर पिता किसी पद पर नियुक्त हो तो उसके पश्चात् उसका पुत्र उसको लेने की चेष्टा करता है चाहे वह उसके योग्य हो वा न हो। कई स्थानों पर योग्यता का निर्णय न करके उसपर उसकी नियुक्ति कर दी जाती है जिससे प्रबन्ध में बहुत हानि पहुंचती है। यह प्रथा उठाकर जो जिस पद का अधिकारी हो उसी को देना उचित है और किसी व्यक्ति को किसी स्थान पर नियुक्त करने के पहिले यथोचित पूर्णरूप से विचार कर लेना परम उपयोगी होगा। इसी सम्बन्ध में दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि अगर कोई किसी महक़मे में प्रारम्भ से काम कर रहा है तो उसे एकाएक दूसरे महकमे में बदल देने से लाभ होना असम्भव है। यह ठीक वैसा ही है जैसे किसी एक जज को अकस्मात् एक चिकित्सालय का अध्यक्ष बना दिया जावे और उससे यह आशा की जाय कि वह भयंकर रोगों की चिकित्सा विना शिक्षा तथा अनुभव के कर सकेगा अथवा एक शिल्पकार एकाएक हाईकोर्ट का जज बनकर न्याय कर सकेगा। अगर यह असम्भव है तो यह भी सर्वथा असम्भव है कि एक महकमे का अफ़सर दूसरे

महकमे में अकस्मात् बदलकर बिना विशेष शिक्षा अथवा अनुभव के उत्तम प्रबन्ध कर सकेगा। पदभ्रष्ट व्यक्तियों को जो किसी महकमे से अथवा अन्य रियासत से किसी अपराध के कारण पदच्युत कर दिये गये हों, उनको किसी पद पर नियुक्त करना भी बहुत हानिकारक है।

न्यायविभाग की भाषा

इस संसार में न्याय मनुष्यों और पशुओं पर किया जाता है। पशु से यह आशा करना कि तुमको क्या कष्ट है अपनी मातृभाषा में कहो यह एक भूल है, क्योंकि जब प्रकृति से उसको वह चीज़ प्राप्त नहीं है तो वह कैसे वर्णन कर सकता है, परन्तु संसार में यह देखा जाता है कि मनुष्य के पास निज के विचार प्रकट करने के लिए मातृभाषारूपी एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा वह अपने सुख और दुःख का वर्णन दूसरे से कर सकता है। न्यायविभाग में ऐसे विद्वानों के मुकद्दमे कभी-कभी आते हैं जो मातृभाषा के अतिरिक्त अन्य भाषा जानते हों, परन्तु मातृभाषा में कहने और सुनने वालों के मुकद्दमे हज़ारों प्रतिदिन होते हैं और उनको यह कष्ट प्रतिदिन उठाना पड़ता है कि वह अपना वृत्तान्त अपने वकील को समझावे और उनका वकील जज को वही वृत्तान्त ऐसी भाषा में निवेदन करता है जिसको मुकद्दमे का मालिक कुछ भी नहीं समझता है और जजमेन्ट सुनाने पर भी यह पता नहीं चलता कि क्या फल हुआ।

विवश होकर कुछ समझ और कुछ नहीं समझ कर संतोष कर लेता है। इसलिए यह बहुत आवश्यक है कि जिस देश की आम प्रजा जिस भाषा को समझती है उसी भाषा में न्यायविभाग के फैसले हुआ करें। यदि एक जज उस देश की भाषा को नहीं जानता हो तो उस एक के लिए हज़ारों को कष्ट पहुंचाना न्याय नहीं है।

पुलिस के महकमे में भी, जिसका काम विशेषतर साधारण ग्रामवासियों से पड़ता है, मातृभाषा न होने के कारण बहुत कष्ट ग़रीब प्रजा को है। एक थाने के मुंशी ने रिपोर्ट लिखते समय किसी से पूछा तुम्हारा नाम क्या है, उसने कहा मेरा नाम गंगासिंह है, तो पूछा तुम्हारे बाप का नाम क्या है, उत्तर मिला गोपालसिंह। मुन्शी ने दर्ज किया गंगासिंह वल्द गोपालसिंह और ज़ोर से पढ़ कर सुनाया कि मैंने यह लिखा है, ठीक है न। वह व्यक्ति राजपूत था उसने उत्तर दिया मुन्शीजी आप तो भले आदमी से दीखते हो फिर राज की मिसल में ऐसी ऐसी झूठी बातें लिखो और मेरे बापको बलद बनाओ। ख़बरदार, काट देओ जो लिखा हो सो। अगर ईं माफिक लिखोगा तो थारे म्हारे लड़ाई हो जायगी। मुन्शी ने कहा अरे समझ तो सही यह फ़ारसी ज़बान है इसमें ऐसे ही लिखा जाता है, चुप रह, हमने ठीक लिखा है। राजपूत ने कहा अगर फ़ारसी में बाप को बलद लिखा जाता है तो थे थारे बाप ने लिख लो, मैं मेरे

सुनतां मेरे बाप ने बलद कियां लिखाऊं। मुन्शी ने कहा तुम जो यह और बैठे हैं उनसे पूछो, मैं तो सबके लिए ऐसे ही लिखता हूं। उस राजपूत को बड़ा आश्चर्य हुआ कि क्या जो यहां आते हैं सभी अपने अपने बापों को बैल बना कर चले जाते हैं।

खैर मुन्शी ने धमका दिया कि रिपोर्ट लिखाओ, क्यों आये हो। उसने कहा मेरा एक बलद चोरी गया यही लिख लीजिये। मुन्शी ने झट दर्ज किया कि नरगाव की चोरी हुई और राजपूत को फिर सुनाया अच्छा हमने लिख लिया नरगाव चोरा गया। यह सुनते ही उसने सोचा तेरे तो बलद की चोरी हुई है, यह नरगाव कब चोरा गया। झट मुन्शी से कहा कि थे लिख्यो सो चीज़ वा जनावर म्हारे घरां तो ना आयो और न चोरो गयो। थे जानो अपना आप के लिखो हो। पहिले तो बाप ने बलद बनायो अब एक ऐसी चीज़ को नाम लिख लियो जो न तो आंखां देखी न काना सुनी और अब मने कहो हो कि ले अंगूठे की निशानी करदे सो मैं तो झूठी बात लिखाऊं नहीं। मुन्शी ने दो चार दफे धमकाया लेकिन उस ग़रीब राजपूत ने नरगाव पर अंगूठे का निशान करने से साफ़ इनकार कर दिया। लाचारी दर्जे थाने से अपने घर गया और दूसरे दिन सुबह ही जब पड़ोसियों ने अपने अपने बैलों के हलों को अपने अपने खेतों में ज़मीन काश्त करने के लिए रवाना किए तो इस ग़रीब के एक आंख में सौ सौ आंसू जाते थे।

उसकी स्त्री ने पूछा तूने बैल की चोरी की रिपोर्ट थाने में की वा नहीं । उसने जवाब दिया कि काल मुन्शीजी कने गयो छो सो पहिले तो या कही कि बाप ने बलद लिखसूं पछैं एक ऐसी चीज़ की चोरी को नाम लिख लियो कि मेरे घरां से तो चोरी गई नहीं और न मैं जानूं के चीज है, ई वास्ते मैं तो डर के पाछो आगयो ।

एक या दो सप्ताह के बाद वह रिपोर्ट, जो थाने में की गई थी, अदम सबूत में ख़ारिज हो गई । ऐसे वृत्तान्त कई जगह मिलेंगे, परन्तु इनको रोकने का उपाय नहीं किया जाता है । यदि मातृभाषा में सब कारंवाई हो तो ऐसी दुर्घटनाएं क्यों हों ?

टीका

क्षत्रियों में आजकल विवाह के समय कन्या-पक्ष वालों से वर के पक्ष वाले बहुत बड़ा टीका मांगते हैं, यह प्रथा बहुत हानिकारक है । शिक्षित और योग्य समझदार क्षत्रिय भी ऐसा करते हैं । इसके लिए साधारण क़ानून तो है, परन्तु उससे लाभ नहीं हो सकता ।

भारतवर्ष के वा राजपूताने के कुल क्षत्रिय यदि इसको मिटाना चाहें तो सम्भव है । एक प्रान्त में यदि क़ानून है तो दूसरे प्रान्त वाले टीका देने को तैयार हैं । इसीलिए इस प्रथा को बंद करना असम्भव हो रहा है । भारतवर्ष के सब रईस और क्षत्रिय-समाज लोभ को त्याग करके सच्चे दिल

से यदि इसका उपाय करेंगे तो फल की आशा है और वह भी तब हो सकेगा जब लोभ का सर्वथा त्याग कर देंगे, क्योंकि इस खोटी प्रथा का आधार लोभ है।

कन्याओं की हत्या

कन्याओं की हत्या कहीं कहीं क्षत्रियों में होती है। यह कुल जितना ही ऊंचा था आजकल उतना ही गिर गया। ऐसे ही अनेक अवगुणों से क्षत्रियों की हीन दशा होगई और अब भी होती जाती है। कन्याओं की हत्या बहुत बड़ा पाप है। इसको शीघ्र रोकने का उपाय या जो करते हैं उन को इस पाप से बचाने का उपाय बहुत शीघ्र होना आवश्यक है। बहुतों का यह विचार है कि टीके के भय से कन्याओं को मार दिया जाता है। कइयों का यह विचार है कि मुसलमान राजा ज़बरदस्ती कन्याओं को लेते थे इसलिए यह कुकर्म शुरू हुआ। चाहे किसी कारण से हो, अब इसको रोकने का उपाय होना चाहिये और बहुत ज़्यादा शिक्षा देने के बाद शायद रुक सके। क़ानून की सहायता से रुकना असम्भव है इसलिए वारंवार शिक्षा देने से ही लाभ हो सकेगा।

राजपूत स्त्रियों की शिक्षा

राजपूत स्त्रियों को धार्मिक शिक्षा की बड़ी आवश्यकता है। इन में आपस का द्वेष और लड़ाई का स्वभाव बहुत बढ़ गया है। दिन भर एक दूसरे से लड़ना और छोटी छोटी

बातों पर लड़ाई करके बहुत बड़ी ईर्षा हमेशा के लिए कायम कर लेना यही इनके घरों में देखा जाता है। ये स्त्रियां अपने अपने बच्चों को बालकपन से ही एक दूसरे से लड़ाई करना और ईर्षा रखने का स्वभाव सिखा देती हैं और उसी का परिणाम है कि क्षत्रिय कुल में क़रीब क़रीब सब घरों में एक दूसरे से ईर्षा और द्वेष देखा जाता है। इसलिए क्षत्रियों को लायक बनाने से पहले उनकी स्त्रियों को इतनी शिक्षित बना देना आवश्यक है कि वे ईर्षा और द्वेषभाव को छोड़ दें। क्षत्रिय-कुल को इससे बहुत बड़ी हानि पहुंच रही है।

क्षत्रिय-जाति में सब से बड़ा अवगुण यही है कि ये आपस में लड़ते हैं, इसीसे महाभारत में इनका नाश हुआ, इसी से यादव-कुल नष्ट हुआ। यह बहुत बड़ा पाप है और जबतक यह जाति आपस का द्वेप न छोड़ेगी तबतक आनेवाले असीम समय तक इनका उद्धार होना असम्भव है। मैं क्षत्रिय-समाज में प्रतिदिन ऐसी बातें देखता हूं जो बहुत हानिकारक हैं और वे सब बातें आपस के द्वेष से हुईं। स्त्रियों में तो द्वेप बहुत ही बढ़ गया है इसलिए यदि क्षत्रिय-कुल को द्वेष से हटाना है तो स्त्रियों को शिक्षित बनाना चाहिए।

पशुओं की दशा

जहांतक मैंने मेरी आंख से देखा और सुना है पशुओं की दशा बहुत हीन होती जाती है और स्वार्थी मनुष्य

निर्दय होकर पशु से बहुत कड़ा काम लेते हैं और बीमार होने पर इलाज का उचित प्रबन्ध नहीं करते। इसके लिए नियम बनाये जायं, जिससे पशु इस कष्ट से बचें। नियम से अधिक बोझ कोई किसी पशु पर न लाद सके, बीमार होने पर जबतक आरोग्य न हो काम न लिया जाय और हिन्दुओं में जो वृषोत्सर्ग (सांड छोड़ने) की प्रथा है उसमें भी सुधार किया जाय। जो सांड छोड़े वह उसका यावज्जीवन खर्चा दे और बहुत उत्तम जाति का जिसके सब अंग सुन्दर हों, ऐसा सांड छोड़ा जाय।

आवश्यकतानुसार सरकारी सांड भी रहें और उनके खान पान का प्रबन्ध सरकार करे। शहर में गली गली में गायों और सांडों का फिरना बंद कर दिया जाय और घोसियों के यहां, जहां दूध की बिक्री होती हो, इसका प्रबन्ध रहे कि गायों को और भैंसों को किसी भी प्रकार का बुरा और दूषित अन्न वा घास न खिला सकें। दूषित चीज़ों के खिलाने से दूध द्वारा मनुष्यों को बहुत रोग होते हैं जिससे बड़ी हानि पहुंचती है। सरकारी चरागाहों में गायें, भैंसें नित्यप्रति अवश्य जाया करें और इन पशुओं को पीने के लिए बहुत ही स्वच्छ जल मिलना चाहिए। अशुद्ध जल और अशुद्ध खाद्य-पदार्थ दोनों मिल कर अशुद्ध दुग्ध और अशुद्ध घृत पैदा करते हैं और उससे ब्राह्मणों की बुद्धि भ्रष्ट होती है और क्षत्रियों का साहस हीन होता है। इस कार्य में निरी-

चरणकर्ता बहुत होशियार होना चाहिए जो सहानुभूति से काम करे और मेरी समझ में यदि किसी यूरोपियन के प्रबन्ध में यह कार्य रहे तो बहुत लाभ हो सकेगा बजाय उस नाममात्र के हिन्दू के कि जिसके कारण आज गोमाता की यह दशा होरही है।

चिड़ियाखाना

मनुष्य प्राकृतिक शोभा देखने की इच्छा से अनेक स्थानों पर पशु, पक्षी और जलचर जीवों को इकट्ठा करके रखता है, इससे उनकी स्वतंत्रता हमेशा के लिए नष्ट हो जाती है। हां, इन पशु, पक्षियों को देखने से ज्ञान भी होता है इसलिए पहला उपाय तो यह है कि इनको बहुत थोड़ी गणना में रक्खा जाय जैसे कि सिंह का एक जोड़ा। जो ज्ञान एक के देखने से होगा, उतना ही पचास के देखने से होगा। दूसरा इनके रहने के स्थान इतने लंबे चौड़े हों जिससे इनको रहने में कष्ट न हो। तीसरे बग़ीचों में ये चिड़िया-ख़ाने न बनाये जायं। शहर से दूर ऐसे स्थान पर हों, जहां वायु की शुद्धता अपने आप होती रहे।

पशु-हिंसा

प्रतिदिन मनुष्य के खाने के लिए पशुहिंसा की जाती है। इसके लिए भी कुछ नियम ज़रूर बनाये जायं और मादीन जानवरों का वध रोक दिया जाय, क्योंकि उसके करने से पशुओं के बढ़ने में कमी होती है। वैदिक-धर्म के

अनुसार वधिक के घर का मांस खाना निषेध है और क्षत्रियों के लिए तो बिलकुल निषेध है, क्योंकि वधिक अपने पैसे के लोभ से अनेक तरह के मांस बेचा करता है जिसके खाने से मनुष्य के स्वास्थ्य और बुद्धि दोनों पर असर पड़ता है। इसलिए इसके भी जो जो उपाय हो सकें किये जायं।

दान देने की विधि

महाराजाओं, राजाओं और धनाढ्य पुरुषों के पास दान लेने वाले प्रतिदिन आते रहते हैं। दान देने की एक ही विधि सब से उत्तम है कि अति आवश्यक और अति उपयोगी कार्य में दिया जाय। दृष्टान्त के लिए यदि एक ही साथ एक अनाथालय का और दूसरा नाट्य-शाला का, दो याचना-पत्र आवें तो नाट्यशाला को छोड़ कर अनाथालय को देना चाहिए। इसी सिद्धान्त के अनुसार यदि दान देते समय दृष्टि रक्खी जाय तो बहुत लाभ हो सकता है।

दीन रोगियों के लिये सवारी।

दीन, अनाथ, अंधे और रोगियों को अस्पतालों में पहुंचाने के लिए ऐसा प्रबंध अवश्य होना चाहिए जिससे वह सरकारी सवारी से और सरकारी सहायता से उन स्थानों में पहुंचा दिये जायं, जहां उनको ले जाया जाना आवश्यक हो और इलाज होने के बाद वापस उनके मकान पर भी पहुंचाने का प्रबंध किया जाय। रेलवे स्टेशन से

अस्पताल तक पहुंचाने का प्रबंध भी किया जाना बहुत आवश्यक है।

सेवा-समिति

रियासत के प्रत्येक शहर में सेवा-समिति (Boys Scouts) का होना अति आवश्यक है, इससे जनता को अनुपम लाभ होता है। इसके अतिरिक्त यह संस्था बालकों के बड़े हित की और शिक्षाप्रद है। अगर बालकों को उचित शिक्षा दी जाय और उनका उत्साह सन्मार्ग की ओर लगाया जाय तो उत्तम फल प्राप्त होने में सन्देह नहीं है। बालकों के हृदय में बाल्यावस्था से ही उच्चकोटि का स्नेहभाव उत्पन्न हो जाता है जिसके कारण वे जन्मभर दूसरों की सहायता करने के लिए अथवा देश-सेवा के लिए तत्पर रहते हैं। मेले इत्यादि के अवसरों पर पुलिस को इनसे पूरी सहायता मिलती है। इस संस्था में एक और सराहनीय बात यह है कि इसमें विशेष ख़र्च की आवश्यकता नहीं है।

इन सब बातों की आशा उसी समय की जा सकती है जब कि इनका मुखिया सदैव बहुत ही धार्मिक, चरित्रवान्, परिश्रमी और सिद्धान्त का पुरुष होवे जो कि बालकों के लिए आदर्श बन सके, कुमार्ग की ओर जाने से रोके और उद्दण्ड न होने दे। अगर निरीक्षण में कुछ भी त्रुटि रही तो बहुत बड़ी हानि का पूरा भय है।

अग्निप्रकोप को रोकने का उपाय

अग्नि-प्रकोप से बहुत बड़ी हानि हो जाती है। हज़ारों घर जल जाते हैं, देखते देखते लाखों का सामान स्वाहा हो जाता है और अग्नि से विशेष हानि उन गांवों में पहुंचती है जहां बहुधा सभी मकान छप्पर और घास-फूस के बने हुए होते हैं। अग्नि-प्रकोप के कई कारण हैं, उनमें से आजकल सिगरेट, चुरट, बीड़ी यह भी प्रधान कारण हो गया है। पांच छः वर्ष का बच्चा भी एक बक्स सिगरेट का यदि प्रतिदिन ख़तम न कर दे तो वह अपने आपको मनुष्य-जीवन से वृथा समझता है। इसके रोकने का सहज उपाय यही है कि सिगरेट पर बहुत बड़ा टैक्स लगा दिया जाय, ताकि धनिक पुरुषों के सिवाय और किसी को पीने का मौका न मिले। छप्पर के घरों में जो अग्नि का भयङ्कर प्रकोप होता है, उसके लिये एक दूसरा उपाय और भी है कि हर साल अग्नि-प्रकोप को रोकने के नाम से एक चंदा किया जाय और उस द्रव्य में से जिनके कच्चे मकान हों उनको मकान बनाने के लिये सहायता मिलती रहे और मकान बनाने वालों को यह शिक्षा देदी जाय कि वे मकान की दीवारें बहुत ऊंची बनावें और बजाय छप्पर के खपरेल की छत बनाई जाय और इस काम के लिये सहायता उसी कोष में से मिला करे। जहां उत्तम मिट्टी हो वहां खपरे बहुतायत से बनाये जायं और बिना कीमत उन ग़रीबों को बांट दिये

जायं। यह नियम परीक्षार्थ दश वर्ष तक रक्खा जाय, यदि इससे लाभ हो तो फिर स्थायी रूप से रहे।

क्रोध

शास्त्र में लिखा है क्रोध बहुत बड़ा शत्रु है। शास्त्र में यह भी लिखा है कि जो क्रोधी होता है उसके अनेक शत्रु हो जाते हैं। यह सर्वथा सत्य है इसको रोकने का यही उपाय है कि जब किसी पर क्रोध करे तो पहिले यह सोचे कि यदि मेरे ऊपर इसी प्रकार कोई क्रोध करे तो मुझ को कितना दुःख होगा। ऐसा बारंबार सोचने से क्रोध को वश में करने का अभ्यास हो जायगा और जिस समय क्रोध आवे उस समय कोई भी कार्य न किया जाय। क्रोध की दशा में जो कुछ किया जायगा उसका फल बुरा होगा। यह मनुष्य में इस प्रकार आता है जैसे समुद्र में हवा का वेग, जितनी देर तूफान रहता है जहाज़ें खूब डगमगाती हैं, परन्तु होशियार कप्तान उनको बचा ले जाते हैं और बहुतसी डूब भी जाती हैं। इसलिये जब क्रोध आवे उस समय सब कार्यों को रोक दे और या तो एकान्त में शयन करे या जंगल में घूमे। ऐसा उपाय करे जिससे उसका वेग कम हो। श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं:—

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

क्रोध से विचारशक्ति का नाश होता है, विचारशक्ति के

नाश होने से स्मरणशक्ति का नाश होता है, स्मरणशक्ति के नाश होने से बुद्धि का नाश होता है और बुद्धि के नाश होने से एकदम नष्ट हो जाता है।

अश्लील गीत।

अश्लील भाषा में गाये हुए गीतों का बन्द किया जाना बहुत आवश्यक है, इनसे बहुत हानि होती है, निर्लज्जता बढ़ती है, माता, पिता, भाई, बहिन, पुत्री और छोटे छोटे बालक सब इन गीतों को सुनते हैं। और छोटे बच्चों के हृदय पर इन गीतों से बुरे संस्कार जम जाते हैं। इनको बन्द करने के लिये एक ऐसा क़ानून बनाया जाय जिससे कोई भी स्त्री वा पुरुष राजमार्ग में वा जनता के काम के स्थानों में ऐसे गीत न गा सके और इस प्रकार का कोई भी चित्र वा मूर्त्ति न रख सके जिनका सम्बन्ध इन गीतों से हो। ब्राह्मणों के, क्षत्रियों के और और जातियों के घरों में ये गीत बहुत गाये जाते हैं। इसलिये उसके रोकने का उपाय किया जाय और गृहस्थों को समझाकर यह नियम करा लिया जाय कि वे इस कुप्रथा को उठाने का प्रयत्न करें।

भोजन अथवा भक्ष्याभक्ष्य प्रकरण।

मनुष्यमात्र के लिये और विशेषकर राजाओं के लिये भक्ष्याभक्ष्य का ज्ञान होना बहुत आवश्यक है। यह अवश्य जानना चाहिये कि अमुक अमुक वस्तुओं के भोजन करने से शरीर को लाभ पहुंचता है और बुद्धि तीक्ष्ण और सात्विक

होती है और अमुक से हानि होती है और बुद्धि क्षीण होती है। इसका पूरा ज्ञान प्राप्त करने के निमित्त मनु का पंचम अध्याय, जिसमें इस विषय को कहा है, पढ़कर उसका अनुकरण करना चाहिये और गीता के तीन श्लोक जो भोजन के तीन प्रकार-सात्विक, राजस और तामस बतलाते हैं जो यहां लिखे जाते हैं, स्मरण रखने योग्य हैं:—

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रियाः॥

जीवन, चित्त की स्थिरता, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति के विशेष बढ़ानेवाले, रसयुक्त, चिकने, स्थिर और रुचिकर आहार सात्विक पुरुष को प्रिय हैं।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥

कड़वे, खट्टे, खारे, अत्युष्ण, अति तीखे, रूखे और उदर में दाह करने वाले आहार राजसी पुरुष को प्रिय हैं जो दुःख, शोक और रोग प्रदान करने वाले हैं।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥

कम पका, रस-रहित, दुर्गंधयुक्त, बासी, जूठा और अशुद्ध भोजन तमोगुणी पुरुष को प्रिय है।

भोजन का मुख्य काम शरीर को दृढ़ बनाना, नीरोग रखना और बुद्धि को सात्विक और तीक्ष्ण करना है। जो

अपनी बुद्धि को सात्विक रखना चाहे उसको चाहिये कि अति उत्तम सात्विक भोजन का सेवन करे और बुद्धि की सात्विकता ही मनुष्य-जीवन को सफल कर सकती है। संसार में देश, काल और जल, वायु के प्रभाव से अनेक देशों में अनेक प्रकार के भोजन का सेवन होता है। जैसा जैसा देश, जैसा जैसा जल, वायु अनुकूल पड़ता है वैसा वैसा ही भोजन मनुष्य पर्याप्त करता है इसलिये अपने देश में रहकर बहुत दूर देश के भोजन की नक़ल करना वा उसका सेवन करना शरीर को हानिकारक है।

तमाखू

इससे भी मनुष्य को बहुत बड़ी हानि पहुंचती है। आजकल इसका प्रचार इतना बढ़ गया है कि जिसको रोकने के लिए क़ानून बनाना आवश्यक है। छोटी उमर के बच्चों को इससे बहुत बड़ी हानि पहुंचती है, इसके लिये तमाखू की खेती बहुत कम करदी जाय और बाहर से आने वाली तमाखू पर बहुत भारी टैक्स लगा दिया जाय जिससे तमाखू का प्रचार कम हो जाय और जब तक प्रचार कम न हो, हर साल टैक्स बढ़ाया जाय।

मोटर से मनुष्यों की हानि और उसके नियम

आजकल मोटर को बहुत तेज़ गति से हांकने से पैदल चलने वाले मनुष्यों की बहुत हानि हो रही है। इसके लिए बहुत कड़े नियम बनाये जायं और मोटर हांकने वाला

ड्राइवर बहुत शिक्षित होना चाहिये और यदि बेपरवाही से किसी मनुष्य को हानि पहुंचना साबित हो तो ड्राइवर को कड़ा दंड होना चाहिए। पुलिस का अधिकार हो कि चाहे किसी की मोटर हो नियमित रूप से अधिक गति से चलाने वाले की मोटर तत्काल ठहरा ली जाय। इसी प्रकार से प्रबन्ध होने से मनुष्यों की होने वाली हानि कम हो सकती है।

एक सहज उपाय और भी है कि सरदारों और धनाढ्य पुरुषों को, जिनकी मोटरें तेज गति से चलती हों, प्रति-सप्ताह सड़कों पर पैदल घूमना चाहिए और अनुभव प्राप्त करना चाहिए कि बहुत तेज़ी से पास से निकलने वाली मोटर से कितना भय मनुष्य को हो सकता है। उनको यह ज्ञान केवल इसी क्रिया से होगा, अन्यथा नहीं। इसी जयपुर शहर में स्वर्गवासी महाराजा श्री रामसिंहजी अपनी घोड़ा-गाड़ी को पैदल मनुष्य शीघ्रता से चल सके उसकी गति से विशेष कभी नहीं हांकने देते थे और बहुत दफ़ा पैदल भ्रमण करते और यह आज्ञा थी कि मेरे इधर उधर घूमने से मेरे निमित्त कोई मनुष्य अपने प्रतिदिन के कार्य में बाधा न डाले।

मोटर के विषय में यह नियम भी होना चाहिए कि जिस समय मोटर से कोई दुर्घटना हो उस समय मोटर का मालिक यदि मोटर हांकता हो तो उसकी जांच ड्राइवर मान कर की जाय, क्योंकि उस समय वह वही कार्य कर रहा

है। स्पेन में इस विषय के कड़े क़ानून बनाए गए हैं, ऐसा सुना है। यदि वे उत्तम हों तो अनुकरण करने योग्य हैं।

एक स्थान पर बहुतसे बड़े मिल होने से हानि

एक जगह बहुत बड़ी मिल (याने किसी प्रकार के यंत्रालय) के होने से देश को हानि पहुंचती है। कोयले से चलने वाले एंजिनों का धुआं दिन रात मनुष्यों के श्वास द्वारा उनके फेफड़ों में जाकर बहुत बड़ी हानि पहुंचाता है और कारख़ानों में काम करने वाले मनुष्यों के एक ही स्थान पर अधिक संख्या में रहने के कारण बहुत मलिनता फैलती है और ऐसे रोग होजाते हैं जिससे मनुष्य यावज्जीवन अध-मरा रहता है। इन्हीं कारणों से प्राचीन समय में एक जगह बहुत बड़े यंत्रालयों के होने की आज्ञा नहीं थी। एक शहर के निकट कपड़े का एक बहुत बड़ा कारख़ाना होना पर्याप्त है, परन्तु आजकल इसके विपरीत किसी शहर के निकट दस दस बीस बीस और कहीं तो और भी अधिक कारख़ाने बन गये हैं जिनसे मनुष्य की आरोग्यता को बहुत क्षति पहुंच रही है। यदि यही कारख़ाने देश में भिन्न भिन्न स्थानों पर रक्खे जाते तो लाभ अधिक था और हानि नहीं होती। शहर में रहनेवाले मनुष्यों की अपेक्षा गांव में रहनेवाले मनुष्यों का स्वास्थ्य सदैव अच्छा रहता है। इसका कारण यही है कि उनको शुद्ध वायु के सेवन करने का मौक़ा बहुत मिलता है और शहर के चौतरफ़ अशुद्ध वायु मीलों तक

ऐसी भर जाती है कि जिससे वहां के निवासियों को किसी क्षण में भी शुद्ध वायु नहीं मिलती।

कल कारख़ानों के अतिरिक्त आजकल एक नई प्रथा और चली है जिससे मनुष्यों को दिन रात बहुत बड़ी हानि पहुंचती है। जब जब कोई नया चूने का मकान बनना प्रारम्भ होता है तो उसके निकट ही बनानेवाला एक पत्थर पकाने का भट्टा बना लेता है और उसमें दिन रात रेल का कोयला इतनी बहुतायत से जलाया जाता है कि आसपास के पड़ोसियों को हर मिनट में यह अनुभव होता रहता है कि हमारे पास किसी धनी पुरुष का मकान बन रहा है। रात्रि को यह भट्ठा विशेष रूप से जलाया जाता है जिससे दिन भर के थके थकाये मनुष्यों को निद्रा के समय जो कष्ट पहुंचता है उसका अनुभव उन्हीं को है जो इस धूम्रपान को करते करते सोते हैं और जर्मन की लड़ाई की खाइयां याद आजाती हैं जिनमें ज़हरीले धुएं से हज़ारों के प्राणान्त किये गए। क्या हम आशा कर सकते हैं कि यह अत्यन्त कष्ट देने वाला तरीक़ा बन्द करादिया जाय वा कम से कम जिन के मकानों में यह धूम्र प्रतिदिन प्रवेश करता है उनको गैसमास्क दिला देने का प्रबन्ध कर दिया जाय और इसका ख़र्चा उन पर पड़े जो इस वृथा और हानिकारक धूम्र के उत्पन्न करने के ज़िम्मेवार हैं। मुझ को मेरे परमदयालु पड़ोसियों की कृपा से इस धूम्र का अनुभव प्रतिदिन होजाता है।

अग्निहोत्र

वैदिक धर्मों में अग्निहोत्र की बड़ी प्रशंसा है और आर्य-गृहस्थों के लिए यह नियम रक्खा गया था कि प्रातः-काल और सायंकाल अवश्य अग्निहोत्र करें। इसकी बहुत प्रशंसा वेद में है, परन्तु आजकल आर्यों के यहां से यह नियम उठ सा गया है और और लाभ जो अग्निहोत्र से होते थे उनके अतिरिक्त वायुमण्डल का शुद्ध रहना, वायु के शुद्ध रहने से रोगों की वृद्धि न होना, समय पर वर्षा होना और उत्तम धान्य पैदा होना यह सब लाभ अग्निहोत्र से हो सकते हैं, यदि समय पर नियमानुकूल प्रति-दिन किया जावे। इसके लिए सब से बड़ा प्रमाण भग-वद्गीता का यह श्लोक है—

अन्नाद्भवंति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१॥

अन्न से प्राणियों की उत्पत्ति होती है और मेघ से अन्न उत्पन्न होता है, यज्ञ से मेघ की उत्पत्ति होती है और कर्म से यज्ञ उत्पन्न होता है।

दृष्टान्त के लिए यदि जयपुर शहर के प्रत्येक गृहस्थ के घर में प्रातः और सायंकाल अग्निहोत्र होता रहे तो शहर की गलियों की दुर्गन्धि अवश्य नष्ट हो जाय और प्रजा का स्वास्थ्य बहुत उत्तम रह सकता है। यदि यह शंका हो कि इसमें द्रव्य का व्यय बहुत है तो बीमारों की औषध और डाक्टरों

की फ़ीस में कितना द्रव्य लगता है। यदि उससे तुलना की जाय तो उसका भार बहुत कम है। फिर यदि समय पर वर्षा होती रहे तो कितना लाभ है। तीसरा गुण इस में यह भी है कि जब उत्तम और विशेष रूप से घृत की आवश्यकता होगी तो प्रजा स्वयम् गौ से अधिक प्रेम करने लगेगी और गोरक्षा के अनेक उपाय सूझने लग जायंगे। अग्निहोत्र से होने वाले तीन लाभ स्पष्ट हैं—

(१) समय पर वर्षा होकर उत्तम धान्य का पैदा होना जो जीवमात्र का आधार है, कमज़ोर धान्य ने ही मनुष्यों को शिथिल बना दिया है, खून में जोश और बल नहीं रहा इसलिए उत्तम धान्य के पैदा करने का यह उपाय अवश्य करना चाहिए। (२) दूसरा गुण इसमें यह है कि वायुमण्डल को शुद्ध करके अनेक प्रकार के भयंकर रोगों के जर्म्स (कीट) को नष्ट कर देता है और महामारी, प्लेग, हैज़ा, भयंकर ज्वर इत्यादि अनेक प्रकार के रोग बहुत कम हो जाते हैं। घरों की हवा बहुत शुद्ध हो जाती है। कोई भी घर ऐसा नहीं है जिसमें दुर्गन्धि न फैलती हो, क्योंकि मनुष्य के शरीर की रचना ही ऐसी है जो प्रतिदिन दुर्गन्धि फैलती है। इसलिए प्राचीन महर्षियों ने कृपा करके इस दुर्गन्धि को प्रतिदिन उसी स्थान पर मिटा देने का उपाय अग्निहोत्र द्वारा निकाला और यह नियम किया कि जो व्यक्ति दुर्गन्ध फैलावे वह उसको निवारण करने का भी उपाय

प्रतिदिन करे और जबतक अवस्था प्रतिदिन अग्निहोत्र करने के लायक न हो या जो असहाय और रुग्ण हों तबतक उसका भार माता पिता और राजा पर रहे । (३) अग्निहोत्र विना घृत के नहीं हो सकता इसलिए गौ को पूज्यस्थान देकर उसकी अनेक प्रकार से रक्षा करने का नियम बनाया और राजा और प्रजागण को शिक्षा दी कि तुम गौ की रक्षा करो यह तुम्हारा अनेक प्रकार से भला करेगी । प्रमाण के लिए निम्नलिखित वेदों के वाक्य लिखे जाते हैं:—

यजुर्वेद—

१–अघ्नियामुपसेवताम् । तै० ब्रा० ३ । ७ । ४ ।

२–महांस्त्वेव गोर्महिमा । यजुर्वेद ब्रा० ३।२।६।१।

३–भद्रं वा इदमजीजनामहि ये गामजीजनामहि यशो ह्येवेयम् । नो हि ऋते गोर्यज्ञस्तायते । शत० २।२।२।

४–गावो भगो गाव इन्द्रो मे अच्छाद् ।
गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः ।
इमा या गावः स जना स इन्द्रः ॥१॥
यूयं गावो मेदयथा कृशंचिद्
अश्लीलं चित् कृणुथा सुप्रतीकम् ।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो
वय उच्यते सभासु । तै० ब्रा० २ । ८ । ८ ।

५–अजस्रमिन्दुमरुषं भुरण्यु-
मग्निमीडे पूर्वचित्तिं नमोभिः ।

स पर्वभिर्ऋतुशः कल्पमानो
गां मा हिंसीरदितिं विराजम् ॥ (यजुर्वेद)

ऋग्वेद—

६-माता रुद्राणां, दुहिता वसूनां
स्वसाऽऽदित्यानाममृतस्य नाभिः ।
प्रनु वोचं चिकितुषे जनाय
मागामनागामदितिं वधिष्ट ॥ ऋग्वेद ८।१०१।१५ ।

७-सूयवसाद् भगवती हि भूयाः
अथो वयं भगवन्तः स्याम ।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं
पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती । ऋग्वेद १।१६४।४० ।

अथर्ववेद—

८-नैतां ते देवा अददुस्तुभ्यं नृपते अत्तवे ।
मा ब्राह्मणस्य राजन्य गां जिघत्सो अनाद्याम् ॥

९-ब्रह्मगवी पच्यमाना यावत् साभि विजङ्गहे ।
तेजो राष्ट्रस्य निर्हन्ति न वीरो जायते वृषा ॥
अथर्ववेद ५ । १८ । १ ॥ ५ । १९ । ४ ।

१०-अघ्न्या अहन्तव्या भवति । निरुक्त दैवत० ११ ॥

यजुर्वेद ।

१-गाय के पास रहकर उसकी सेवा करो ।

२-गाय की बहुत बड़ी महिमा है ।

३-ईश्वर कहते हैं कि हमने जितने पदार्थ उत्पन्न किये

हैं उनमें सब से बढ़कर उत्तम वस्तु यह गौ है। औरों से जितने लाभ हैं उन सब से कहीं अधिक गौ से लाभ है क्योंकि इससे यज्ञ की सिद्धि है, विना गौ के यज्ञ नहीं।

४-गौ संसार की सम्पत्ति है। गौ के प्रताप से राजा बादशाह राज्य करते हैं। सोम से अन्न होता है, किन्तु सोम गौओं से प्राप्त होते हैं। जितने अधिक गो होंगे उतना ही अधिक अन्न उत्पन्न होगा। अय मेरे प्यारे गौः! तुम दुर्बलों को मोटा करो। भद्दे और ख़राब को सुन्दर अच्छा करो। घरों को सुशोभित और उन्नतिशील करो। राजसभा में तुम्हारे अन्न के लिये अच्छी चर्चा रहा करे।

५-गौ में सोम-देवता और अग्नि-देवता रहते हैं उनको नमस्कार करो। वे तुम्हारी दिन पर दिन रक्षा और उन्नति करेंगे। गौ बहुत कल्याण करनेवाली वस्तु है उसे मत मारो।

ऋग्वेद।

६-यह गौ रुद्र-देवता की माता है। वसु-देवता की कन्या है। आदित्य-देवता की बहन है, अमृत बरसाने वाली है। समझदार भद्रपुरुषों के प्रति मेरा आदेश है कि यह गाय तुम्हारी कोई हानि नहीं करेगी, इसको कभी मत मारो।

७-तुम लोग गाय से यह कहा करो कि हे गाय! तुम अच्छे घासों को खाओ, खुशहाल रहो और तुम्हारी कृपा से

हम सब भी खुशहाल रहें। तुमको कोई भी नहीं मारेगा। हमेशा घास चरा करो। शुद्ध साफ़ जल पिया करो। मन-माने बे रोकटोक विचरा करो।

८—हे गाय के खाने की इच्छा करने वाले क्षत्रिय राजन्! ब्राह्मण की इस अभक्ष्य गाय को उन देवों ने तुझे खाने के लिये नहीं दिया।

९—पकाई जाती हुई ब्राह्मण की गाय की गंध आदि जहांतक फैलती है उस राज्य की हुकूमत को नष्ट करती है और उसका पुत्र कुलवर्धक नहीं होता।

१०—गाय मारने योग्य नहीं होती।

शहरों और मकानों की सफ़ाई और बग़ीचा लगाना।

मनुष्यों को सुखी और स्वस्थ रखने के लिए यह बहुत आवश्यक है कि उनको शुद्ध वायु, शुद्ध जल और शुद्ध भोजन मिले। शुद्ध वायु के लिए प्रति-घर में होम होना चाहिए, मकान इस रीति से बनाए जायं कि उनकी हवा इस तरफ़ से उस तरफ़ साफ़ होती रहे और सूर्य्य का प्रकाश मकान के भीतर खूब प्रवेश करे। गलियें और राज-मार्ग खूब चौड़े हों। स्थान स्थान पर जहां शहर के बीच में खुले स्थान हों वहां छोटे छोटे बग़ीचे और फौहारे लगाए जायँ और उन बग़ीचों में ऐसे वृक्ष लगाए जायं जो oxygen विशेष दें और nitrogen को खींच लें ताकि आस-

पास की वायु प्रतिदिन शुद्ध होती रहे। बड़े शहरों में प्रायः लोग कमज़ोर और पीले होते हैं और गांवों में रहने वाले हृष्ट पुष्ट होते हैं यह शुद्ध वायु सेवन का फल है। बड़े शहरों के बीच में छोटे बग़ीचों का होना बहुत आवश्यक है।

शुद्ध जल के लिए वे ही उपाय किए जायं जिनसे शुद्ध जल प्राप्त हो सके और खाद्य पदार्थ बेचने वालों पर सरकार की तरफ़ से पूरी निगरानी रहे कि वे लोग घृत, दूध इत्यादि कोई भी वस्तु विकृत दशा में न बेच सकें। यह आजकल बहुत हो रहा है और देखा जाता है कि खाद्य पदार्थ ऐसी निकृष्ट दशा में रक्खे जाते हैं और बेचे जाते हैं जिनके देखने से घृणा होती है। जिन गायों को घोड़ों की लीद खिलाई जाय उनका दूध पीने से मनुष्य का स्वास्थ्य कैसा होगा सोच लीजिए। यदि बहुत कड़ा नियम बनाकर खाने पीने की चीज़ों को शुद्ध कराया जाय तो रोगों की बहुत कमी हो सकती है। रोगों की कमी होने से ओषधियों में जो द्रव्य खर्च होता है वह अपने आप कम हो जायगा और प्रजा सुखी होकर रह सकेगी।

मन्दिरों का सुधार।

देवालय बनाना, उसमें मूर्ति स्थापित करना बहुत प्राचीन प्रणाली है। इससे बहुत बड़ा लाभ होने की सम्भावना है और हो रहा है, परन्तु नियम के विपरीत और शास्त्र की आज्ञा को तोड़ कर मन्दिर के महन्तों वा कर्मचारियों

को पूर्ण स्वतंत्रता मनमाना काम करने की देने से सिवाय हानि के लाभ होने की सम्भावना नहीं है। भारत के मन्दिरों की बहुत दुर्दशा बहुत वर्षों से चली आती है और ब्राह्मणों के अधःपतन के कारणों में से एक कारण यह भी है कि वह देव-मन्दिरों की पूर्ण रीति से शास्त्र की आज्ञानुसार रचा नहीं कर सकते। भारत को छोड़ कर यहां इस लेख में जयपुर रियासत के मन्दिरों के सुधार के लिए कुछ निवेदन कर दिया जाता है, जिससे मन्दिरों की दशा बहुत उत्तम हो सके।

(१) महन्त विद्वान्, योग्य, अति सदाचारी जिसमें किसी भी प्रकार का दुर्व्यसन न हो ऐसा होना चाहिए। यदि ये गुण न हो तो महन्त पदवी से हटा दिया जाय।

(२) देवमन्दिर के कर्मचारी याने पुजारी सभी चुने हुए मनुष्य होने चाहियें जो किसी प्रकार के व्यसनी न हों। इनको पूर्ण परीचा करके नियुक्त किया जाय। उनके वेतन इतने हों कि वे अच्छी तरह से अपना निर्वाह कर सकें और मन्दिर के काम में पूरा समय दे सकें, क्योंकि वेतन में कमी करना चोरी करना सिखाना है।

(३) मन्दिर के भीतर परिवार सहित रहने की प्रथा मैं देख रहा हूं, यह बहुत बुरी है। इससे मन्दिर की प्रतिष्ठा भंग होती है और मंदिर बहुत मलिन हो जाता है

इसलिये पुजारी वगैरह के रहने का स्थान मंदिर के निकट कहीं बना दिया जाय जहां वह रह सकें।

(४) मन्दिर के नीचे हाथी, घोड़े, पालकी इत्यादि इत्यादि चीज़ें, जिनमें व्यर्थ रुपया व्यय हो, न रहनी चाहियें, क्योंकि श्री भगवान् का तो सब जगत् ही रचा हुआ है फिर उन चीज़ों की क्या आवश्यकता है। यदि कोई अवसर का मौक़ा हो तो रियासत से मंगवा लिये जायं।

(५) प्रति मन्दिर में एक बहुत योग्य मुनसरिम हो जो प्रतिवर्ष सही सही हिसाब आय और व्यय का पेश करे और बहुत उत्तम प्रबन्ध रक्खे।

(६) मन्दिरों में शौच आदि क्रिया करने के स्थान बना दिये जाते हैं यह बहुत ही हानिकारक है। मन्दिर के अन्दर ऐसा कोई स्थान न होना चाहिये जहां ऐसी क्रिया हो सके और इतना कड़ा नियम होना चाहिये कि कोई थूक भी न सके। बहुधा ऐसा देखा जाता है कि मन्दिरों में मोजा पहन कर जाने की आज्ञा नहीं मिलती, परन्तु भगवान् के निज मन्दिर के निकट ही शौच के लिये तारत बने रहते हैं और उसके निकट ही रसोई भी बनी रहती है। यह देख कर बहुत दुःख होता है और फिर मन में संतोष कर लेना पड़ता है कि हिन्दुओं का अब इतना अधः-पतन हो चुका है तो जो हो वह थोड़ा है।

(७) प्रति मंदिर में पुजारियों के वेतन और भगवान्

के भोग से बचा हुआ रुपया गोशाला, पाठशाला और अनाथालय में लगाया जाय जिससे भगवान् की आज्ञा के अनुसार प्रजा की सेवा हो सके ।

जयपुर नगर के लिये आवश्यक सुधार ।

जयपुर नगर के सुधार के लिये निम्नलिखित प्रस्ताव-रूप में निवेदन करता हूं और मुझे विश्वास है कि यह जनता के लिए परम हित के होंगे:—

(१) तालकटोरा, जहां बहुत मैला पानी इकट्ठा होता है, बिलकुल हटा दिया जाय और उसके स्थान पर एक अच्छा बग़ीचा लगा दिया जाय । उक्त स्थान पर मैला पानी इकट्ठा होने से स्वास्थ्य को बहुत हानि पहुंचती है । राजामल के तालाब में भी पानी का भरना हानिकारक है । नाहरगढ़ के नीचे से जो पानी बहकर जाता है उसके लिये ऐसा प्रबन्ध कर दिया जाय ताकि वह फैल कर हानि न पहुंचावे और बह कर शहर से बहुत दूर चला जाय ।

(२) जयपुर नगर में जो तीन चौपड़ हैं, इनके स्थान पर बड़े बड़े हॉल बनवा कर वाचनालय स्थापित कर दिये जायं । यहां उत्तम उत्तम समाचारपत्र आने चाहियें और समय समय पर व्याख्यान तथा धार्मिक, ऐतिहासिक और अन्य लोकोपकारक विषयों पर वादविवाद हुआ करें । इन हॉलों के छतों पर हवन का स्थान बना दिया जाय जहां हवन हुआ करे ताकि हवा स्वच्छ होती रहे ।

(३) रामनिवास बाग़ के सामने एक महाराजा सवाई रामसिंहजी की और शहर में जो राजमहल है उसके सामने महाराजा सवाई जयसिंहजी की पत्थर की मूर्तियां स्थापित होनी चाहियें। इससे प्रजा के हृदय में राज्य के प्रति भक्तिभाव बढ़ता है। इसके अतिरिक्त उन महाराजाओं का, जिन्होंने प्रजा के हित के लिये बड़े बड़े प्रशंसनीय काम किये हैं, स्मारक होना भी अत्यावश्यक है।

(४) शहर में और राजमहल के आस पास जो हाथियों के थान हैं वे वहां से हटा कर शहर से दूर रक्खे जायं। इनसे बहुत दुर्गन्धि फैलती है और स्वास्थ्य के लिये हानिकारक भी हैं।

(५) ऐसी सम्भावना है कि त्रिपोलिया के सामने जो चौड़ा रास्ता है उसके अन्त में एक दरवाज़ा बनाने की तजवीज़ की जाय। मेरी राय में ऐसा न होना चाहिए। महाराजा सवाई जयसिंहजी जिन्होंने जयपुर नगर बसाया था वह ज्योतिष्-शास्त्र के विद्वान् थे और भारतवर्ष में प्रसिद्ध थे। उन्होंने नगर बसाने के पहिले पूर्ण विचार करके और ज्योतिष्-शास्त्र के अनुसार सब हानि लाभ को ध्यान में रख कर यह काम किया था। यह कहना कि यह दरवाज़ा बनाना भूल से रहगया सर्वथा अनुचित है। इसके न बनाने का कोई अवश्य गूढ़ कारण होगा, अतएव मेरी समझ में अब इसमें परिवर्तन करना उचित नहीं।

(६) जयपुर नगर के समीप एक यूनिवर्सिटी बनाने की पूरी चेष्टा करनी चाहिए ताकि रियासत के और आस पास के विद्यार्थीगण लाभ उठा सकें और शिक्षित बन सकें। इस यूनिवर्सिटी का नाम 'माधव यूनिवर्सिटी' रक्खा जाय। साथ ही एक बहुत बड़ा बोर्डिङ्ग हाउस उक्त यूनिवर्सिटी के लिए बनना चाहिए और इसका नाम 'मान बोर्डिङ्ग' हाउस होना चाहिए। इनके सुप्रबन्ध की ओर पूरा ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि इनको बनाना बिलकुल व्यर्थ है जब तक इनका उत्तम प्रबन्ध न हो। यह बहुधा देखा जाता है कि रियासत में बहुत से कार्य बहुत ऊंचे सिद्धान्त के अनुसार प्रजाहित के लिए किए जाते हैं, परन्तु अभाग्यवश कुप्रबन्ध के कारण प्रजा को कुछ भी लाभ नहीं होता और बड़े बड़े सुन्दर मकानात केवल बाहरी शोभामात्र के लिए ही खड़े रहते हैं। आशा है इस विषय पर पूरा ध्यान दिया जायगा। अगर मेरी इसमें कोई धृष्टता हो तो क्षमाप्रार्थी हूं।

(७) नगर में जल का उत्तम प्रबन्ध होना चाहिए। जहां जहां सरकारी टूंटी (पानी के बम्बे) लगी हैं उसके आस पास मज़बूत जालीदार लोहे की चादर डाल दी जाय ताकि पानी नीचे चला जाय और चारों ओर फैलकर कीचड़ तथा गन्दगी न पैदा कर सके। चादर ऐसी न हो जिससे लोग फिसल कर गिर पड़ें।

(८) नगर में स्थान स्थान पर पेशावख़ाने बना दिए

जायं। जो लोग सड़क के किनारे पेशाब करते पाए जायं उनको कड़ी सज़ा जुर्माने के रूप में देनी चाहिए। इससे बहुत दुर्गन्धि फैलती है और यह बीमारी की जड़ है। पेशावखानों की उत्तम सफाई रहनी चाहिए और उनको फिनाइल अथवा और दवाइयों से दिन में एक या दो बार अवश्य धुलवा दिया जाय।

(६) नगर में जगह तजवीज़ करके तारत बनवा दिए जायं। इस स्थान पर (Bucket System) बालटी का क़ायदा रहे ताकि एक बालटी उठा कर उसके स्थान पर दूसरी आसानी से रख दी जाय। इससे और भी उत्तम यह होगा कि यह बालटी पहियेदार गाड़ी के रूप में रहे जिससे बदलने में आसानी हो। मैला बन्द गाड़ी में शहर के बाहर पहुंचा दिया जाय। इसका उत्तम प्रबन्ध रहे और सफाई की ओर पूरा ध्यान रखना चाहिए। तारत दिन में दो तीन बार फिनाइल से धो दिए जायं।

सरदारों को ख़ास शिक्षा

सरदार रियासत के एक बहुत बड़े अंग हैं। इनको इस प्रकार की ख़ास शिक्षा होनी चाहिए जिससे ये भविष्य में रियासत में बहुत बड़े बड़े पदों पर रह कर अच्छा प्रबंध कर सकें। यह शिक्षा केवल पाठशाला में पढ़ने से प्राप्त नहीं हो सकेगी। भारतवर्ष में वा अन्य देशों में जहां उत्तम शिक्षा का प्रबंध हो वहां भेज कर इस योग्य बनाये जायं

कि जिससे ये लोग एक दिन रियासत के सुप्रबंध का कुल भार अपने कंधों पर उठा सकें।

सरदारों के सिवाय ब्राह्मणों को भी बहुत उच्चकोटि की धार्मिक शिक्षा मिलनी चाहिए जिससे ब्राह्मण स्वयं योग्य बन कर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इत्यादि सब को योग्य बना सकें, क्योंकि ब्राह्मण अग्नि है, बग़ैर अग्नि के इंजन नहीं चल सकता। रेल के इंजिन में कोयला, जल, भर कर सुसज्जित करने पर भी विना अग्नि के एक इंच भर भी नहीं टहलेगा। ब्राह्मणों के हाथ से इस देश को हानि पहुंची है यह इतिहासों से प्रत्यक्ष है, परन्तु राजाओं को उत्तमोत्तम शिक्षा देने के योग्य भी ये ही ब्राह्मण थे और ये ही ब्राह्मण वे थे जिन्होंने ब्रह्मतेज से हज़ारों और लाखों ऐसे ऐसे कार्य कर दिये जिनकी समता का दूसरा नहीं कर सकता। हां, आज दिन दशा गिरी हुई है, क्षत्रियों की तरह से इनमें भी आपस का कलह बहुत बढ़ गया है, इसलिए इस पुराने यंत्र को सुधारना भी हमारा कर्तव्य है। यदि शिक्षा का प्रबंध हो तो बहुत सुधार हो सकता है।

रियासतरूपी मनुष्य के शरीर के जीवित और हृष्ट पुष्ट रहने के लिए पांचों कर्मेन्द्रियों और पांचों ज्ञानेन्द्रियों की आवश्यकता है और ज्यों ज्यों इन्द्रियां शिथिल होंगी त्यों त्यों मनुष्यरूपी रियासत को हानि पहुंचेगी। इसलिए जहां जहां जिस जिसका जो जो कार्य है वह समय समय पर

अपना कर्त्तव्य करता रहे, इसही का नाम सुप्रबंध है और इसही के लिये शिक्षा दी जाती है। यदि इसके विपरीत कार्य होता है तो न वह शिक्षा है, न वह धर्म है और न सुप्रबंध है।

दृष्टान्त के लिए ज़रा सोच कर देखिए कि यदि एक चमार को, जो हज़ारों वर्षों से चमड़ा रंगने का काम करता आया है, अकस्मात् जनेऊ देकर वेदाध्ययन कराया जाय और एक ब्राह्मण को अकस्मात् चमड़ा रंगने में प्रवृत्त कर दिया जाय तो दोनों का फल बहुत बुरा होगा। इसलिये जो जो इन्द्रियां अपना अपना काम अनन्त समय से करती आई हैं उनसे वही काम लेओ। यदि उनमें त्रुटि है तो बुद्धि से पहचान कर उस त्रुटि को निकालो। इसी का नाम है समाज-सुधार। यदि कोई मनुष्य चक्षु से जिह्वा का काम लेने का प्रयत्न करे और जिह्वा से चक्षु का तो क्या सफलता हो सकेगी, नहीं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में यह भाव पैदा कर देना कि हम एक जाति के और एक समाज के पृथक् पृथक् अंग हैं; हमको उस जाति और समाज की रक्षा के निमित्त अपना अपना कर्त्तव्य यथार्थरूप से कर देना चाहिए बहुत आवश्यक है। हिन्दू-जाति को योग्य बनाने के निमित्त ऐसा उपाय अवश्य होना चाहिए जिससे इन चारों वर्णों में आपस में एकता बढ़े।

ब्राह्मण का कर्तव्य बुद्धि से होने वाले सब कार्य को करना और पठन-पाठन इत्यादि सब धर्मों का साधन करना

है जैसी कि गीता में आज्ञा है, क्षत्रिय का काम भुजाओं के बल से सब की रक्षा करना, दान देना इत्यादि, उनका नियम भी गीता में स्पष्ट कहा गया है। गीता में वैश्य-जाति का नियम भी स्पष्ट कहा गया है। अब यहां पर यह विचार करना है कि हिन्दू-जाति के शरीर में विशेष सुधार की ओर वह भी तत्काल हो ऐसी आवश्यकता क्या है? इसका यही उत्तर समझ में आता है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय की बुद्धि का सुधार, क्षत्रियों में बल और तेज की बहुतायत और जाति की रक्षा का विचार पैदा करना बहुत आवश्यक है। मनु इत्यादिक धर्मशास्त्रों में यह स्पष्ट आज्ञा है कि मनुष्य जैसा भोजन करता है, वैसा ही उसमें बल, वीर्य बढ़ता है और वैसी ही उसमें बुद्धि होती है। इतिहासों से भी यह प्रमाणित है कि दूषित अन्न के खाने से बुद्धि सदोष हो जाती है। इसलिए ब्राह्मणों की सात्विक बुद्धि बढ़ाने के लिये और क्षत्रियों में तेज और बल बढ़ाने के लिये उत्तम और बल देने वाले भोजन का प्रबन्ध होना चाहिए। गीता के प्रमाण से वैश्य का कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य करना यह मुख्य धर्म रक्खा गया है और ये ही तीन ऐसे हैं जिनके आधार पर ब्राह्मण की बुद्धि की सात्विकता और क्षत्रिय का बल, वीर्य टिका हुआ है। यदि एक देश में भोजन की सब वस्तुयें शुद्ध मिलें तो अवश्य शरीर बहुत दृढ़ होगा और बल, वीर्य बढ़ेगा। गौ की रक्षा

होने से दूध और घृत बहुतायत से मिल सकेंगे और यदि उत्तम अन्न निपजे और समय पर प्रजा को अच्छी दशा में मिल सके तो कभी प्रजा क्षीण बलवाली नहीं होगी। जब शरीर में बल होगा तो जाति की रक्षा के लिये क्षत्रिय भी तैयार हो जायगा और ब्राह्मण भी सात्विक भाव को प्राप्त होकर अच्छी शिक्षा दे सकेगा। ब्राह्मण और क्षत्रिय की बुद्धि और बल शुद्ध अन्न और शुद्ध घृत आदि खाद्य पदार्थों के मिलने से ही बढ़ सकते हैं अन्यथा नहीं।

आजकल वैश्य-समाज ने भारत के व्यापार, गोरक्षा, शुद्ध अन्न और घृत इत्यादिक के बेचने का क्या क्या प्रबन्ध कर रक्खा है वे खुद सोचें। दूसरे देशों से आये हुए अनेक प्रकार के दूषित अन्न और कृत्रिम घृत इत्यादिक चीज़ों से ब्राह्मण और क्षत्रियों को हानि पहुंचाने का उत्तर-दायित्व वैश्य-समाज पर है। दूषित अन्न खिला कर अपवित्र और हानिकारक द्रव्यों को ब्राह्मण और क्षत्रिय-समाज के पेट में भर कर यह आशा करते हैं कि ब्राह्मण उपदेश करे और क्षत्रिय रक्षा करे। जैसा अन्न खिलाया वैसी बुद्धि हो गई, ज़रा निष्पक्ष हो सोच कर देखो कि बाज़ार में मिष्टान्न किस दशा में मिलता है और घृत और दुग्ध कैसा है। इसी देश में अंग्रेज़ों के प्रबन्ध में यही चीज़ें किस उत्तमता से मिलती हैं सो स्पष्ट है, परन्तु जबतक वैश्य-समाज अपने निज के छोटे स्वार्थ का त्याग करके इसका

उत्तम प्रबन्ध न करेगा, कभी सुधार नहीं होगा वा उस दिन होगा जब क्षत्रिय-समाज फिर उठ कर प्रबन्ध का काम अपने हाथ में लेगा।

सरदारों की हक़दारी वा गोद के नियम

रियासतों में सरदारों के आपस में गोद वा हक़दारी के मुक़द्दमे चला करते हैं और बहुत समय तक ऐसे मुक़द्दमों के चलने से ठिकानों को द्रव्य-सम्बन्धी वा अन्य कई प्रकार की हानियां पहुंचती हैं। इसके सुप्रबन्ध के लिए एक सभा नियामित की जाय जिसमें केवल इन ठिकानों के हक़दारी वा गोद से सम्बन्ध रखने वाले ही मुक़द्दमे निर्धारित किये जायं और इस सम्बन्ध के नियम भी स्पष्ट बना दिये जायं जिनसे मुक़द्दमों की जांच करने में बाधा न पड़े। इस सभा के सदस्य न्याय-विभाग का सब से बड़ा अफ़सर और सरदारों में से हों, क्योंकि सरदारों को उनके समाज से जितना परिचय होता है औरों को नहीं होता और इस समाज के सदस्यों से निर्धारित फैसला विशेष संतोषजनक प्रतीत होगा।

प्रजागण के लिए चेतावनी

इस पत्र में राजा के पढ़ने योग्य बहुतसा विषय लिखा गया, परन्तु प्रजागण के लिये भी एक शब्द कह देना आवश्यक समझता हूं। बिना राजा के कभी प्रजा रह नहीं सकती, चाहे किसी स्वरूप में हो, प्रेसीडेन्ट (सभापति) बन कर अथवा लीडर (नेता) बन कर राजा अवश्य रहता है और

जितने समय तक उस आसन पर रहता है वह अपनी आज्ञा का पालन कराना अपना कर्तव्य समझता है और प्रजा भी उसकी आज्ञा का पालन करती है। आज्ञा पालन कराने में और एक देश पर और उस देश में रहनेवाली जाति पर हकूमत करने में भारत की प्राचीन प्रणाली के राजाओं में और इस अर्वाचीन प्रणाली के राजाओं में कुछ भी अन्तर नहीं है। यदि अन्तर है तो केवल एक जगह कि आधुनिक राजा को निरन्तर यह ज्ञान रहता है कि थोड़े समय तक यह भार तुम्हारे शिर पर है, परन्तु प्राचीन प्रणाली के राजा को तो पीढ़ियों तक यह भार उठाना है, इसका निरन्तर ध्यान रहता था और यदि राज्य-शासन में सफलता न हुई तो उससे होने वाली हानि और लज्जा का भार भी उस राजा के हृदय में बना रहता था इसलिये देश के हित और जाति की रक्षा के लिये जो चिन्ता प्राचीन को थी, आधुनिक को नहीं। इसके बहुत बड़े प्रमाण भारत के इतिहास में मिल सकते हैं। भारत के प्राचीन इतिहास के बहुत बड़े राजर्षियों और अद्वितीय राजाओं को छोड़ कर मैं इस समय के इतिहास में बहुत दृढ़ता से कहता हूं कि प्राचीन प्रणाली के राजा चित्तौड़ में उस समय राज्य करते थे जब मुसलमानों के प्रबल आक्रमण इस देश पर हुए और वीर क्षत्रिय राजाओं ने धर्म, देश और जाति की रक्षा के लिये जो कुछ चरित्र संसार में करके बताया उसको मैं क्या कहूं।

अमेरिका जैसे दूर देशवासी भी आज तक उस इतिहास को बहुत प्रेम से पढ़ते हैं। ये उसी प्राचीन प्रणाली के राजा थे जिन्होंने कतिपय दिनों में ही अपनी बारह पीढ़ियों को निज धर्म की रक्षा के निमित्त वीरशय्या पर सुला दिया और संसार की जातियों के सामने और भारत-माता के सामने अपने यशरूपी शरीर को छोड़ गये। यह सब इसीलिये हुआ कि उनको जन्म से यह शिक्षा दी जाती थी और पीढ़ियों से राज्य-शासन करने के कारण उनके रुधिर में यह बात जम गई थी कि देश और धर्म पर आपत्ति होने के समय राजा अपने शरीर को उनके बचाने के निमित्त तृणवत् त्याग करदे। ऐसा ही इन वीरों ने किया।

वीर राजपुत्रियों का इतिहास भी पढ़ने योग्य है जिनका चमत्कारिक वृत्तान्त और शिक्षाप्रद रहन सहन स्वार्थत्याग, देश, धर्म और जाति के अभिमान की रक्षा करने के निमित्त और सतीत्व धर्म को सब से ऊंचा मानकर किस किस मौक़े पर और कब कब असार संसार में किन किन चरित्रों से क्षत्रिय-जाति की शोभा को बढ़ाया है। यह सब प्रजागणों के ध्यान पूर्वक पढ़ने लायक है। राजा में केवल दोष-दृष्टि से उसके अवगुणों को सामने रखना एक साधारण बात है, परंतु उसके अवगुणों को हटाने की चेष्टा करना ज़रा कठिन कार्य है। और जो दूसरों के अवगुणों को हटाना चाहें उनको चाहिये

कि वह अपने समाज को अवगुणों से वंचित करके शुभ-गुणों से इस प्रकार युक्त करलें कि दोप-दृष्टि को उनके समाज में प्रवेश करने का अवसर न मिले। एक सुवर्ण की भारी शलाका में अन्य धातु का कुछ मेल होने से सारा सुवर्ण दूपित नहीं होता है और अग्नि में तप्त करने से बहुत शीघ्र शुद्ध हो जाता है, परन्तु थोड़े दोप के कारण इस सुवर्ण का सर्वथा त्याग कर देना बुद्धिमानी नहीं है, क्योंकि नया सुवर्ण प्राप्त करना बहुत कठिन है और न मालूम किस खान का हो और यदि उसमें भी दोप है तो उसके निवारण के हेतु वही अग्नि की क्रिया करनी पड़ेगी। इससे यह उत्तमतर है कि जो हमारे हाथ में सुवर्ण है उसी को शुद्ध कर लें, क्योंकि इसकी जाति और स्वभाव को हम पहचानते हैं और इसमें जो किंचिन्मात्र दोप हो गया है वह भी हमारी असावधानी से हुआ है, इसलिये इस सुवर्ण को बहु-मूल्य समझ कर उसके दोप के निवारण करने की चेष्टा करो न कि सुवर्ण के त्याग की। अज्ञ प्रजागणों ने ऐसे दोप किये हैं जो इतिहास में आजतक साक्षीरूप हैं। एक दृष्टान्त यहां पर प्रजाओं की भूल का लिख देना आवश्यक है—

जब श्री रामचन्द्र वनवास को प्रस्थान कर गये तो उनके साथ उनके छोटे भाई लक्ष्मण और धर्मपत्नी श्री सीताजी भी पधारीं। वन में रहते रहते अकस्मात् रावण ने सीता को हरण किया और बहुत समय तक उस देवी को एकान्त-

वास में राक्षसियों के पहरे में रक्खा। श्री रामचन्द ने समय पाकर अपनी वीरता और बुद्धि से बड़े शत्रु रावण को मारा और सीतारूपी लक्ष्मी फिर युद्ध-भूमि में रामचन्द्रजी के सामने लाई गई। सीता को ग्रहण करने से पहले उस वीर रघुनन्दन के हृदय में अकस्मात् यह प्रश्न उठा कि सीता को ग्रहण करने से पहले उनकी परीक्षा लिया जाना आवश्यक है वा नहीं और परीक्षा लिया जाना आवश्यक है यह निश्चय करके सीता को ग्रहण न किया और जो आज्ञा दी उसका वृत्तान्त महर्षि वाल्मीकि द्वारा यों अंकित है—

तां तु पार्श्वे स्थितां प्रह्वां रामः संप्रेक्ष्य मैथिलीम्।
हृदयान्तर्गतं भावं व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥ १ ॥
एषासि निर्जिता भद्रे शत्रुं जित्वा रणाजिरे।
पौरुषाद्यदनुष्ठेयं मयैतदुपपादितम् ॥ २ ॥
गतोस्म्यंतममर्षस्य धर्षणा संप्रमार्जिता।
अवमानश्च शत्रुश्च युगपन्निहतौ मया ॥ ३ ॥
अद्य मे पौरुषं दृष्टमद्य मे सफलः श्रमः।
अद्य तीर्णप्रतिज्ञोहं प्रभवाम्यद्य चात्मनः ॥ ४ ॥
या त्वं विरहिता नीता चलचित्तेन रक्षसा।
दैवसंपादितो दोषो मानुषेण मया जितः ॥ ५ ॥
संप्राप्तमवमानं यस्तेजसा न प्रमार्जति।
कस्तस्य पौरुषेणार्थो महताप्यल्पतेजसः ॥ ६ ॥

लंघनं च समुद्रस्य लंकायाश्चापि मर्दनम् ।
सफलं तस्य च श्लाघ्यमद्य कर्म हनूमतः ॥ ७ ॥
युद्धे विक्रमतश्चैव हितं मंत्रयतस्तथा ।
सुग्रीवस्य ससैन्यस्य सफलोद्य परिश्रमः ॥ ८ ॥
विभीषणस्य च तथा सफलोद्य परिश्रमः ।
विगुणं भ्रातरं हित्वा यो मां स्वयमुपस्थितः ॥ ९ ॥
इत्येवं वदतः श्रुत्वा सीता रामस्य तद्वचः ।
मृगीवोत्फुल्लनयना बभूवाश्रुपरिप्लुता ॥ १० ॥
पश्यतस्तां तु रामस्य समीपे हृदयप्रियाम् ।
जनवादभयाद्राज्ञो बभूव हृदयं द्विधा ॥ ११ ॥
सीतामुत्पलपत्राक्षीं नीलकुंचितमूर्धजाम् ।
अवदद्वै वरारोहां मध्ये वानररक्षसाम् ॥ १२ ॥
यत्कर्तव्यं मनुष्येण धर्षणां प्रतिमार्जता ।
तत्कृतं रावणं हत्वा मयेदं मानकांक्षिणा ॥ १३ ॥
निर्जिता जीवलोकस्य तपसा भावितात्मना ।
अगस्त्येन दुराधर्षा मुनिना दक्षिणेव दिक् ॥ १४ ॥
विदितश्चास्तु भद्रं ते योयं रणपरिश्रमः ।
सुतीर्णः सुहृदां वीर्यान्न त्वदर्थं मया कृतः ॥ १५ ॥
रक्षता तु मया वृत्तमपवादं च सर्वतः ।
प्रख्यातस्यात्मवंशस्य न्यंगं च परिमार्जता ॥ १६ ॥
प्राप्तचारित्रसंदेहा मम प्रतिमुखे स्थिता ।
दीपो नेत्रातुरस्येव प्रातिकूलासि मे दृढा ॥ १७ ॥

तद्गच्छ त्वानुजानेद्य यथेष्टं जनकात्मजे ।
एता दश दिशो भद्रे कार्यमस्ति न मे त्वया ॥१८॥
कः पुमांस्तु कुले जातः स्त्रियं परगृहोषिताम् ।
तेजस्वी पुनरादद्यात्सुहृल्लोभेन चेतसा ॥ १९ ॥
रावणांकपरिक्लिष्टां दृष्टां दुष्टेन चक्षुषा ।
कथं त्वां पुनरादद्यां कुलं व्यपदिशन्महत् ॥ २० ॥
यदर्थं निर्जिता मे त्वं सोयमासादितो मया ।
नास्ति मे त्वय्यभिष्वंगो यथेष्टं गम्यतामिति ॥ २१॥
तदद्य व्याहृतं भद्रे मयैतत्कृतबुद्धिना ।
लक्ष्मणे वाथ भरते कुरु बुद्धिं यथासुखम् ॥ २२ ॥
शत्रुघ्ने वाथ सुग्रीवे राक्षसे वा विभीषणे ।
निवेशय मनः सीते यथा वा सुखमात्मनः ॥ २३ ॥
नहि त्वां रावणो दृष्ट्वा दिव्यरूपां मनोरमाम् ।
मर्षयत्यचिरं सीते स्वगृहे पर्यवस्थिताम् ॥ २४ ॥

ततः प्रियार्हश्रवणा तदप्रियं
प्रियादुपश्रुत्य चिरस्य मानिनी ।
मुमोच बाष्पं रुदती तदा भृशं
गजेन्द्रहस्ताभिहतेव वल्लरी ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये
युद्धकांडे सप्तदशाधिकशततमः
सर्गः ॥ ११७ ॥

एवमुक्ता तु वैदेही परुषं रोमहर्षणम् ।
राघवेण सरोषेण श्रुत्वा प्रव्यथिताभवत् ॥ १ ॥
सा तदाऽश्रुतपूर्वं हि जने महति मैथिली ।
श्रुत्वा भर्तुर्वचो घोरं लज्जयावनताभवत् ॥ २ ॥
प्रविशंतीव गात्राणि स्वानि सा जनकात्मजा ।
वाक्शरैस्तैः सशल्येव भृशमश्रूण्यवर्तयत् ॥ ३ ॥
ततो वाष्पपरिक्लिन्नं प्रमार्जती स्वमाननम् ।
शनैर्गद्गदया वाचा भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ ४ ॥
किं मामसदृशं वाक्यमीदृशं श्रोत्रदारुणम् ।
रूक्षं श्रावयसे वीर प्राकृतः प्राकृतामिव ॥ ५ ॥
न तथास्मि महाबाहो यथा मामवगच्छसि ।
प्रत्ययं गच्छ मे स्वेन चारित्रेणैव ते शपे ॥ ६ ॥
पृथक् स्त्रीणां प्रचारेण जातिं त्वं परिशंकसे ।
परित्यजैनां शंकां तु यदि तेऽहं परीक्षिता ॥ ७ ॥
यदहं गात्रसंस्पर्शं गतास्मि विवशा प्रभो ।
कामकारो न मे तत्र दैवं तत्रापराध्यति ॥ ८ ॥
मदधीनं तु यत्तन्मे हृदयं त्वयि वर्तते ।
पराधीनेषु गात्रेषु किं करिष्याम्यनीश्वरी ॥ ९ ॥
सह संवृद्धभावेन संसर्गेण च मानद ।
यदि तेऽहं न विज्ञाता हता तेनास्मि शाश्वतम् ॥१०॥
प्रेषितस्ते महावीरो हनूमानवलोककः ।
लंकास्थाहं त्वया राजन्किं तदा न विसर्जिता ॥११॥

प्रत्यक्षं वानरस्यास्य तद्वाक्यसमनन्तरम् ।
त्वया संत्यक्तया वीर त्यक्तं स्याज्जीवितं मया ॥१२॥
न वृथा ते श्रमोयं स्यात्संशये न्यस्य जीवितम् ।
सुहृज्जनपरिक्लेशो न चायं विफलस्तव ॥ १३ ॥
त्वया तु नृपशार्दूल रोषमेवानुवर्तता ।
लघुनेव मनुष्येण स्त्रीत्वमेव पुरस्कृतम् ॥ १४ ॥
अपदेशो मे जनकान्नोत्पत्तिर्वसुधातलात् ।
मम वृत्तं च वृत्तज्ञ बहु तेन पुरस्कृतम् ॥ १५ ॥
न प्रमाणीकृतः पाणिर्बाल्ये मम निपीडितः ।
मम भक्तिश्च शीलं च सर्वं ते पृष्ठतः कृतम् ॥१६॥
इति ब्रुवंती रुदती बाष्पगद्गदभाषिणी ।
उवाच लक्ष्मणं सीता दीनं ध्यानपरायणम् ॥ १७ ॥
चितां मे कुरु सौमित्रे व्यसनस्यास्य भेषजम् ।
मिथ्यापवादोपहता नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ १८ ॥
अप्रीतेन गुणैर्भर्त्रा त्यक्ताया जनसंसदि ।
या क्षमा मे गतिर्गन्तुं प्रवेक्ष्ये हव्यवाहनम् ॥ १९ ॥
एवमुक्तस्तु वैदेह्या लक्ष्मणः परवीरहा ।
अमर्षवशमापन्नो राघवं समुदैक्षत ॥ २० ॥
स विज्ञाय मनश्छंदं रामस्याकारसूचितम् ।
चितां चकार सौमित्रिर्मते रामस्य वीर्यवान् ॥२१॥
नहि रामं तदा कश्चित्कालांतकयमोपमम् ।
अनुनेतुमथो वक्तुं द्रष्टुं वाप्यशकत्सुहृत् ॥ २२ ॥

अधोमुखं स्थितं रामं ततः कृत्वा प्रदक्षिणम् ।
उपावर्तत वैदेही दीप्यमानं हुताशनम् ॥ २३ ॥
प्रणम्य दैवतेभ्यश्च ब्राह्मणेभ्यश्च मैथिली ।
बद्धांजलिपुटा चेदमुवाचाग्निसमीपतः ॥ २४ ॥
यथा मे हृदयं नित्यं नापसर्पति राघवात् ।
तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः ॥२५॥
यथा मां शुद्धचारित्रां दुष्टां जानाति राघवः ।
तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः ॥२६॥
एवमुक्त्वा तु वैदेही परिक्रम्य हुताशनम् ।
विवेश ज्वलनं दीप्तं निःशंकेनान्तरात्मना ॥ २७ ॥
जनश्च सुमहांस्तत्र बालवृद्धसमाकुलः ।
ददर्श मैथिलीं दीप्तां प्रविशंतीं हुताशनम् ॥ २८ ॥
सा तप्तनवहेमाभा तप्तकांचनभूषणा ।
पपात ज्वलनं दीप्तं सर्वलोकस्य सन्निधौ ॥ २९ ॥
ददृशुस्तां विशालाक्षीं पतंतीं हव्यवाहनम् ।
सीतां सर्वाणि रूपाणि रुक्मवेदिनिभां तदा ॥ ३० ॥
ददृशुस्तां महाभागां प्रविशंतीं हुताशनम् ।
ऋषयो देवगंधर्वा यज्ञे पूर्णाहुतीमिव ॥ ३१ ॥
प्रचुक्रुशुः स्त्रियः सर्वास्तां दृष्ट्वा हव्यवाहने ।
पतंतीं संस्कृतां मंत्रैर्वसोर्धारामिवाध्वरे ॥ ३२ ॥
ददृशुस्तां त्रयो लोका देवगंधर्वदानवाः ।
शप्तां पतंतीं निरये त्रिदिवाद्देवतामिव ॥ ३३ ॥

तस्यामग्निं विशंत्यां तु हाहेति विपुलः स्वनः ।
रक्षसां वानराणां च संबभूवाद्भुतोपमः ॥ ३४ ॥
इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये
युद्धकांडे अष्टादशाधिकशततमः
सर्गः ॥ ११८ ॥

ततो हि दुर्मना रामः श्रुत्वैव वदतां गिरः ।
दध्यौ मुहूर्तं धर्मात्मा बाष्पव्याकुललोचनः ॥ १ ॥
ततो वैश्रवणो राजा यमश्च पितृभिः सह ।
सहस्राक्षश्च देवेशो वरुणश्च जलेश्वरः ॥ २ ॥
षडर्धनयनः श्रीमान्महादेवो वृषध्वजः ।
कर्ता सर्वस्य लोकस्य ब्रह्मा ब्रह्मविदां वरः ॥ ३ ॥
एते सर्वे समागम्य विमानैः सूर्यसन्निभैः ।
आगम्य नगरीं लंकामभिजग्मुश्च राघवम् ॥ ४ ॥
ततः सहस्ताभरणान्प्रगृह्य विपुलान्भुजान् ।
अब्रुवंस्त्रिदशश्रेष्ठा राघवं प्रांजलिं स्थितम् ॥ ५ ॥
कर्ता सर्वस्य लोकस्य श्रेष्ठो ज्ञानविदां विभुः ।
उपेक्षसे कथं सीतां पतंतीं हव्यवाहने ।
कथं देवगणश्रेष्ठमात्मानं नावबुध्यसे ॥ ६ ॥
ऋतधामा वसुः पूर्वं वसूनां च प्रजापतिः ।
त्रयाणामपि लोकानामादिकर्ता स्वयं प्रभुः ॥ ७ ॥
रुद्राणामष्टमो रुद्रः साध्यानामपि पंचमः ।
अश्विनौ चापि कर्णौ ते सूर्याचंद्रमसौ दृशौ ॥ ८ ॥

अंते चादौ च मध्ये च दृश्यसे च परंतप।
उपेक्षसे च वैदेहीं मानुषः प्राकृतो यथा ॥ ९ ॥
इत्युक्तो लोकपालैस्तैः स्वामी लोकस्य राघवः।
अब्रवीत् त्रिदशश्रेष्ठान् रामो धर्मभृतां वरः ॥ १० ॥
आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम्।
सोऽहं यश्च यतश्चाहं भगवांस्तद् ब्रवीतु मे ॥ ११ ॥
इति ब्रुवाणं काकुत्स्थं ब्रह्मा ब्रह्मविदां वरः।
अब्रवीच्छृणु मे वाक्यं सत्यं सत्यपराक्रम ॥ १२ ॥
भवान्नारायणो देवः श्रीमांश्चक्रायुधः प्रभुः।
एकशृंगो वराहस्त्वं भूतभव्यसपत्नजित् ॥ १३ ॥
अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघव।
लोकानां त्वं परो धर्मो विष्वक्सेनश्चतुर्भुजः ॥ १४ ॥
शार्ङ्गधन्वा हृषीकेशः पुरुषः पुरुषोत्तमः।
अजितः खड्गधृग्विष्णुः कृष्णश्चैव बृहद्बलः ॥ १५ ॥
सेनानीर्ग्रामणीः सर्वं त्वं बुद्धिस्त्वं क्षमा दमः।
प्रभवश्चाप्ययश्च त्वमुपेन्द्रो मधुसूदनः ॥ १६ ॥
इन्द्रकर्मा महेन्द्रस्त्वं पद्मनाभो रणांतकृत्।
शरण्यं शरणं च त्वामाहुर्दिव्या महर्षयः ॥ १७ ॥
सहस्रशृंगो वेदात्मा शतशीर्षो महर्षभः।
त्वं त्रयाणां हि लोकानामादिकर्ता स्वयं प्रभुः ॥१८॥
सिद्धानामपि साध्यानामाश्रयश्चासि पूर्वजः।
त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वमोंकारः परात्परः ॥ १९ ॥

प्रभवं निधनं चापि नो विदुः को भवानिति।
दृश्यसे सर्वभूतेषु गोषु च ब्राह्मणेषु च ॥ २० ॥
दिक्षु सर्वासु गगने पर्वतेषु नदीषु च।
सहस्रचरणः श्रीमान् शतशीर्षः सहस्रदृक् ॥ २१ ॥
त्वं धारयसि भूतानि पृथिवीं सर्वपर्वतान्।
अंते पृथिव्याः सलिले दृश्यसे त्वं महोरगः ॥ २२
त्रींल्लोकान्धारयन् राम देवगंधर्वदानवान्।
अहं ते हृदयं राम जिह्वा देवी सरस्वती ॥ २३ ॥
देवा रोमाणि गात्रेषु ब्रह्मणा निर्मिताः प्रभो।
निमेषस्ते स्मृता रात्रिरुन्मेषो दिवसस्तथा ॥ २४ ॥
संस्कारास्त्वभवन्वेदा नैतदस्ति त्वया विना।
जगत्सर्वं शरीरं ते स्थैर्यं ते वसुधातलम् ॥ २५ ॥
अग्निः कोपः प्रसादस्ते सोमः श्रीवत्सलक्षण।
त्वया लोकास्त्रयः क्रान्ताः पुरा स्वैर्विक्रमैस्त्रिभिः ॥२६
महेन्द्रश्च कृतो राजा बलिं बद्ध्वा सुदारुणम्।
सीता लक्ष्मीर्भवान्विष्णुर्देवः कृष्णः प्रजापतिः ॥२७
वधार्थं रावणस्येह प्रविष्टो मानुषीं तनुम्।
तदिदं नस्त्वया कार्यं कृतं धर्मभृतां वर ॥ २८ ॥
निहतो रावणो राम प्रहृष्टो दिवमाक्रम।
अमोघं देव वीर्यं ते न ते मोघाः पराक्रमाः ॥ २९ ॥
अमोघं दर्शनं राम अमोघस्तव संस्तवः।
अमोघास्ते भविष्यन्ति भक्तिमन्तो नरा भुवि ॥ ३० ॥

ये त्वां देवं ध्रुवं भक्ताः पुराणं पुरुषोत्तमम् ।
प्राप्नुवंति तथा कामानिह लोके परत्र च ॥ ३१ ॥
इममार्षस्तवं दिव्यमितिहासं पुरातनम् ।
ये नराः कीर्तयिष्यंति नास्ति तेषां पराभवः ॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये
युद्धकांडे एकोनविंशाधिकशततमः
सर्गः ॥ ११६ ॥

एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं पितामहसमीरितम् ।
अंकेनादाय वैदेहीमुत्पपात विभावसुः ॥ १ ॥
विधूयाथ चितां तां तु वैदेहीं हव्यवाहनः ।
उत्तस्थौ मूर्तिमानाशु गृहीत्वा जनकात्मजाम् ॥ २ ॥
तरुणादित्यसंकाशां तप्तकांचनभूषणाम् ।
रक्तांबरधरां बालां नीलकुंचितमूर्धजाम् ॥ ३ ॥
अक्लिष्टमाल्याभरणां तथारूपामनिंदिताम् ।
ददौ रामाय वैदेहीमंके कृत्वा विभावसुः ॥ ४ ॥
अब्रवीत्तु तदा रामं साक्षी लोकस्य पावकः ।
एषा ते राम वैदेही पापमस्यां न विद्यते ॥ ५ ॥
नैव वाचा न मनसा नैव बुद्ध्या न चक्षुषा ।
सुवृत्ता वृत्तशौटीर्यं न त्वामत्यचरच्छुभा ॥ ६ ॥
रावणेनापनीतैषा वीर्योत्सिक्तेन रक्षसा ।
त्वया विरहिता दीना विवशा निर्जने सती ॥ ७ ॥

रुद्धाचान्तःपुरे गुप्ता त्वच्चित्ता त्वत्परायणा ।
रक्षिता राक्षसीभिश्च घोराभिर्घोरबुद्धिभिः ॥ ८ ॥
प्रलोभ्यमाना विविधं तर्ज्यमाना च मैथिली ।
नाचिंतयत तद्रक्षस्त्वद्गतेनान्तरात्मना ॥ ९ ॥
विशुद्धभावां निष्पापां प्रतिगृह्णीष्व मैथिलीम् ।
न किंचिदभिधातव्या अहमाज्ञापयामि ते ॥ १० ॥
ततः प्रीतमना रामः श्रुत्वैवं वदतां वरः ।
दध्यौ मुहूर्तं धर्मात्मा हर्षव्याकुललोचनः ॥ ११ ॥
एवमुक्तो महातेजा धृतिमानुरुविक्रमः ।
उवाच त्रिदशश्रेष्ठं रामो धर्मभृतां वरः ॥ १२ ॥
अवश्यं चापि लोकेषु सीता पावनमर्हति ।
दीर्घकालोषिता हीयं रावणांतः पुरे शुभा ॥ १३ ॥
बालिशो वत कामात्मा रामो दशरथात्मजः ।
इति वक्ष्यति मां लोको जानकीमविशोध्य हि ॥१४॥
अनन्यहृदयां सीतां मच्चित्तपरिरक्षिणीम् ।
अहमप्यवगच्छामि मैथिलीं जनकात्मजाम् ॥ १५ ॥
इमामपि विशालाक्षीं रक्षितां स्वेन तेजसा ।
रावणो नातिवर्तेत वेलामिव महोदधिः ॥ १६ ॥
न च शक्तः सुदुष्टात्मा मनसापि हि मैथिलीम् ।
प्रधर्षयितुमप्राप्यां दीप्तामग्निशिखामिव ॥ १७ ॥
नेयमर्हति वैक्लव्यं रावणांतः पुरे सती ।
अनन्या हि मया सीता भास्करस्य प्रभा यथा ॥१८॥

विशुद्धा त्रिषु लोकेषु मैथिली जनकात्मजा ।
न विहातुं मया शक्या कीर्तिरात्मवता यथा ॥१९॥
अवश्यं च मया कार्यं सर्वेषां वो वचो हितम् ।
स्निग्धानां लोकनाथानामेवं च वदतां हितम् ॥२०॥
इत्येवमुक्त्वा विजयी महाबलः
प्रशस्यमानः स्वकृतेन कर्मणा ।
समेत्य रामः प्रियया महायशाः
सुखं सुखार्होऽनुबभूव राघवः ॥ २१ ॥
इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये
युद्धकांडे विंशोत्तरशततमः सर्गः ॥ १२० ॥

भाषानुवाद ।

नम्र होकर सामने खड़ी श्री सीता देवी को देख कर महाराज अपने मन का अभिप्राय कहने लगे—हे भद्रे ! शत्रु को जीत कर मैंने तुझे जीत लिया । पुरुषार्थ के द्वारा जो करना उचित था वह मैंने किया । मैं डाह से छूट गया । अपमान को मैंने धो बहाया । अनादर और शत्रु को एक ही साथ नष्ट कर दिया । आज मेरा पौरुष देखा गया और मेरा श्रम सफल हुआ । आज मैं अपनी प्रतिज्ञा से पार हुआ और स्वतंत्र हो गया । चंचल चित्त वाले राक्षस रावण ने जो तुझे अकेली पाकर हर लिया था उस दैव-दोष को मैंने जीत लिया । जो मनुष्य अपना अनादर अपने तेज के

द्वारा दूर नहीं करता उसका बड़ा पुरुषार्थ किस काम का ? ऐसा मनुष्य बड़ा मूर्ख माना जाता है। हनुमान ने समुद्र लांघ कर लंका को तहस नहस किया। उसके ये काम सफल और स्तुति करने के योग्य हुए। युद्ध में पराक्रम करने और हित की सलाह देने वाले सेना सहित सुग्रीव का भी परिश्रम सफल होगया। वीर विभीषण का भी परिश्रम सफल हुआ। वह अपने गुणहीन भाई का साथ छोड़ कर मेरी शरण में आया था।

सीता के नेत्र अभी तक हरिणी की तरह प्रफुल्लित थे। पर राम की इस तरह की बातें सुन कर अब आंखों में आंसू भर आये। उस समय रामचन्द्रजी हृदयप्रिया सीता को देख तो रहे थे, परन्तु लोकापवाद के डर से उनका हृदय दो टुकड़े हुआ जाता था। निन्दा का विचार करते ही महाराज को ऐसा क्रोध हुआ जैसे कि घी की आहुति पाकर आगे जलने लगती है। उस समय महाराज टेढ़ी भौंहें और तिरछी आंखें करके वानरों तथा राक्षसों को सुनाते हुए सीता से बोले—देखो मनुष्यों को अपना अपमान दूर करने के लिये जो कुछ करना चाहिये वह मैंने रावण को मार कर कर दिया। उस अनादर को मैंने इस तरह जीत लिया जिस तरह भगवान् अगस्त्य ने अपने तपोबल से दक्षिण दिशा को जीत लिया था। वह दिशा प्राणीमात्र के लिये जीतने योग्य न थी। तुमको जान लेना चाहिये कि इन सुहृदों के

पराक्रम से मैं संग्राम के परिश्रम से पार होगया, पर यह सब काम मैंने कुछ तुम्हारे लिये नहीं किया। मैंने केवल अपनी मर्यादा की रक्षा की और चारों ओर से होने वाली निन्दा को रोका। मैंने अपने विख्यात वंश की अप्रतिष्ठा धो बहाई। तुम अपने चरित्र में, पातिव्रत्य में, स्त्री-धर्म में संदेह-युक्त पाई जाती हो। तुम यद्यपि मेरे पास खड़ी हो तथापि आंख के रोगी को दीये की नाईं मुझे असह्य हो। हे जानकि! मैं तुम्हें आज्ञा देता हूं कि ये दशों दिशायें तुम्हारे लिये खुली पड़ी हैं। तुम जहां चाहो चली जाओ। मुझे तुम से कुछ काम नहीं, क्योंकि ऐसा कौन कुलीन और तेजस्वी मनुष्य होगा जो दूसरे के घर में रही हुई स्त्री को, लोभ के कारण, ग्रहण कर लेगा? देखो, रावण ने तुमको अपनी गोद में बैठाया और तुम्हें कुदृष्टि से देखा। इस कारण इतने बड़े कुल में उत्पन्न होकर भला मैं अब किस तरह तुम्हें ग्रहण कर लूं? जिस यश के लिये मैंने तुमको जीता उसका लाभ मुझे होगया। अब तुम से मुझे कुछ प्रयोजन नहीं। अब तुम चाहे जहां चली जाओ। हे भद्रे! मैंने यह सब बात तुमको सुना दी। जो दूसरी जगह जाने की तुम्हारी इच्छा न हो तो यहीं लक्ष्मण अथवा भरत या शत्रुघ्न अथवा सुग्रीव किंवा विभीषण के पास रहो। अभिप्राय यह है कि तुमको जिसमें सुख जान पड़े वैसा करो। रावण बड़ा दुष्ट था। उसने अपने घर में तुम्हारे दिव्य और मनोरम

रूप को देख कर कभी न माना होगा। पति के ऐसे कड़वे वचन सुन कर सीता अत्यन्त कांपने लगीं, जैसे हाथी की झपट से आम की मंजरी कांपने लगती है।

११७ वां सर्ग समाप्त।

राम के मुख से क्रोध भरे कठोर वचन सुन कर सीता बड़ी दुखी हुईं। उन्होंने ऐसी अप्रिय बातें कभी न सुनी थीं, सो भी वानरों और राक्षसों के सामने। इसलिये उनका कहना और भी वज्रपात के समान हुआ, रामचन्द्र का कथन सुनते ही सीता तो मारे लज्जा के नीचे को मुख करके डर गईं। उन्हें ऐसी ग्लानि हुई कि मारे संकोच के मानों वे अपने ही अंगों में घुसी जाती थीं। उन वचन-बाणों ने उन्हें अत्यन्त पीड़ित कर दिया था। आंसुओं से भरे हुए अपने मुख को पोंछती हुई सीता गद्गद वाणी से धीरे धीरे अपने पति से कहने लगीं—हे वीर! आप मुझ से ऐसा अनुचित और कानों को दुःख पहुंचाने वाली कठोर बात इस तरह क्यों कहते हैं जैसे कोई क्षुद्र मनुष्य अपनी क्षुद्र स्त्री से कहे। आप जैसा समझते हैं, मैं वैसा नहीं हूं, मुझ पर विश्वास कीजिये। मैं अपने चरित्र के विषय में शपथ खाकर कहती हूं। दूसरी स्त्रियों की चाल और व्यवहार देख कर आप जो स्त्री-जाति मात्र पर शंका करते हैं सो ठीक नहीं। इस विचार को आप अपने दिल से निकाल दीजिये। यदि आप कभी मेरी परीक्षा ले चुके हैं तो ऐसा

गन्दा ख़याल आपको ज़रूर दूर कर देना चाहिए। विवश होने पर मुझ से दूसरे मनुष्य के अंगों का स्पर्श हुआ। उसमें मेरा कुछ भी वश न था। अपराधी केवल दैव है। मेरे अधीन जो मेरा मन है वह तो आप ही में लगा रहता है। क्या करूं, केवल मेरे अंग पराधीन हो गये। उसमें मेरा कुछ भी वश न था। हे मानद! इतने दिनों तक मैं आपके साथ रही, फिर भी यदि आपने मुझे न जान पाया तो मैं वृथा मारी गई। यदि आपको छोड़ना ही था तो जब हनुमान को आप ने मेरे पास भेजा था उसी समय मुझे त्याग देते। यदि मैं उस समय त्याग का हाल जान जाती तो इस वानर के सामने ही, वह वचन सुनते ही, अपने प्राण छोड़ देती। ऐसा करने से आपको व्यर्थ इतना कष्ट तो न सहना पड़ता। अपने प्राणों को सन्देह में क्यों डालना पड़ता? इन मित्रों को व्यर्थ क्लेश क्यों देना पड़ता? हे राजसिंह! आपने तो सिर्फ़ क्रोध के वश में होकर ओछे मनुष्य की तरह, केवल सामान्य स्त्री-जाति का धर्म मान लिया। सीता जनक की लड़की है, इस विचार से आपने न तो मेरी पृथ्वी से उत्पत्ति की ओर और न मेरे चरित्र की ओर ही ध्यान दिया। बाल्यावस्था में आपने मेरा पाणिग्रहण किया, वह भी आपके लिये प्रमाण न हुआ। मेरी भक्ति और मेरे शील को कुछ भी न समझ कर आपने पीठ पीछे डाल दिया।

इस प्रकार कहती और रोती चिल्लाती, आंसू बहाती तथा गद्गद होकर गिड़गिड़ाती हुई सीतादेवी दीन और शोक में पड़े हुए लचमण से बोली—"हे सौमित्रे ! मेरे लिये तुम चिता बना दो । वही इस दुःख की औषध है । मैं मिथ्या अपवाद से मारी गई, अब मुझे जीने का उत्साह नहीं । मेरे गुणों से अप्रसन्न होकर पति ने लोगों के सामने मेरा त्याग कर दिया । इसलिये उचित गति यही है कि मैं आग में प्रवेश करूं ।" गिड़गिड़ाती हुई सीतादेवी की ये बातें सुन कर क्रोध में होकर लचमण रामचन्द्रजी की ओर देखने लगे । उन्होंने उनके आकार से जान लिया कि वे भी ऐसा ही चाहते हैं । अतएव लचमण ने चिता बना कर तैयार कर दी । उस समय रामचन्द्रजी का कालान्तक यम के तुल्य चेहरा देख कर किसी मित्र की यह हिम्मत न हुई कि महाराज को मनावें या उनसे कुछ कहें । यहांतक कि उनकी ओर कोई नज़र उठा कर देख भी न सकता था । नीचे की ओर मुँह किये हुए प्रभु की प्रदक्षिणा कर सीता-देवी प्रदीप्त आग के सामने गई । वे देवताओं और ब्राह्मणों को प्रणाम कर हाथ जोड़े हुए बोलीं—"जिस तरह मेरा मन राघव से कभी अलग नहीं होता उसी तरह यह लोक-साक्षी अग्नि चारों ओर से मेरी रक्षा करे । कर्म, वाणी और मन से यदि मैं सर्वधर्मज्ञ राघव को छोड़ दूसरे को न जानती होऊं तो यह अग्नि मेरी रक्षा करे ।" इतना कह

और अग्नि की प्रदक्षिणा कर महारानी उग्र प्रज्वलित अग्नि में बेखटके बैठ गईं। वहां बालक, बुड्ढे आदि बहुतसे लोग इकट्ठे थे। उन सब ने देखा कि सीतादेवी अग्नि में प्रवेश कर गईं। सोने के समान कांति वाली और सोने के भूषणों से भूषित वह देवी सब के सामने अग्नि में प्रविष्ट हो गईं। सोने की वेदी जैसी सीतादेवी को प्राणि-मात्र ने अग्नि में प्रवेश करते देखा। तीनों लोकों ने देखा कि घी की पूर्ण आहुति की नाईं सीतादेवी आग में गिर पड़ीं। अनेक मंत्रों के द्वारा सुसंस्कृत यज्ञ की वसोर्धारा की नाईं सीतादेवी को जब स्त्रियों ने आग में गिरते देखा तब वे सब हाहाकार करने और चिल्लाने लगीं। देवता जिस प्रकार शाप से नरक में गिरें उसी तरह सीता को अग्नि में जाते देवता, गंधर्व और दानव लोगों ने देखा। उस समय सीता को आग के बीच में देख कर राक्षसों और वानरों का अद्भुत कोलाहल और हाहाकार हुआ।

११८ वां सर्ग समाप्त।

अब लोगों की तरह तरह की बातें सुन रामचन्द्र बहुत उदास होगये। वे आंखों में आंसू भर कर कुछ देर तक चुपचाप कुछ सोचने लगे। इतने ही में राजा कुवेर, पितरों को साथ लिए हुए यम, इन्द्र, वरुण, बैल पर सवार तीन आंखों वाले श्री महादेव और सब संसार को रचनेवाले ब्रह्मा ये सब सूर्य के समान विमानों पर चढ़ कर लंका में

आकर श्री राघव के पास उपस्थित हुए। उन सब देवताओं को देख मनुष्य शरीरधारी श्री रामचन्द्रजी हाथ जोड़ खड़े हो गये। भूषणों से अलंकृत देवता अपनी अपनी भुजा उठा कर बोले—हे राघव ! आप सब लोकों को रचनेवाले, श्रेष्ठ और ज्ञानियों में शिरोमणि हैं। इतने बड़े सामर्थ्यवान् होकर भी आपने सीता को अग्नि में क्यों जलने दिया ? हे देवताओं में श्रेष्ठ ! क्या आप अपने को नहीं जानते ? आप आठों वसुओं के प्रजापति ऋतधामा नाम वसु हैं। आप तीनों लोकों के आदिकर्ता स्वयं प्रभु, रुद्रों में आठवें रुद्र और साध्यों में पांचवें हैं। महाराज अश्विनीकुमार आप के कान और चन्द्र तथा सूर्य आपके नेत्र हैं। प्राणियों के आदि और अन्त में आप ही देख पड़ते हैं। संसारी मनुष्य की तरह आप सीता का त्याग क्यों करते हैं ?

जब लोकपालों ने श्री राम से यह कहा तब वे बोले "मैं तो अपने को राजा दशरथ का पुत्र, मनुष्य ही मानता हूं, परन्तु जो मैं हूं और जहां से हूं वह मुझे आप ही बतलाइए।" प्रभु के इतना कह चुकने पर ब्रह्माजी ने कहा—हे सत्यपराक्रमी, मेरी बात सुनो। आप नारायणदेव श्रीमान् चक्रधारी प्रभु हैं। आप एक शृंगधारी वराह, भूत तथा भविष्य में होनेवाले शत्रुओं को जीतनेवाले हैं। आप अक्षय (नष्ट न होनेवाले) सत्य ब्रह्म हैं। आप मध्य और अन्त में वर्तमान रहते हैं। आप सब लोकों के परम

धर्मरूप, विष्वक्सेन (चारों ओर सेनावाले), चतुर्भुज, शार्ङ्गधन्वा और हृषीकेश हैं। आप पुरुष, पुरुषोत्तम, अजित, खड्गधारी, विष्णु, कृष्ण और अथाह बली हैं। आप सेनापति, गांवों के नेता (सर्वश्रेष्ठ), सत्य, बुद्धि, क्षमा, दम (इन्द्रियनिग्रह), सृष्टिकर्ता और संहारकर्ता हैं। आप वामन, मधुसूदन, इन्द्र के कामों को करने वाले, महेन्द्र, पद्मनाभ और संग्राम के अन्तकारक हैं। अच्छे महर्षि आपको शरणागतवत्सल और शरणरूप कहते हैं। आप सहस्र शृंगधारी, वेदों के आत्मा, सौ मस्तकवाले और वृषभरूप हैं। आप तीनों लोकों के आदिकर्ता और स्वयं प्रभु हैं। आप सिद्धों और साध्यों के आश्रय-भूत तथा पूर्व-पुरुष हैं। आप यज्ञ, वषट्कार, ओंकार और परात्पर (सब से आगे) हैं। आपकी उत्पत्ति और लय का हाल कोई नहीं जानता कि आप कौन हैं। आप सब प्राणियों में, ब्राह्मणों में, गायों में, सब दिशाओं में, आकाश में, पर्वतों और नदियों में दिखाई देते हैं। आप श्रीमान् सहस्रचरण (हज़ार पैर वाले), शतमस्तक (सौ शिर वाले) और सहस्र नयन (हज़ार आंखों वाले) हैं। आप भूतों और पर्वतों सहित इस पृथ्वी को धारण करते हैं। अन्त में पृथ्वी के जल में आप महासर्प रूप देख पड़ते हैं। हे राम! आप देवता, गन्धर्व और दानवों सहित तीनों लोकों को धारण करते हैं। मैं आप का हृदय, देवी सरस्वती जीभ और देवता आप के

रोम (बाल) हैं; आपके अंगों में ब्राह्मणों की रचना है। आपका पलक मारना रात और पलक उठाना दिन है। वेद आप के संस्काररूप संसार की प्रवृत्ति और निवृत्ति के जनानेवाले हैं। विना आपके यह (संसार) कुछ भी नहीं है। सब संसार आपका शरीर और आपकी स्थिरता पृथ्वी है। हे श्रीवत्सलक्षण! आग आपका क्रोध और चन्द्रमा आपका प्रसाद है। पूर्व समय में तीन पैरों से तीनों लोकों पर आक्रमण आप ही ने किया था। आप ही ने इन्द्र को राज्य पर बिठाया और बलि को कठोरता पूर्वक बांधा। यह सीता देवी भगवती लक्ष्मी और आप विष्णु, कृष्ण तथा प्रजापति देव हैं। रावण को मारने के लिये आपने मनुष्य का शरीर धारण किया। यह हमारा ही काम था। इसे आपने पूरा कर दिया। हे राम! रावण को आपने मारा। अब प्रसन्न होकर स्वर्ग को पधारिए अर्थात् यथेष्ट अपने परमधाम को भूषित कीजिए। हे देव! आपका वीर्य अमोघ है और आपका पराक्रम कभी निष्फल नहीं होता। हे रामचन्द्र! आपका दर्शन और आपकी स्तुति अमोघ है। जो मनुष्य आपकी भक्ति करेंगे वे भी अमोघ होंगे। जो प्राणी पुराणपुरुषोत्तम आपके निश्चल भक्त होंगे वे इस लोक में और परलोक में भी अपना मनोरथ पायेंगे। यह ऋषि की कही हुई दिव्य-स्तुति प्राचीन इतिहासरूप है। जो लोग इसे पढ़ेंगे उनका पराजय कभी न होगा।"

१२६ वां सर्ग समाप्त।

इस तरह पितामह की बातें सुन कर सीता को गोद में लिये हुए अग्निदेव अपने रूप से प्रकट हुए। वह चिता इधर उधर से फट गई। सीता देवी, तरुण सूर्य के समान सोने के भूषणों से भूषित, लाल कपड़े पहने, काले और घुँघुराले बालों से शोभित, बहुत साफ़, फूल और आभूषणों से अलंकृत तथा पहला ही रूप धारण किये हुए थीं। उन्हें अग्निदेव ने रामचन्द्र को समर्पण कर दिया। अग्निदेव ने सीता देवी के विषय में कुछ कहना आरंभ किया, क्योंकि वे लोकसाक्षी हैं। उन्होंने कहा—हे राम! यह तुम्हारी जानकी देवी हैं। इनमें किसी तरह का पाप नहीं। ये वाणी, मन, बुद्धि और आंखों के द्वारा धर्मशील आपको छोड़ कर दूसरे मनुष्य की ओर नहीं फिरीं। इनका चरित्र सब तरह शुद्ध है। उस समय पराक्रम के अहंकारी राक्षस ने इनको अकेली, दीन और तुम से रहित पाकर हर लिया था। उस समय ये विवश थीं। उसने इनको ले जाकर अंतःपुर में रक्खा, परंतु ये बेचारी आप ही में मन लगाये रहीं। ये आपही को परायण समझती थीं। उस समय भयंकर और क्रूर बुद्धि वाली राक्षसियां इन्हें बहुत लोभ दिखलातीं और धमकाती थीं। पर इनका चित्त आप ही में लगा हुआ था। राक्षस का तो इन्हें कभी ध्यान भी न आता था। हे राघव! शुद्ध-हृदया और पाप-रहिता इस देवी को आप ग्रहण कीजिए। मैं आपको आज्ञा देता हूं कि अब आप इससे कुछ भी न कहें।

अग्निदेव की यह बातें सुन कर रामचन्द्रजी कुछ देर तक ध्यानावस्थित हो गये। फिर उनके नेत्र हर्ष से प्रफुल्लित हो गये। उन्होंने अग्निदेव से कहा—"आपने जो कहा वह ठीक है, क्योंकि लोगों के पास सीता पवित्रता के ही योग्य है। पर उस समय मैंने इसे इसलिये ग्रहण न किया कि यदि सीता की शुद्धता दिखलाये विना मैं इसे ग्रहण कर लेता तो लोग कहते कि—'देखो, बहुत दिनों तक सीता रावण के घर में रही, फिर भी राम ने विना विचारे उसे ग्रहण कर लिया। देखो राम बड़े कामी और मूर्ख हैं' मैं तो जनक-पुत्री को अनन्यचित्ता समझता हूं। वह मुझ ही में अपना मन लगानेवाली है। अग्नि में प्रवेश करते समय मैंने उसे इसीलिए नहीं रोका जिसमें तीनों लोकों को विश्वास हो जाय। मैंने सत्यता का आश्रय लिया। जिस तरह समुद्र अपनी मर्यादा का कभी उल्लंघन नहीं कर सकता उसी तरह बड़े नेत्रों वाली सीता का रावण किसी तरह अनादर नहीं कर सकता था, क्योंकि इसकी रक्षा इसके तेज से होती है। दुष्ट रावण की क्या सामर्थ्य थी जो इस पर हाथ डालता, क्योंकि प्रज्वलित अग्नि की ज्वाला की नाईं यह उसे प्राप्त करने के अयोग्य थी। यह पतिव्रता सीता रावण के घर में किसी तरह से कादर होने के योग्य भी न थी, क्योंकि यह मुझे छोड़ कर दूसरे मनुष्य को नहीं जानती। सूर्य की प्रभा जैसे सूर्य से अभिन्न है वैसे

ही यह मुझसे अभिन्न है। अब तो यह तीनों लोकों के सामने शुद्ध भी हो चुकी। अब मैं इसको कैसे त्याग सकता हूं? जिस तरह वीर मनुष्य कीर्ति का त्याग नहीं कर सकता वैसे ही मैं भी इसे त्याग नहीं सकता। आप लोग लोकनाथ हैं। आपने हितकी और प्रेमभरी बातें कही हैं, इनका पालन मुझे अवश्य करना चाहिए। महाबली, महा-यशस्वी और सुख पाने के योग्य श्री रामचन्द्रजी ने यह वचन कह अपने कर्म से लोकपालगणों से प्रशंसित हुए और प्राणप्यारी सीताजी से फिर मिलने के कारण अत्यन्त प्रसन्नता प्राप्त की।

१२० वां सर्ग समाप्त।

तत्पश्चात् श्री रामचन्द्र, लछमण, सीता वा सेना सहित पुष्पक विमान में विराज कर प्रसन्नता पूर्वक अयोध्या पधारे और अपने वीर और अद्वितीय भाई भरत और शत्रुघ्न से मिले, राजतिलक हुआ और बहुत समय तक धर्मराज करते रहे। श्री रामचन्द्र नित्य दूतों द्वारा अपने देश व प्रजा का वृत्तान्त सुनते थे एक दिन एक दूत ने श्री रामचन्द्र से प्रजा का वृत्तान्त कहते हुए जो कहा और उस दूत के कथन पर रामचन्द्र ने सीता को वनवास दिया। उसका वृत्तान्त वाल्मीकीय में इस प्रकार है—

तत्रोपविष्टं राजानमुपासन्ते विचक्षणाः।
कथानां बहुरूपाणां हास्यकाराः समन्ततः॥ १॥

विजयो मधुमत्तश्च काश्यपो मंगलः कुलः ।
सुराजिः कालियो भद्रो दंतवक्रः सुमागधः ॥ २ ॥
एते कथा बहुविधाः परिहाससमन्विताः ।
कथयंति स्म संहृष्टा राघवस्य महात्मनः ॥ ३ ॥
ततः कथायां कस्यांचिद्राघवः समभाषत ।
काः कथा नगरे भद्र वर्तन्ते विषयेषु च ॥ ४ ॥
मामाश्रितानि कान्याहुः पौरजानपदा जनाः ।
किं च सीतां समाश्रित्य भरतं किं च लक्ष्मणम् ॥५॥
किं नु शत्रुघ्नमुद्दिश्य कैकेयीं किं नु मातरम् ।
वक्तव्यतां च राजानो वने राज्ये व्रजंति च ॥ ६ ॥
एवमुक्ते तु रामेण भद्रः प्रांजलिरब्रवीत् ।
स्थिताः शुभाः कथा राजन् वर्तते पुरवासिनाम् ॥७॥
अयं तु विजयं सौम्य दशग्रीववधार्जितम् ।
भूयिष्ठं स्वपुरे पौरैः कथ्यन्ते पुरुषर्षभ ॥ ८ ॥
एवमुक्तस्तु भद्रेण राघवो वाक्यमब्रवीत् ।
कथयस्व यथातत्त्वं सर्वं निरवशेषतः ॥ ९ ॥
शुभाशुभानि वाक्यानि कान्याहुः पुरवासिनः ।
श्रुत्वेदानीं शुभं कुर्यां न कुर्यामशुभानि च ॥ १० ॥
कथयस्व च विस्रब्धो निर्भयं विगतज्वरः ।
कथयंति यथा पौराः पापा जनपदेषु च ॥ ११ ॥
राघवेणैवमुक्तस्तु भद्रः सुरुचिरं वचः ।
प्रत्युवाच महाबाहुं प्रांजलिः सुसमाहितः ॥ १२ ॥

शृणु राजन् यथा पौराः कथयंति शुभाशुभम् ।
चत्वरापणरथ्यासु वनेपूपवनेषु च ॥ १३ ॥
दुष्करं कृतवान्रामः समुद्रे सेतुबंधनम् ।
अश्रुतं पूर्वकैः कैश्चिद्देवैरपि सदानवैः ॥ १४ ॥
रावणश्च दुराधर्षो हतः सबलवाहनः ।
वानराश्च वशं नीता ऋक्षाश्च सह राक्षसैः ॥ १५ ॥
हत्वा च रावणं संख्ये सीतामाहृत्य राघवः ।
अमर्षं पृष्ठतः कृत्वा स्ववेश्म पुनरानयत् ॥ १६ ॥
कीदृशं हृदये तस्य सीतासंभोगजं सुखम् ।
अंकमारोप्य तु पुरा रावणेन बलाद्धृताम् ॥ १७ ॥
लंकामपि पुरा नीतामशोकवनिकां गताम् ।
रक्षसां वशमापन्नां कथं रामो न कुत्स्यति ॥ १८ ॥
अस्माकमपि दारेषु सहनीयं भविष्यति ।
यथा हि कुरुते राजा प्रजास्तमनुवर्तते ॥ १९ ॥
एवं बहुविधा वाचो वदंति पुरवासिनः ।
नगरेषु च सर्वेषु राजन् जनपदेषु च ॥ २० ॥
तस्यैवं भाषितं श्रुत्वा राघवः परमार्तवत् ।
उवाच सुहृदः सर्वान्कथमेतद्वदंतु माम् ॥ २१ ॥
सर्वे तु शिरसा भूमावभिवाद्य प्रणम्य च ।
प्रत्यूचू राघवं दीनमेवमेतन्न संशयः ॥ २२ ॥
श्रुत्वा तु वाक्यं काकुत्स्थः सर्वेषां समुदीरितम् ।
विसर्जयामास तदा वयस्यान् शत्रुसूदनः ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये
उत्तरकांडे त्रिचत्वारिंशः सर्गः ।

तेषां समुपविष्टानां सर्वेषां दीनचेतसाम् ।
उवाच वाक्यं काकुत्स्थो मुखेन परिशुष्यता ॥ १ ॥
सर्वे शृणुत भद्रं वो मा कुरुध्वं मनोऽन्यथा ।
पौराणां मम सीतायां यादृशी वर्तते कथा ॥ २ ॥
पौरापवादः सुमहांस्तथा जनपदस्य च ।
वर्तते मयि बीभत्सा सा मे मर्माणि कृन्तति ॥ ३ ॥
अहं किल कुले जात इक्ष्वाकूणां महात्मनाम् ।
सीतापि सत्कुले जाता जनकानां महात्मनाम् ॥ ४ ॥
जानासि त्वं यथा सौम्य दंडके विजने वने ।
रावणेन हृता सीता स च विध्वंसितो मया ॥ ५ ॥
तत्र मे बुद्धिरुत्पन्ना जनकस्य सुतां प्रति ।
अत्रोषितामिमां सीतामानयेयं कथं पुरीम् ॥ ६ ॥
प्रत्ययार्थं तदा सीता विवेश ज्वलनं तदा ।
प्रत्यक्षं तव सौमित्रे देवानां हव्यवाहनः ॥ ७ ॥
अपापां मैथिलीमाह वायुश्चाकाशगोचरः ।
चन्द्रादित्यौ च शंसेते सुराणां सन्निधौ पुरा ॥ ८ ॥
ऋषीणां चैव सर्वेषामपापां जनकात्मजाम् ।
एवं शुद्धसमाचारा देवगंधर्वसन्निधौ ॥ ९ ॥
लंकाद्वीपे महेन्द्रेण मम हस्ते निवेदिता ।
अंतरात्मा च मे वेत्ति सीतां शुद्धां यशस्विनीम् ॥१०॥
ततो गृहीत्वा वैदेहीमयोध्यामहमागतः ।
अयं तु मे महान्वादः शोकश्च हृदि वर्तते ॥ ११ ॥

पौरापवादः सुमहांस्तथा जनपदस्य च ।
अकीर्तिर्यस्य गीयेत लोके भूतस्य कस्यचित् ॥१२॥
पतत्येवाधमांल्लोकान् यावच्छब्दः प्रकीर्त्यते ।
अकीर्तिर्निन्द्यते देवैः कीर्तिर्लोकेषु पूज्यते ॥ १३ ॥
कीर्त्यर्थं तु समारंभः सर्वेषां सुमहात्मनाम् ।
अप्यहं जीवितं जह्यां युष्मान्वा पुरुषर्षभाः ॥ १४ ॥
अपवादभयाद् भीतः किं पुनर्जनकात्मजाम् ।
तस्माद्भवंतः पश्यन्तु पतितं शोकसागरे ॥ १५ ॥
नहि पश्याम्यहं भूतं किंचिद् दुःखमतोधिकम् ।
श्वस्त्वं प्रभाते सौमित्रे सुमंत्राधिष्ठितं रथम् ॥ १६ ॥
आरुह्य सीतामारोप्य विषयान्ते समुत्सृज ।
गंगायास्तु परे पारे वाल्मीकेस्तु महात्मनः ॥ १७ ॥
आश्रमो दिव्यसंकाशस्तमसातीरमाश्रितः ।
तत्रैतां विजने देशे विसृज्य रघुनन्दन ॥ १८ ॥
शीघ्रमागच्छ सौमित्रे कुरुष्व वचनं मम ।
न चास्मि प्रतिवक्तव्यः सीतां प्रति कथंचन ॥१९॥
तस्मात्त्वं गच्छ सौमित्रे नात्र कार्या विचारणा ।
अप्रीतिर्हि परा मह्यं त्वयैतत्प्रतिवारिते ॥ २० ॥
शापिता हि मया यूयं पादाभ्यां जीवितेन च ।
ये मां वाक्यांतरे ब्रूयुरनुनेतुं कथंचन ।
अहिता नाम ते नित्यं मदभीष्टविघातनात् ॥ २१ ॥

मानयंतु भवंतो मां यदि मच्छासने स्थिताः ।
इतोद्य नीयतां सीता कुरुष्व वचनं मम ॥ २२ ॥
पूर्वमुक्तोहमनया गंगातीरेहमाश्रमान् ।
पश्येयमिति तस्याश्च कामः संवर्त्यतामयम् ॥ २३ ॥
एवमुक्त्वा तु काकुत्स्थो बाष्पेण पिहितेक्षणः ।
संविवेश स धर्मात्मा भ्रातृभिः परिवारितः ।
शोकसंविग्नहृदयो निशश्वास यथा द्विपः ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये
उत्तरकांडे पंचचत्वारिंशः सर्गः ।

ततो रजन्यां व्युष्टायां लक्ष्मणो दीनचेतनः ।
सुमंत्रमब्रवीद्वाक्यं मुखेन परिशुष्यता ॥ १ ॥
सारथे तुरगाञ्शीघ्रान्योजयस्व रथोत्तमे ।
स्वास्तीर्णं राजवचनात्सीतायाश्चासनं शुभम् ॥ २ ॥
सीता हि राजवचनादाश्रमं पुण्यकर्मणाम् ।
मया नेया महर्षीणां शीघ्रमानीयतां रथः ॥ ३ ॥
सुमंत्रस्तु तथेत्युक्त्वा युक्तं परमवाजिभिः ।
रथं सुरुचिरप्रख्यं स्वास्तीर्णं सुखशय्यया ॥ ४ ॥
आनीयोवाच सौमित्रिं मित्राणां मानवर्धनम् ।
रथोयं समनुप्राप्तो यत्कार्यं क्रियतां प्रभो ॥ ५ ॥
एवमुक्तः सुमंत्रेण राजवेश्मनि लक्ष्मणः ।
प्रविश्य सीतामासाद्य व्याजहार नरर्षभः ॥ ६ ॥

त्वया किलैष नृपतिर्वरं वै याचितः प्रभुः ।
नृपेण च प्रतिज्ञातमाज्ञप्तश्चाश्रमं प्रति ॥ ७ ॥
गंगातीरे मया देवि ऋषीणामाश्रमाञ्शुभान् ।
शीघ्रं गत्वा तु वैदेहि शासनात्पार्थिवस्य नः ॥ ८ ॥
अरण्ये मुनिभिर्जुष्टे अवनेया भविष्यसि ।
एवमुक्ता तु वैदेही लक्ष्मणेन महात्मना ॥ ९ ॥
प्रहर्षमतुलं लेभे गमनं चाप्यरोचयत् ।
वासांसि च महार्हाणि रत्नानि विविधानि च ॥१०॥
गृहीत्वा तानि वैदेही गमनायोपचक्रमे ।
इमानि मुनिपत्नीनां दास्याम्याभरणान्यहम् ॥ ११ ॥
वस्त्राणि च महार्हाणि धनानि विविधानि च ।
सौमित्रिस्तु तथेत्युक्त्वा रथमारोप्य मैथिलीम् ॥१२॥
प्रययौ शीघ्रतुरगं रामस्याज्ञामनुस्मरन् ।
अब्रवीच्च तदा सीता लक्ष्मणं लक्ष्मिवर्धनम् ॥ १३ ॥
अशुभानि बहून्येव पश्यामि रघुनन्दन ।
नयनं मे स्फुरत्यद्य गात्रोत्कंपश्च जायते ॥ १४ ॥
हृदयं चैव सौमित्रे अस्वस्थमिव लक्षये ।
औत्सुक्यं परमं चापि अधृतिश्च परा मम ॥ १५ ॥
शून्यामेव च पश्यामि पृथिवीं पृथुलोचन ।
अपि स्वस्ति भवेत्तस्य भ्रातुस्ते भ्रातृवत्सल ॥ १६ ॥
श्वश्रूणां चैव मे वीर सर्वासामविशेषतः ।
पुरे जनपदे चैव कुशलं प्राणिनामपि ॥ १७ ॥

इत्यञ्जलिकृता सीता देवता अभ्ययाचत ।
लक्ष्मणोऽर्थं ततः श्रुत्वा शिरसा वंद्य मैथिलीम् ॥१८॥
शिवमित्यब्रवीद्धृष्टो हृदयेन विशुष्यता ।
ततो वासमुपागम्य गोमतीतीर आश्रमे ॥ १९ ॥
प्रभाते पुनरुत्थाय सौमित्रिः सूतमब्रवीत् ।
योजयस्व रथं शीघ्रमद्य भागीरथीजलम् ॥ २० ॥
शिरसा धारयिष्यामि त्रियंबक इवौजसा ।
सोऽश्वान्विचारयित्वा तु रथे युक्तान्मनोजवान् ॥२१॥
आरोहस्वेति वैदेहीं सूतः प्राञ्जलिरब्रवीत् ।
सा तु सूतस्य वचनादारुरोह रथोत्तमम् ॥ २२ ॥
सीता सौमित्रिणा सार्धं सुमंत्रेण च धीमता ।
आससाद विशालाक्षी गंगां पापविनाशिनीम् ॥२३॥
अथार्धदिवसं गत्वा भागीरथ्या जलाशयम् ।
निरीक्ष्य लक्ष्मणो दीनः प्ररुरोद महास्वनः ॥ २४ ॥
सीता तु परमायत्ता दृष्ट्वा लक्ष्मणमातुरम् ।
उवाच वाक्यं धर्मज्ञा किमिदं रुद्यते त्वया ॥ २५ ॥
जाह्नवीतीरमासाद्य चिराभिलषितं मम ।
हर्षकाले किमर्थं मां विषादयसि लक्ष्मण ॥ २६ ॥
नित्यं त्वं रामपार्श्वेषु वर्तसे पुरुषर्षभ ।
कच्चिद्विनाकृतस्तेन द्विरात्रं शोकमागतः ॥ २७ ॥
ममापि दयितो रामो जीवितादपि लक्ष्मण ।
न चाहमेवं शोचामि मैवं त्वं बालिशो भव ॥ २८ ॥

तारयस्व च मां गंगां दर्शयस्व च तापसान् ।
ततो मुनिभ्यो वासांसि दास्याम्याभरणानि च ॥२९॥
ततः कृत्वा महर्षीणां यथार्हमभिवादनम् ।
तत्र चैकां निशामुष्य यास्यामस्तां पुरीं पुनः ॥३०॥
ममापि पद्मपत्राक्षं सिंहोरस्कं कृशोदरम् ।
त्वरते हि मनो द्रष्टुं रामं रमयतां वरम् ॥ ३१ ॥
तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा प्रमृज्य नयने शुभे ।
इयं च सज्जा नौश्चेति दासाः प्रांजलयोऽब्रुवन् ॥ ३२॥
तितीर्षुर्लक्ष्मणो गंगां शुभां नावमुपारुहत् ।
गंगां संतारयामास लक्ष्मणस्तां समाहितः ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये
उत्तरकांडे षट्चत्वारिंशः सर्गः ।

अथ नावं सुविस्तीर्णां नैषादीं राघवानुजः ।
आरुरोह समायुक्तां पूर्वमारोप्य मैथिलीम् ॥ १ ॥
सुमंत्रं चैव सरथं स्थीयतामिति लक्ष्मणः ।
उवाच शोकसंतप्तः प्रयाहीति च नाविकम् ॥ २ ॥
ततस्तीरमुपागम्य भागीरथ्याः स लक्ष्मणः ।
उवाच मैथिलीं वाक्यं प्रांजलिर्बाष्पसंवृतः ॥ ३ ॥
हृद्गतं मे महच्छल्यं यस्मादार्येण धीमता ।
अस्मिन्निमित्ते वैदेहि लोकस्य वचनीकृतः ॥ ४ ॥
श्रेयो हि मरणं मेऽद्य मृत्युर्वा यत्परं भवेत् ।
न चास्मिन्नीदृशे कार्ये नियोज्यो लोकनिंदिते ॥ ५ ॥

प्रसीद च न मे पापं कर्तुमर्हसि शोभने।
इत्यंजलिकृतो भूमौ निपपात स लक्ष्मणः ॥ ६ ॥
रुदन्तं प्रांजलिं दृष्ट्वा कांक्षंतं मृत्युमात्मनः।
मैथिली भृशसंविग्ना लक्ष्मणं वाक्यमब्रवीत् ॥ ७ ॥
किमिदं नावगच्छामि ब्रूहि तत्वेन लक्ष्मण।
पश्यामि त्वां न च स्वस्थमपि क्षेमं महीपतेः ॥ ८ ॥
शापितोसि नरेन्द्रेण यस्त्वं संतापमागतः।
तद् ब्रूयाः संनिधौ मह्यमहमाज्ञापयामि ते ॥ ९ ॥
वैदेह्या चोद्यमानस्तु लक्ष्मणो दीनचेतनः।
अवाङ्मुखो बाष्पगलो वाक्यमेतदुवाच ह ॥ १० ॥
श्रुत्वा परिषदो मध्ये ह्यपवादं सुदारुणम्।
पुरे जनपदे चैव त्वत्कृते जनकात्मजे ॥ ११ ॥
रामः संतप्तहृदयो मां निवेद्य गृहं गतः।
न तानि वचनीयानि मया देवि तवाग्रतः ॥ १२ ॥
यानि राज्ञा हृदि न्यस्तान्यमर्षात्पृष्ठतः कृतः।
सा त्वं त्यक्ता नृपतिना निर्दोषा मम संनिधौ ॥१३॥
पौरापवादभीतेन ग्राह्यं देवि न तेन्यथा।
आश्रमांतेषु च मया त्यक्तव्या त्वं भविष्यसि ॥१४॥
राज्ञः शासनमादाय तथैव किल दौर्हृदम्।
तदेतज्जाह्नवीतीरे ब्रह्मर्षीणां तपोवनम् ॥ १५ ॥
पुण्यं च रमणीयं च मा विषादं कृथाः शुभे।
राज्ञो दशरथस्यैव पितुर्मे मुनिपुंगवः ॥ १६ ॥

एवा परमको विप्रो वाल्मीकिः सुमहायशाः ।
पादच्छायामुपागम्य सुखमस्य महात्मनः ।
उपवासपरैकाग्रा वस त्वं जनकात्मजे ॥ १७ ॥
पतिव्रतात्वमास्थाय रामं कृत्वा सदा हृदि ।
श्रेयस्ते परमं देवि तथा कृत्वा भविष्यति ॥ १८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये
उत्तरकांडे सप्तचत्वारिंशः सर्गः ।

लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा दारुणं जनकात्मजा ।
परं विषादमागम्य वैदेही निपपात ह ॥ १ ॥
सा मुहूर्तमिवासंज्ञा बाष्पपर्याकुलेक्षणा ।
लक्ष्मणं दीनया वाचा उवाच जनकात्मजा ॥ २ ॥
मामिकेयं तनूर्नूनं सृष्टा दुःखाय लक्ष्मण ।
धात्रा यस्यास्तथा मेद्य दुःखमूर्तिः प्रदृश्यते ॥ ३ ॥
किं नु पापं कृतं पूर्वं को वा दारैर्वियोजितः ।
याहं शुद्धसमाचारा त्यक्ता नृपतिना सती ॥ ४ ॥
पुराहमाश्रमे वासं रामपादानुवर्त्तिनी ।
अनुरुध्यापि सौमित्रे दुःखे च परिवर्त्तिनी ॥ ५ ॥
सा कथं ह्याश्रमे सौम्य वत्स्यामि विजनीकृता ।
आख्यास्यामि च कस्याहं दुःखं दुःखपरायणा ॥६॥
किं नु वक्ष्यामि मुनिषु कर्म चासत्कृतं प्रभो ।
कस्मिन्वा कारणे त्यक्ता राघवेण महात्मना ॥ ७ ॥

न खल्वद्यैव सौमित्रे जीवितं जाह्नवीजले ।
त्यजेयं राजवंशस्तु भर्तुर्मे परिहास्यते ॥ ८ ॥
यथाज्ञं कुरु सौमित्रे त्यज्य मां दुःखभागिनीम् ।
निदेशे स्थीयतां राज्ञः शृणु चेदं वचो मम ॥ ९ ॥
श्वश्रूणामविशेषेण प्राञ्जलिप्रग्रहेण च ।
शिरसा वंद्य चरणौ कुशलं ब्रूहि पार्थिवम् ॥ १० ॥
शिरसाभिनतो ब्रूयाः सर्वासामेव लक्ष्मण ।
वक्तव्यश्चापि नृपतिर्धर्मेषु सुसमाहितः ॥ ११ ॥
जानासि च यथा शुद्धा सीता तत्वेन राघव ।
भक्त्या च परया युक्ता हिता च तव नित्यशः ॥१२॥
अहं त्यक्ता च ते वीर अयशोभीरुणा जने ।
यच्च ते वचनीयं स्यादपवादः समुत्थितः ॥ १३ ॥
मया च परिहर्तव्यं त्वं हि मे परमा गतिः ।
वक्तव्यश्चैव नृपतिर्धर्मेण सुसमाहितः ॥ १४ ॥
यथा भ्रातृषु वर्तेथास्तथा पौरेषु नित्यदा ।
परमो ह्येष धर्मस्ते तस्मात्कीर्तिरनुत्तमा ॥ १५ ॥
यत्तु पौरजने राजन्धर्मेण समवाप्नुयात् ।
अहं तु नानुशोचामि स्वशरीरं नरर्षभ ॥ १६ ॥
यथापवादः पौराणां तथैव रघुनन्दन ।
पतिर्हि देवता नार्याः पतिर्बंधुः पतिर्गुरुः ॥ १७ ॥
प्राणैरपि प्रियं तस्माद्भर्तुः कार्यं विशेषतः ।
इति मद्वचनाद्रामो वक्तव्यो मम संग्रहः ॥ १८ ॥

निरीक्ष्य माद्य गच्छ त्वमृतुकालातिवर्त्तिनीम् ।
एवं ब्रुवंत्यां सीतायां लक्ष्मणो दीनचेतनः ॥ १६ ॥
शिरसा वंद्य धरणीं व्याहर्तुं न शशाक ह ।
प्रदक्षिणां च तां कृत्वा रुदन्नेव महास्वनः ॥ २० ॥
ध्यात्वा मुहूर्तं तामाह किं मां वक्ष्यसि शोभने ।
दृष्टपूर्वं न ते रूपं पादौ दृष्टौ तवानघे ॥ २१ ॥
कथमत्र हि पश्यामि रामेण रहितां वने ।
इत्युक्त्वा तां नमस्कृत्य पुनर्नावमुपारुहत् ॥ २२ ॥
आरुरोह पुनर्नावं नाविकं चाभ्यचोदयत् ।
स गत्वा चोत्तरं तीरं शोकभारसमन्वितः ॥ २३ ॥
संमूढ इव दुःखेन रथमध्यारुहद् द्रुतम् ।
मुहुर्मुहुः परावृत्य दृष्ट्वा सीतामनाथवत् ॥ २४ ॥
चेष्टंतीं परतीरस्थां लक्ष्मणः प्रययावथ ।
दूरस्थं रथमालोक्य लक्ष्मणं च मुहुर्मुहुः ।
निरीक्षमाणां तूद्विग्नां सीतां शोकः समाविशत् ॥२५॥

सा दुःखभारावनता यशस्विनी
यशोधरा नाथमपश्यती सती ।
रुरोद सा बर्हिणनादिते वने
महास्वनं दुःखपरायणा सती ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये
उत्तरकांडेऽष्टचत्वारिंशः सर्गः ।

सीतां तु रुदतीं दृष्ट्वा ते तत्र मुनिदारका: ।
प्राद्रवन्यत्र भगवानास्ते वाल्मीकिरुग्रधी: ॥ १ ॥
अभिवाद्य मुने: पादौ मुनिपुत्रा महर्षये ।
सर्वे निवेदयामासुस्तस्यास्तु रुदितस्वनम् ॥ २ ॥
अदृष्टपूर्वा भगवन्कस्याप्येषा महात्मन: ।
पत्नी श्रीरिव संमोहाद्विरौति विकृतानना ॥ ३ ॥
भगवन्साधु पश्येस्त्वं देवतामिव खाच्च्युताम् ।
नद्यास्तु तीरे भगवन्वरस्त्री कापि दु:खिता ॥ ४ ॥
दृष्टास्माभि: प्ररुदिता दृढं शोकपरायणा ।
अनर्हा दु:खशोकाभ्यामेका दीना अनाथवत् ॥ ५ ॥
तां सीतां शोकभारार्तां वाल्मीकिर्मुनिपुंगव: ।
उवाच मधुरां वाणीं ह्लादयन्निव तेजसा ॥ ६ ॥
स्नुषा दशरथस्य त्वं रामस्य महिषी प्रिया ।
जनकस्य सुता राज्ञ: स्वागतं ते पतिव्रते ॥ ७ ॥
आयांती चासि विज्ञाता मया धर्मसमाधिना ।
कारणं चैव सर्वं मे हृदयेनोपलक्षितम् ॥ ८ ॥
तव चैव महाभागे विदितं मम तत्वत: ।
सर्वं च विदितं मह्यं त्रैलोक्ये यद्धि वर्तते ॥ ९ ॥
अपापां वेद्मि सीते ते तपोलब्धेन चक्षुषा ।
विस्रब्धा भव वैदेहि सांप्रतं मयि वर्तसे ॥ १० ॥
आश्रमस्याविदूरे मे तापस्यस्तपसि स्थिता: ।
तास्त्वां वत्से यथा वत्सं पालयिष्यंति नित्यश: ॥११॥

इदमर्घ्यं प्रतीच्छ त्वं विस्रब्धा विगतज्वरा ।
यथा स्वगृहमभ्येत्य विषादं चैव मा कृथाः ॥ १२ ॥
श्रुत्वा तु भाषितं सीता मुनेः परममद्भुतम् ।
शिरसा वंद्य चरणौ तथेत्याह कृतांजलिः ॥ १३ ॥
तं प्रयांतं मुनिं सीता प्रांजलिः पृष्ठतोन्वगात् ।
तं दृष्ट्वा मुनिमायांतं वैदेह्या मुनिपत्नयः ।
उपाजग्मुर्मुदा युक्ता वचनं चेदमब्रुवन् ॥ १४ ॥
स्वागतं ते मुनिश्रेष्ठ चिरस्यागमनं च ते ।
अभिवादयामस्त्वां सर्वा उच्यतां किं च कुर्महे ॥१५॥
तासां तद्वचनं श्रुत्वा वाल्मीकिरिदमब्रवीत् ।
सीतेयं समनुप्राप्ता पत्नी रामस्य धीमतः ॥ १६ ॥
स्नुषा दशरथस्यैषा जनकस्य सुता सती ।
अपापा पतिना त्यक्ता परिपाल्या मया सदा ॥ १७॥
इमां भवत्यः पश्यन्तु स्नेहेन परमेण हि ।
गौरवान्मम वाक्याच्च पूज्या वोस्तु विशेषतः ॥१८॥
मुहुर्मुहुश्च वैदेहीं परिदाय महायशाः ।
स्वमाश्रमं शिष्यवृतः पुनरायान्महातपाः ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये
उत्तरकांडे एकोनपंचाशः सर्गः ।

भाषानुवाद।

अब वहां पर महाराज के पास ऐसे मनुष्य आ बैठे जो अनेक तरह की कथाओं के कहने में चतुर और हँसने हँसाने में बड़े दक्ष थे। विजय, मधुमत्त, काश्यप, मंगल, कुल, सुराजि, कालिय, भद्र, दंतवक्र और सुमागध ये लोग अनेक तरह की हास्य-कथाएं कह रहे थे। किसी की बात के बीच में ही महाराज बोल उठे—हे भद्र! आजकल नगर और राज्य में कौनसी चर्चा फैल रही है? पुरवासी और देशवासी लोग मेरे, सीता के तथा भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न के विषय में क्या कहते हैं? मेरी माता केकयी के विषय में उन लोगों की क्या राय है? "क्योंकि अविचारशील राजा की बस्ती में ही नहीं किन्तु वन में भी निन्दा होने लगती है।" यह सुन कर भद्र हाथ जोड़ कर बोला—"महाराज! पुरवासी लोग महाराज की प्रशंसा ही करते हैं और रावण के वध की चर्चा विशेष कर पुरवासियों के मुख से सुन पड़ती है।" फिर राघव बोले—"ऐसा नहीं, वे लोग जो जो कहते हों वह सब बातें कह सुनाओ अर्थात् उनके मुँह से जो कुछ बुरी या भली निकलती हो वह सब कहो। उन सब बातों को सुन कर मैं अच्छा ही काम करूंगा बुरा काम छोड़ दूंगा। हे भद्र! तुम निडर होकर कहो। मनमें किसी बात की चिन्ता न करो।" यह सुन कर उसने कहा—"अच्छा महाराज! अब मैं कहता हूं, सुनिये—बैठक, हाट

बाज़ार, गली, वन और उपवन में यही बात फैल रही है कि श्री राघव ने बड़ा दुष्कर काम किया कि समुद्र में पुल बांध दिया। ऐसी बात आज तक पुराने लोगों ने कभी कान से सुनी तक नहीं कि किसी ने समुद्र में पुल बांधा हो। मनुष्य की तो बात ही क्या, देवता तथा दैत्य भी ऐसा कठिन काम नहीं कर सकते। सेना और वाहनों सहित रावण का मारना भी बड़ा कठिन काम था सो महाराज ने वह भी किया। वानरों, भालुओं और राक्षसों को अपने वश कर लिया। यह भी बड़ा अद्भुत काम किया, परन्तु रावण को मार कर और क्रोध को वहीं शान्त कर वे सीता को फिर अपने घर ले आए। जिस सीता को रावण अपनी गोद में उठा कर ले गया और जिसे अशोक वाटिका में रक्खा तथा जो इतने दिनों तक राक्षसों के वश में पड़ी रही उसी सीता के संभोग का सुख श्री राघव के हृदय में कैसा उत्कृष्ट प्रकाशित होता है। इन सब बातों का विचार करके महाराज को कुछ भी घृणा क्यों नहीं होती, हे भाइयो! अब हम लोगों को भी अपनी अपनी स्त्रियों के विषय में ऐसी बात सहनी पड़ेगी, क्योंकि राजा के अनुसार प्रजा व्यवहार करती है। महाराज! प्रजा के लोग बहुधा इसी तरह की बातें कहते हैं।" यह सुन कर महाराज अपने मित्रों की ओर देख कर दुखी मनुष्य की तरह बोले—"क्यों, प्रजा के लोग मुझे क्या ऐसा कहते हैं"। यह सुन कर वहां जितने

मनुष्य बैठे थे वे हाथ जोड़ और पृथ्वी तक सिर नवा कर, दीनरूप हो, श्री राघव से बोले–"हां, पृथ्वीनाथ! यह बात ऐसी ही है, इस में सन्देह नहीं। इस प्रकार की सब की बात सुन कर रामचन्द्र मन में दुखी हुए और उसी क्षण सभासदों को घर जाने की आज्ञा दी।

४३ वां सर्ग समाप्त।

सब को बिदा कर, अपनी बुद्धि में कुछ निश्चय करके, पास ही खड़े द्वारपाल से महाराज बोले–"जाओ, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न को जल्दी बुला लाओ।" यह आज्ञा सुनते ही द्वारपाल हाथ जोड़ कर और सिर झुका कर पहले लक्ष्मण के भवन पर गया। विना रोकटोक के भीतर जाकर वह प्रणामपूर्वक राजा की आज्ञा सुनाने लगा। उसने कहा "हे सौमित्रे! महाराज आपको देखना चाहते हैं इसलिए जल्दी चलिए।" यह आज्ञा पाकर लक्ष्मण रथ पर चढ़ राजभवन की ओर चल दिये। लक्ष्मण को जाता देख फिर वह द्वारपाल भरत के घर गया। उनको भी प्रणाम कर उसने महाराज की आज्ञा सुनाई। सुनते ही जल्दी उठ कर भरत पैदल ही चल पड़े। भरत को रवाना करने के बाद द्वारपाल ने शत्रुघ्न के घर में जाकर नम्रता-पूर्वक राजा का संदेशा सुनाया। सुनते ही वह भी हाथ जोड़े आसन से उठ कर घर से चल दिये। यहां द्वारपाल नें उन तीनों के आने की सूचना महाराज को दी। महाराज अबतक चिन्ता

के मारे व्याकुल हो नीचे को मुँह किये दीनचित्त से सोच रहे थे। कुमारों का आगमन सुन द्वारपाल से बोले—"तुम उनको मेरे पास जल्दी लिवा लाओ। वे ही मेरे जीवन के आधार हैं और वे ही मेरे प्राणप्रिय हैं।" यह सुनते ही द्वारपाल उन तीनों को लिवा लाया। राजा की आज्ञा पाकर उन्होंने नम्रता पूर्वक हाथ जोड़ कर राजा के भवन में प्रवेश किया। उन लोगों ने रामचन्द्र का मुँह, ग्रहण लगे हुए चन्द्रमा के तुल्य और अस्त होते हुए सूर्य की भाँति मलिन देखा। आंसुओं से भरी हुई आंखें और शोभारहित कमल की नाईं प्रभु का मुंह देख कर उन्होंने चरणों पर सिर झुका कर उनको प्रणाम किया। वे हाथ जोड़ खड़े हो गये। उस समय रामचन्द्रजी ने आँखों से आँसू पोंछ कर दोनों भुजाओं से सब को गले से लगा लिया। उन्होंने कहा कि आसन पर बैठो। तुम लोग मेरे सर्वस्व हो और तुम्हीं जीवन हो। तुम्हारे ही संपादित राज्य का मैं पालन करता हूं। तुम लोग शास्त्रों में पारंगत और बड़े चतुर हो। तुम लोगों की बुद्धि अच्छी है इसलिए तुम लोग मिल कर मेरी बात का विचार करो। इस पर प्रभु के वचन सुन कर तीनों भाई दुखी होगये और अत्यन्त व्याकुल होकर सोचने लगे कि रघुवीर क्या कहेंगे।

४४ वां सर्ग समाप्त।

श्री रामचन्द्र सूखे मुँह से बोले—"हे भाइयो! तुम्हारा मंगल हो। मेरी बात को सावधान चित्त से सुनो। मैं इस समय वह बात कहना चाहता हूं जो पुरवासी लोग सीता के विषय में कह रहे हैं। पुरवासियों और देशवासियों में, मेरे विषय में ऐसा भयानक अपवाद फैल रहा है जो मेरे मर्मों को विदीर्ण किये डालता है। देखो, मैं महात्मा इक्ष्वाकु के वंश में उत्पन्न हुआ हूं और सीता भी महात्मा जनक के वंश की है। हे सौम्य लक्ष्मण! तुम जानते ही हो कि दंडकवन से सीता को रावण उठा ले गया था सो उस दुष्ट का तो मैंने सर्वनाश कर ही दिया। वहां मेरा विचार यह हुआ था कि राक्षस के घर में रही हुई सीता को फिर अपने नगर को कैसे ले चलें। पर तुम्हारे सामने की बात है कि मेरे विश्वास के लिए सीता ने अग्नि में प्रवेश किया था। अग्नि ने सीता को दोषरहित ठहराया और वायु ने भी वही बात कही। देवताओं और ऋषियों के सामने चन्द्र और सूर्य ने भी यही कहा कि सीता पापरहित है। ऐसी शुद्धचरित्रा सीता को लंका में देवता और गंधर्वों के सामने इन्द्र (अग्नि) ने मेरे हाथ में सौंपा था। मेरा अंतरात्मा भी यही कहता है कि सीता शुद्ध है। इसी से मैं उसे अयोध्या को ले भी आया था, परंतु अब पुरवासियों और देशवासियों का यह बड़ा अपवाद मेरे हृदय में चुभ रहा है। लोक में जिसकी अकीर्ति होती है वह अधम लोकों में गिरता

है और लोक में जबतक अपयश बना रहता है तबतक वह मनुष्य उसी अधम लोक में पड़ा रहता है। हे भाइयो! देवता लोग अकीर्ति को बुरा बतलाते हैं। लोकों में कीर्ति की ही पूजा होती है। महात्मा लोग सब तरह से कीर्ति के लिए उपाय करते रहते हैं। इस अपवाद के डर से मैं अपना प्राण तक दे सकता हूं और तुम लोगों को भी त्याग सकता हूं। फिर जानकी की तो बात ही क्या है। तुम्हीं देखो, इस समय मैं अकीर्ति के शोकसागर में डूब रहा हूं। मैं किसी प्राणी में इससे अधिक दुःख नहीं देखता। हे सौमित्रे! कल सबेरे सुमंत्र से रथ जुतवा कर और उस पर सीता को चढ़ा कर हमारे देश से बाहर छोड़ आओ। गंगा के उस पार महर्षि वाल्मीकि का दिव्य आश्रम है। वहां तमसा नदी बहती है। वहीं निर्जन देश में इसको छोड़ कर मेरे पास चले आना। इतना मेरा कहना करो। तुम इस विषय में मुझ से कुछ भी न कहना। हे सौमित्रे! तुम अब जाओ और इस विषय में कुछ भी दूसरा विचार न करो। यदि इस बात से तुम मुझे रोकोगे तो मैं बहुत अप्रसन्न होऊंगा। हे भाइयो! मैं तुम को अपने पैरों और प्राणों की शपथ दिलवाता हूं कि इस विषय में किसी प्रकार की विनती मुझ से न करना। जो मेरे अभीष्ट में हानि पहुंचायेगा वह सब दिन के लिये मेरा अहितकारी बन जायगा। यदि तुम लोग मेरी आज्ञा मानते हो तो मेरा

कहना मानो। सीता को यहां से ले जाओ और मेरी आज्ञा पूरी करो। इससे पहले सीता ने एक बार मुझ से कहा भी था कि मैं गंगा किनारे के मुनियों के आश्रमों को देखना चाहती हूं। इसलिए ऐसा करने से उसका भी मनोरथ पूरा हो जायगा।" यह कहते कहते रामचन्द्र के नेत्रों में आंसू भर आए। वे सब को बिदा कर आप भी अपने भवन में जाकर सो रहे और शोक से व्याकुल हो हाथी के समान श्वास लेने लगे।

४५ वां सर्ग समाप्त।

अब रात के बीत जाने पर दीन और शुष्क मुँह हो लक्ष्मण सुमंत्र से बोले-"हे सारथे! जल्दी चलने वाले घोड़ों को रथ में जोतो। उस पर सीता के बैठने के योग्य आसन बिछाओ, क्योंकि राजा की आज्ञा से सीता को पवित्र कर्म करने वाले ऋषियों के आश्रम में पहुंचाना है।" यह आज्ञा पाकर सुमंत्र ने रथ तैयार किया। लक्ष्मण के पास रथ खड़ा कर उसने कहा-"हे प्रभो! रथ तैयार है। जो काम हो कीजिए।" यह सुन कर लक्ष्मण राज-भवन में गये और सीता से बोले-"हे वैदेहि! तुमने महाराज से गंगा किनारे के ऋषियों के आश्रमों में जाने के लिए कहा था। इसलिए राजा की आज्ञा से मैं तुमको वहां ले चलता हूं।" यह सुन कर वैदेही बड़ी प्रसन्न हो चलने को तैयार हो गईं। वे मुनि-पत्नियों को देने के लिये अपने साथ अच्छे अच्छे

कपड़े और तरह तरह के धन लेकर रथ पर सवार हो गईं। सुमंत्र ने रथ चला दिया। उस समय सीता लक्ष्मण से बोलीं—"हे रघुनन्दन ! मैं इस यात्रा में बहुत अशुभ देख रही हूं। देखो, मेरी दहिनी आंख फड़क रही है और मेरा शरीर कांप रहा है। हे सौमित्रे ! मुझे अपना हृदय अस्वस्थ मनुष्य की भाँति जान पड़ता है। मुझे बड़ी उत्कंठा और अधैर्य सता रहा है। मैं इस पृथ्वी को सुख-विहीन देख रही हूं। तुम्हारे बड़े भाई का मंगल हो। विशेष कर मेरी सासुओं का कल्याण हो। नगर और देश में प्राणियों का कुशल हो। इतना कह कर सीता हाथ जोड़ कर देवताओं से प्रार्थना करने लगी। तब लक्ष्मण हाथ जोड़ कर बोले—"हे देवि ! सब मंगल है। उस समय लक्ष्मण का हृदय तो सूखता जाता था, परन्तु ऊपर से वे अपने को प्रसन्न मनुष्य की भाँति दिखला रहे थे। अब चल कर गोमती नदी के किनारे वाले आश्रम में रात बिताईं। सबेरे लक्ष्मण ने सूत से कहा—"रथ जोतो। आज भागीरथी के जल को मैं, शिव की नाईं, सिर पर धारण करूंगा। यह आज्ञा पाकर सुमंत्र ने घोड़े टहला कर रथ में जोत दिये और महारानी से हाथ जोड़ कर कहा-आइए, रथ पर चढ़िये। जानकी और लक्ष्मण दोनों सवार हुए। सुमंत्र ने रथ हांक दिया। दोपहर के समय रथ भागीरथी के किनारे पहुंचा। गंगा को देख लक्ष्मण से न रहा गया। वे दीन होकर ज़ोर

से रोने लगे। लक्ष्मण की वैसी दशा देख कर सीता देवी बोलीं—"हे लक्ष्मण! तुम क्यों रोते हो? भला सुनो तो, बहुत दिन से मेरी प्रबल इच्छा थी कि गंगा के दर्शन करूं। इसलिए यह समय मेरे हर्ष का है। तुम रोकर मुझे क्यों दुःख दे रहे हो? तुम सदा रामचन्द्र के पास रहते हो, क्या इसी से दो दिन का अन्तर पड़ने से तुमको शोक हो रहा है? हे लक्ष्मण! वे मेरे भी प्राणों से अधिक प्यारे हैं, परन्तु मैं तो इस तरह शोक नहीं करती। तुम ऐसी मूढ़ता न करो। मुझे गंगा के पार ले चलो, वहां तपस्वियों के दर्शन कराओ। मैं उन्हें वस्त्र और आभूषण आदि सत्कार की चीज़ें देकर प्रणाम करूं। वहां एक रात रह कर फिर हम सब अयोध्या को लौट चलेंगे। मेरा मन भी उन कमलनयन, सिंहोरस्क कृशोदर श्री रामचन्द्र को देखने के लिए जल्दी कर रहा है।" वैदेही की ये बातें सुन कर लक्ष्मण ने अपनी आंखें पोंछीं और मल्लाहों को बुलवाया। वे आये और हाथ जोड़ कर बोले—"महाराज! नाव तैयार है, बैठिए।" मल्लाहों की बात सुन कर परमचतुर लक्ष्मण पहले सीता को नाव पर चढ़ा कर फिर खुद नाव पर चढ़े।

४६ वां सर्ग समाप्त।

इस तरह लक्ष्मण ने नाव पर चढ़ कर सुमंत्र से कहा—"तुम रथ लेकर इसी पार रहो और मल्लाह से कहा कि नाव चलाओ"। जब नाव उस पार पहुंच गई तब

उतर कर लक्ष्मण आंखों में आँसू भर कर हाथ जोड़ सीता से बोले-"हे देवि ! ऐसे बुद्धिमान् महाराज ने इस निंदित कर्म में लगा कर मुझे लोक में निन्दनीय कर डाला यह काम मेरे हृदय में कंटकरूप होकर चुभ रहा है। ऐसा काम करने की अपेक्षा यदि मेरी मृत्यु होजाती तो बहुत अच्छा था। अच्छा होता जो मैं ऐसे लोकनिन्दित काम में न फाँसा जाता। हे शोभने ! तुम प्रसन्न रहो। मुझे दोष न देना।" यह कह कर लक्ष्मण हाथ जोड़े हुए ज़मीन पर गिर पड़े। उस समय रोते और अपना मरण चाहते हुए लक्ष्मण को देख कर सीता को बड़ा उद्वेग हुआ, वे बोलीं-"हे लक्ष्मण ! यह क्या बात है। कुछ मेरी समझ में नहीं आता। मुझे ठीक ठीक बतलाओ। मैं तुमको स्वस्थ नहीं देखती। राजा कुशलपूर्वक तो हैं न ? तुमको राजा की शपथ है, बतलाओ तुमको संताप होने का कारण क्या है ? ठीक ठीक कहो। मैं तुम्हें आज्ञा देती हूं।" इस तरह शपथ पूर्वक पूछने पर लक्ष्मण बड़े दीन हो और नीचे को मुँह किये रुंधे हुए गले से बोले-हे जनकनन्दिनि ! महाराज ने तुम्हारे विषय में बड़ा भयानक अपवाद सुना था। उससे वे बड़े दुखी हुए और मुझे सब हाल सुना कर राज-भवन में चले गये। हे देवि ! वे सब बातें आपके सामने कहने के योग्य नहीं हैं। राजा ने उन को अपने ही मनमें छिपा कर रक्खा है। उसी तरह मैं भी वह अपवाद प्रकट

करना नहीं चाहता। मैंने उसे सुना अनसुना कर दिया है। मुख्य बात यह है कि राजा ने आपका त्याग कर दिया है। मेरी दृष्टि में आप शुद्ध हैं, मैं आपको दोषी नहीं बताता। राजा भी ऐसा ही समझते हैं, परन्तु वे क्या करें? पुरवासियों के अपवाद से डरते हैं। आप दूसरी बात न समझें त्याग करने का यही कारण है। गर्भावस्था में तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण करना आवश्यक है, इसी बहाने से तुमको यहां आश्रम के समीप छोड़ जाने की आज्ञा राजा ने दी है। आप दुःख न करना। हे शुभे! इस गंगा के किनारे ब्रह्मर्षियों का तपोवन बड़ा पवित्र और रमणीय है यहीं श्री वाल्मीकि मुनि रहते हैं। वे मेरे पिता राजा दशरथ के मित्र हैं। तुम उन्हीं के चरणों की छाया में रह कर उपवास में तत्पर हो, सावधानी से रहो। आप पतिव्रता हैं। हृदय में सदा रामचन्द्र का ध्यान करती रहना। इससे आप का परम कल्याण होगा।

४७ वां सर्ग समाप्त।

लक्ष्मण के मुख से यह दारुण बातें सुन कर जानकी बड़ी दुखी होकर ज़मीन पर गिर पड़ीं। ये क्षण भर अचेत रह कर उठीं और आंखों में आंसू भर कर दीन वाणी से बोलीं—"हे लक्ष्मण! ब्रह्मा ने मेरा शरीर दुःख भोगने के लिए ही बनाया है। देखो मेरे दुःखों की यह मूर्ति ही देख पड़ती है। मैंने पूर्व-जन्म में क्या पाप किया था और किस

का स्त्री से वियोग करवाया था, जिससे शुद्धचरित्रा और पतिव्रता होने पर भी मैं पति से अलग की गई। राम के चरणों की सेवा करने की अभिलाषा से मैंने पहले भी आश्रम में वास किया था पर अब मैं उनसे अलग आश्रम में कैसे रहूंगी। अब अपने दुःख मैं किससे कहूंगी? मुनियों के सामने अपना कौनसा असत्कर्म बतलाऊंगी कि जिसके कारण महात्मा राघव ने मेरा परित्याग किया। मैं इस गंगाजल में अपने प्राण भी तो नहीं त्याग सकती, क्योंकि जो मैं ऐसा करूं तो मेरे पति का राजवंश नष्ट हो जाय। हे सौमित्रे! तुम उनकी आज्ञा के अनुसार काम करो। मुझ दुःखभागिनी को यहां छोड़ जाओ। अब जो मैं कहती हूं उसे सुनो। मेरी ओर से हाथ जोड़ कर और चरणों पर माथा झुका कर मेरी सब सासुओं से और फिर महाराज से कुशल पूछना। राजा से यह भी कह देना कि तुम तो ठीक जानते हो कि सीता सर्वथा शुद्ध है और सदा भक्ति में तत्पर होकर तुम्हारे हित ही का काम करती थी। हे वीर! तुम ने अपवाद के डर से मेरा त्याग किया है। यदि मुझे त्यागने से आपका अपवाद नष्ट हो जाय तो मुझे स्वीकार है, क्योंकि आप ही मेरे लिए परमगति हैं। उनसे यह भी कहना कि भाइयों के समान पुरवासियों के साथ व्यवहार करना उचित है। यही आपका धर्म है। इसी से आप उत्तम से उत्तम तीर्थ पावेंगे। धर्म के द्वारा पुरवासियों के

साथ व्यवहार करना ही आपका धर्म है। यह भी कह देना कि हे नरश्रेष्ठ! मैं अपने शरीर के लिए कुछ भी चिन्ता नहीं करती, इसलिए जिस तरह पुरवासियों का अपवाद छूटे वैसा ही आप कीजिए। पति स्त्री का देवता, बंधु और गुरु भी है। इसलिए स्त्री को उचित है कि प्राण देकर भी पति का इष्ट-कार्य करे। हे लक्ष्मण! मेरा यह संदेशा महाराज को सुना देना। देखलो, मैं इस समय गर्भवती हूं।"

इस तरह सीता देवी के वचन सुन कर लक्ष्मण बड़े दुखी हो ज़मीन पर सिर रख कर और प्रणाम करके कुछ बोल न सके। वे सीता की प्रदक्षिणा कर ज़ोर से रोने लगे। फिर थोड़ी देर सोच कर बोले—"हे शोभने! तुम मुझ से यह क्या कहती हो। आजतक मैंने तुम्हारे चरणों के सिवाय रूप तक को नहीं देखा। अब मैं राम से पृथक् तुमको इस वन में किस तरह देखूं।" इतना कह और फिर प्रणाम कर लक्ष्मण नाव पर चढ़ कर मल्लाह से बोले—"नाव को उस पार ले चलो।" उस पार चले जाने पर उन्हें बड़ा दुःख हुआ। वे जल्दी रथ पर चढ़ गये, पर वार वार पीछे की ओर फिर फिर कर अनाथ की तरह सीता को देखते थे कि वह बेचारी उस पार छटपटा रही है। जब सीता ने देखा कि रथ दूर निकल गया तब वे और भी अधिक शोक-संतप्त हो गईं। दुःख के भार से झुकी हुई, यशस्विनी, यश धारण करनेवाली, दुःख में डूबी हुई वह पतिव्रता

सीता अपने स्वामी को न देखती हुई, मोर जिस वन में बोल रहे हैं उसमें रोने लगी।

४८ वां सर्ग समाप्त।

वहां बहुतसे मुनियों के बालक खेल रहे थे। उन्होंने सीता को रोते देखा। वे तुरन्त दौड़ कर वाल्मीकि मुनि के पास गये और उनके चरण छूकर सीता के रोने का हाल कहने लगे। उन्होंने कहा—"भगवन्! जिसको हम ने कभी नहीं देखा, ऐसी किसी महात्मा की स्त्री रो रही है, रूप में वह लक्ष्मी के तुल्य है। हे महर्षे! आप चल कर उस नदी के किनारे देखिए। वह तो ऐसी मालूम होती है मानो स्वर्ग से कोई देवी ज़मीन पर आ पड़ी हो। यद्यपि वह दुःख और शोक के अयोग्य है, फिर भी वह बड़े शोक से व्याकुल है और अनाथ की नाई अकेली बड़े ज़ोर से चिल्ला रही है। हम तो उसको मनुष्य की स्त्री नहीं कह सकते। आप चल कर उसका सत्कार कीजिए। वह आपके आश्रम के पास ही है। वह बेचारी पतिव्रता शरण में आई है। वह रक्षक चाहती है। आप उसकी रक्षा कीजिए।" उन लड़कों की बात सुन कर और अपनी बुद्धि से निश्चय कर वे तप के द्वारा ज्ञान रूपी आंखों से देखनेवाले मुनि मैथिली की ओर चले। उनके साथ साथ शिष्य लोग भी गये। हाथ में अर्घ्य लिए ऋषि थोड़ी ही दूर पर गंगा किनारे सीता के पास पहुंच गये। वहां उन्होंने देखा कि

रामचन्द्र की स्त्री श्री जनक-दुलारी शोक के मारे बड़ी दुखी हो रही हैं। वाल्मीकि मुनि पास जाकर अपने तेज से महारानी को प्रसन्न करते हुए मधुर वाणी से बोले—"तू दशरथ की पुत्रवधू, रामचन्द्र की प्यारी पटरानी और जनक की पुत्री है। हे पतिव्रते! तेरा स्वागत हो! जब तुम यहां आने के लिए तैयार हुई थीं उसी समय मैंने अपनी धर्म-समाधि से सब हाल जान लिया था। हमने हृदय में तुम्हारा सब हाल जान लिया। त्रैलोक्य भर की घटनाओं को हम जानते हैं। हे सीते! मैं तपरूपी नेत्रों से तुम्हें पापरहित जानता हूं। तुम अब निश्चिन्त हो जाओ। आज से तुम्हारा सब भार मेरे ऊपर है। मेरे आश्रम के पास ही बहुतसी तापसी तप किया करती हैं। हे वत्से! वे सब अपनी पुत्री की नाईं तुम्हारा पालन करेंगी। अब यह अर्घ्य लो और मन से सावधान होकर संतापरहित हो जाओ। जिस तरह तुम अपने घर में रहती थीं उसी तरह यहां रहो। दुःख छोड़ दो"।

मुनि के ये अद्भुत वचन सुन उनके चरणों की वंदना कर सीता ने उनकी बात मानली। जब मुनि वहां से चलने लगे तब सीता भी हाथ जोड़ कर पीछे हो ली। मुनियों की स्त्रियां वाल्मीकिजी के पीछे सीता को आती देख आगे बढ़ कर बोलीं—"हे मुनियों में श्रेष्ठ! तुम्हारा स्वागत हो। हम लोगों ने बहुत दिनों बाद आपका दर्शन

पाया। हम सब आपको प्रणाम करती हैं। आपकी जो आज्ञा हो वह हम करें।" मुनि ने कहा—"देखो, यह सीता यहां आई हैं। यह राजा रामचन्द्र की स्त्री, राजा दशरथ की पुत्रवधू और जनक की पुत्री हैं। यह पतिव्रता और पाप रहित हैं। इन्हें पति ने छोड़ दिया है। अब मैं इनका पालन करूंगा। आप लोग बड़े प्रेम से और मेरे कहने का गौरव मान कर प्रतिष्ठा-पूर्वक इनकी रक्षा करो।" इस तरह मुनि बार बार सीता को उन तापसियों को सौंप शिष्यों के साथ अपने आश्रम में चले गये।

४९ वां सर्ग समाप्त।

देवी सीता बहुत समय तक भगवान् वाल्मीकि के आश्रम में रहीं और जब उनको बनवास हुआ वह गर्भवती थीं इसलिये समय पर दो पुत्ररत्न जन्मे ज्येष्ठ कुश छोटा लव, वाल्मीकि मुनि ने इन दोनों राजकुमारों की रक्षा की और शिक्षा देकर सब प्रकार से निपुण किया, जब महाराज रामचन्द्र ने अश्वमेध यज्ञ किया तो ऋषि मुनियों को निमंत्रित किया उसमें वाल्मीकि भी पधारे, मुनि ने दोनों राजकुमारों को यह आज्ञा दी कि तुम जहां श्री रामचन्द्र अपने समाज सहित बैठे हैं वहां जाकर यह वाल्मीकीयरूपी रामचन्द्र का यश वीणा पर गाकर सुनाओ, राजकुमारों ने वैसा ही किया, जिसका वृत्तान्त वाल्मीकीय रामायण में इस प्रकार है—

वर्तमाने तथाभूते यज्ञे च परमाद्भुते ।
सशिष्य आजगामाशु वाल्मीकिर्भगवानृषिः ॥ १ ॥
स दृष्ट्वा दिव्यसंकाशं यज्ञमद्भुतदर्शनम् ।
एकान्त ऋषिसंघातश्चकार उटजान् शुभान् ॥२॥
शकटांश्च बहून्पूर्णान्फलमूलांश्च शोभनान् ।
वाल्मीकिवाटे रुचिरे स्थापयन्नविदूरतः ॥ ३ ॥
स शिष्यावब्रवीद्धृष्टौ युवां गत्वा समाहितौ ।
कृत्स्नं रामायणं काव्यं गायतां परया मुदा ॥ ४ ॥
ऋषिवाटेषु पुण्येषु ब्राह्मणावसथेषु च ।
रथ्यासु राजमार्गेषु पार्थिवानां गृहेषु च ॥ ५ ॥
रामस्य भवनद्वारि यत्र कर्म च कुर्वते ।
ऋत्विजामग्रतश्चैव तत्र गेयं विशेषतः ॥ ६ ॥
इमानि च फलान्यत्र स्वादूनि विविधानि च ।
जातानि पर्वताग्रेषु आस्वाद्यास्वाद्य गायताम् ॥ ७ ।
न यास्यथः श्रमं वत्सौ भक्षयित्वा फलान्यथ ।
मूलानि च सुमृष्टानि न रागात्परिहास्यथः ॥ ८ ॥
यदि शब्दापयेद्रामः श्रवणाय महीपतिः ।
ऋषीणामुपविष्टानां यथायोगं प्रवर्तताम् ॥ ९ ॥
दिवसे विंशतिः सर्गा गेया मधुरया गिरा ।
प्रमाणैर्बहुभिस्तत्र यथोद्दिष्टं मया पुरा ॥ १० ॥
लोभश्चापि न कर्तव्यः स्वल्पोपि धनवांछया ।
किं धनेनाश्रमस्थानां फलमूलाशिनां सदा ॥ ११ ॥

यदि पृच्छेत्स काकुत्स्थो युवां कस्येति दारकौ ।
वाल्मीकेरथ शिष्यौ द्वौ ब्रूतमेवं नराधिपम् ॥ १२ ॥
इमास्तंत्रीः सुमधुराः स्थानं वापूर्वदर्शनम् ।
मूर्छयित्वा सुमधुरं गायतां विगतज्वरौ ॥ १३ ॥
आदिप्रभृति गेयं स्यान्नचावज्ञाय पार्थिवम् ।
पिता हि सर्वभूतानां राजा भवति धर्मतः ॥ १४ ॥
तद्युवां हृष्टमनसौ श्वः प्रभाते समाहितौ ।
गायतं मधुरं गेयं तंत्रीलयसमन्वितम् ॥ १५ ॥
इति संदिश्य बहुशो मुनिः प्राचेतसस्तदा ।
वाल्मीकिः परमोदारस्तूष्णीमासीन्महामुनिः ॥१६॥
संदिष्टौ मुनिना तेन तावुभौ मैथिलीसुतौ ।
तथैव करवावेति निर्जग्मतुररिंदमौ ॥ १७ ॥

तामद्भुतां तौ हृदये कुमारौ
निवेश्य वाणीमृषिभाषितां तदा ।
समुत्सुकौ तौ सुखमूपतुर्निशां
यथाश्विनौ भार्गवनीतिसंहिताम् ॥ १८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये
उत्तरकांडे त्रिनवतितमः सर्गः ।

तौ रजन्यां प्रभातायां स्नातौ हुतहुताशनौ ।
यथोक्तमृषिणा पूर्वं सर्वं तत्रोपगायताम् ॥ १ ॥
तां स शुश्राव काकुत्स्थः पूर्वाचार्यविनिर्मिताम् ।
अपूर्वां पाठ्यजातिं च गेयेन समलंकृताम् ॥ २ ॥

प्रमाणैर्बहुभिर्बद्धां तंत्रीलयसमन्विताम् ।
बालाभ्यां राघवः श्रुत्वा कौतूहलपरो भवत् ॥ ३ ॥
अथ कर्मांतरे राजा समाहूय महामुनीन् ।
पार्थिवांश्च नरव्याघ्रः पंडितान्नैगमांस्तथा ॥ ४ ॥
पौराणिकान् शब्दविदो ये वृद्धाश्च द्विजातयः ।
स्वराणां लक्षणज्ञांश्च उत्सुकान्द्विजसत्तमान् ॥ ५ ॥
लक्षणज्ञांश्च गांधर्वान्नैगमांश्च विशेषतः ।
पादाक्षरसमासज्ञांश्छंदःसु परिनिष्ठितान् ॥ ६ ॥
कलामात्रविशेषज्ञान् ज्यौतिषे च परंगतान् ।
क्रियाकल्पविदश्चैव तथा कार्यविशारदान् ॥ ७ ॥
हेतूपचारकुशलान्हैतुकांश्च बहुश्रुतान् ।
छंदोविदः पुराणज्ञान्वैदिकान्द्विजसत्तमान् ॥ ८ ॥
चित्रज्ञान्वृत्तसूत्रज्ञान्गीतनृत्यविशारदान् ।
एतान्सर्वान्समानीय गातारौ समवेशयत् ॥ ९ ॥
तेषां संवदतां तत्र श्रोतृणां हर्षवर्धनम् ।
गेयं प्रचक्रतुस्तत्र तावुभौ मुनिदारकौ ॥ १० ॥
ततः प्रवृत्तं मधुरं गांधर्वमतिमानुषम् ।
न च तृप्तिं ययुः सर्वे श्रोतारो गेयसंपदा ॥ ११ ॥
हृष्टा मुनिगणाः सर्वे पार्थिवाश्च महौजसः ।
पिबंत इव चक्षुर्भिः पश्यंतिस्म मुहुर्मुहुः ॥ १२ ॥
ऊचुः परस्परं चेदं सर्व एव समाहिताः ।
उभौ रामस्य सदृशौ बिंबाद्बिंबमिवोद्धृतौ ॥ १३ ॥

जटिलौ यदि न स्यातां न वल्कलधरौ यदि ।
विशेषं नाधिगच्छामो गायतो राघवस्य च ॥ १४ ॥
एवं प्रभापमाणेषु पौरजानपदेषु च ।
प्रवृत्तमादितः पूर्वसर्गं नारददर्शितम् ॥ १५ ॥
ततः प्रभृति सर्गांश्च यावद्विंशत्यगायताम् ।
ततोपराह्णसमये राघवः समभाषत ॥ १६ ॥
श्रुत्वा विंशतिसर्गांस्तान् भ्रातरं भ्रातृवत्सलः ।
अष्टादशसहस्राणि सुवर्णस्य महात्मनः ॥ १७ ॥
प्रयच्छ शीघ्रं काकुत्स्थ यदन्यदभिकांक्षितम् ।
ददौ स शीघ्रं काकुत्स्थो बालयोर्वै पृथक्पृथक् ॥१८॥
दीयमानं सुवर्णं तु नागृह्णीतां कुशीलवौ ।
ऊचतुश्च महात्मानौ किमनेनेति विस्मितौ ॥ १९ ॥
वन्येन फलमूलेन निरतौ वनवासिनौ ।
सुवर्णेन हिरण्येन किं करिष्यावहे वने ॥ २० ॥
तथा तयोः प्रब्रुवतोः कौतूहलसमन्विताः ।
श्रोतारश्चैव रामश्च सर्व एव सुविस्मिताः ॥ २१ ॥
तस्य चैवागमं रामः काव्यस्य श्रोतुमुत्सुकः ।
पप्रच्छ तौ महातेजास्तावुभौ मुनिदारकौ ॥ २२ ॥
किं प्रमाणमिदं काव्यं का प्रतिष्ठा महात्मनः ।
कर्ता काव्यस्य महतः क्व चासौ मुनिपुंगवः ॥ २३
पृच्छंतं राघवं वाक्यमूचतुर्मुनिदारकौ ।
वाल्मीकिर्भगवान्कर्ता संप्राप्तो यज्ञसंविधम् ।
येनेदं चरितं तुभ्यमशेषं संप्रदर्शितम् ॥ २४ ॥

सन्निबद्धं हि श्लोकानां चतुर्विंशत्सहस्रकम् ।
उपाख्यानशतं चैव भार्गवेण तपस्विना ॥ २५ ॥
आदिप्रभृति वै राजन्पंचसर्गशतानि च ।
कांडानि षट् कृतानीह सोत्तराणि महात्मना ॥२६॥
कृतानि गुरुणास्माकमृषिणा चरितं तव ।
प्रतिष्ठा जीवितं यावत्तावत्सर्वस्य वर्तते ॥ २७ ॥
यदि बुद्धिः कृता राजन् श्रवणाय महारथ ।
कर्मांतरे क्षणीभूतस्तच्छृणुष्व सहानुजः ॥ २८ ॥
बाढमित्यब्रवीद्रामस्तौ चानुज्ञाप्य राघवौ ।
प्रहृष्टौ जग्मतुः स्थाने यत्रास्ते मुनिपुंगवः ॥ २९ ॥
रामोपि मुनिभिः सार्धं पार्थिवैश्च महात्मभिः ।
श्रुत्वा तद्गीतिमाधुर्यं कर्मशालामुपागमत् ॥ ३० ॥

शुश्राव तत्ताललयोपपन्नं
सर्गान्वितं सस्वरशब्दयुक्तम् ।
तंत्रीलयव्यंजनयोगयुक्तं
कुशीलवाभ्यां परिगीयमानम् ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये
उत्तरकांडे चतुर्नवतितमः सर्गः ।

रामो बहून्यहान्येव तद्गीतं परमं शुभम् ।
शुश्राव मुनिभिः सार्धं पार्थिवैः सह वानरैः ॥ १ ॥
तस्मिन्गीते तु विज्ञाय सीतापुत्रौ कुशीलवौ ।
तस्याः परिषदो मध्ये रामो वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

दूतान् शुद्धसमाचारानाहूयात्ममनीषया ।
मद्वचो ब्रूत गच्छध्वमितो भगवतोंतिके ॥ ३ ॥
यदि शुद्धसमाचारा यदि वा वीतकल्मषा ।
करोत्विहात्मनः शुद्धिमनुमान्य महामुनिम् ॥ ४ ॥
छन्दं मुनेश्च विज्ञाय सीतायाश्च मनोगतम् ।
प्रत्ययं दातुकामायास्ततः शंसत मे लघु ॥ ५ ॥
श्वः प्रभाते तु शपथं मैथिली जनकात्मजा ।
करोतु परिषन्मध्ये शोधनार्थं ममैव च ॥ ६ ॥
श्रुत्वा तु राघवस्यैतद्वचः परममद्भुतम् ।
दूताः संप्रययुर्वाढं यत्र वै मुनिपुंगवः ॥ ७ ॥
ते प्रणम्य महात्मानं ज्वलंतममितप्रभम् ।
ऊचुस्ते रामवाक्यानि मृदूनि मधुराणि च ॥ ८ ॥
तेषां तद्भाषितं श्रुत्वा रामस्य च मनोगतम् ।
विज्ञाय सुमहातेजा मुनिर्वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ९ ॥
एवं भवतु भद्रं वो यथा वदति राघवः ।
तथा करिष्यते सीता दैवतं हि पतिः स्त्रियः ॥ १० ।
तथोक्ता मुनिना सर्वे राजदूता महौजसः ।
प्रत्येत्य राघवं सर्वं मुनिवाक्यं बभाषिरे ॥ ११ ॥
ततः प्रहृष्टः काकुत्स्थः श्रुत्वा वाक्यं महात्मनः ।
ऋषींस्तत्र समेतांश्च राज्ञश्चैवाभ्यभाषत ॥ १२ ॥
भगवंतः सशिष्या वै सानुगाश्च नराधिपाः ।
पश्यंतु सीताशपथं यश्चैवान्योपि कांक्षते ॥ १३ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राघवस्य महात्मनः ।
सर्वेषामृषिमुख्यानां साधुवादो महानभूत् ॥ १४ ॥
राजानश्च महात्मानः प्रशंसंतिस्म राघवम् ।
उपपन्नं नरश्रेष्ठ त्वय्येव भुवि नान्यतः ॥ १५ ॥
एवं विनिश्चयं कृत्वा श्वोभूत इति राघवः ।
विसर्जयामास तदा सर्वांस्तान् शत्रुसूदनः ॥ १६ ॥
इति संप्रविचार्य राजसिंहः
श्वो भूते शपथस्य निश्चयम् ।
विससर्ज मुनीन्नृपांश्च सर्वान्
स महात्मा महतो महानुभावः ॥ १७ ॥
इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये
उत्तरकांडे पंचनवतितमः सर्गः ।
तस्यां रजन्यां व्युष्टायां यज्ञवाटं गतो नृपः ।
ऋषीन्सर्वान्महातेजाः शब्दापयति राघवः ॥ १ ॥
वसिष्ठो वामदेवश्च जाबालिरथ काश्यपः ।
विश्वामित्रो दीर्घतमा दुर्वासाश्च महातपाः ॥ २ ॥
पुलस्त्योपि तथा शक्तिर्भार्गवश्चैव वामनः ।
मार्कंडेयश्च दीर्घायुर्मौद्गल्यश्च महायशाः ॥ ३ ॥
गर्गश्च च्यवनश्चैव शतानंदश्च धर्मवित् ।
भरद्वाजश्च तेजस्वी अग्निपुत्रश्च सुप्रभः ॥ ४ ॥
नारदः पर्वतश्चैव गौतमश्च महायशाः ।
एते चान्ये च बहवो मुनयः संशितव्रताः ॥ ५ ॥

कौतूहलसमाविष्टाः सर्व एव समागताः ।
राक्षसाश्च महावीर्या वानराश्च महाबलाः ॥ ६ ॥
सर्व एव समाजग्मुर्महात्मानः कुतूहलात् ।
क्षत्रिया ये च शूद्राश्च वैश्याश्चैव सहस्रशः ॥ ७ ॥
नानादेशगताश्चैव ब्राह्मणाः संशितव्रताः ।
सीताशपथवीक्षार्थं सर्व एव समागताः ॥ ८ ॥
तदा समागतं सर्वमश्मभूतमिवाचलम् ।
श्रुत्वा मुनिवरस्तूर्णं ससीतः समुपागमत् ॥ ९ ॥
तमृषिं पृष्ठतः सीता अन्वगच्छदवाङ्मुखी ।
कृतांजलिर्वाष्पकला कृत्वा रामं मनोगतम् ॥ १० ॥
तां दृष्ट्वा श्रुतिमायांतीं ब्रह्माणमनुगामिनीम् ।
वाल्मीकेः पृष्ठतः सीतां साधुवादो महानभूत् ॥११॥
ततो हलहलाशब्दः सर्वेषामेवमाबभौ ।
दुःखजन्मविशालेन शोकेनाकुलितात्मनाम् ॥ १२ ॥
साधु रामेति केचित्तु साधु सीतेति चापरे ।
उभावेव च तत्रान्ये प्रेक्षकाः संप्रचुक्रुशुः ॥ १३ ॥
ततो मध्ये जनौघस्य प्रविश्य मुनिपुंगवः ।
सीतासहायो वाल्मीकिरितिहोवाच राघवम् ॥ १४ ॥
इयं दाशरथेः सीता सुव्रता धर्मचारिणी ।
अपवादात्परित्यक्ता ममाश्रमसमीपतः ॥ १५ ॥
लोकापवादभीतस्य तव राम महाव्रत ।
प्रत्ययं दास्यते सीता तामनुज्ञातुमर्हसि ॥ १६ ॥

इमौ तु जानकीपुत्रावुभौ च यमजातकौ ।
सुतौ तवैव दुर्धर्षौ सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ १७ ॥
प्रचेतसोऽहं दशमः पुत्रो राघवनंदन ।
न स्मराम्यनृतं वाक्यमिमौ तु तव पुत्रकौ ॥ १८ ॥
बहुवर्षसहस्राणि तपश्चर्या मया कृता ।
नोपाश्नीयां फलं तस्या दुष्टेयं यदि मैथिली ॥ १९ ॥
मनसा कर्मणा वाचा भूतपूर्वं न किल्बिषम् ।
तस्याहं फलमश्नामि अपापा मैथिली यदि ॥ २० ॥
अहं पंचसु भूतेषु मनः षष्ठेषु राघव ।
विचिन्त्य सीता शुद्धेति जग्राह वननिर्झरे ॥ २१ ॥
इयं शुद्धसमाचारा अपापा पतिदेवता ।
लोकापवादभीतस्य प्रत्ययं तव दास्यति ॥ २२ ॥

तस्मादियं नरवरात्मज शुद्धभावा
दिव्येन दृष्टिविषयेण मया प्रदिष्टा ।
लोकापवादकलुषीकृतचेतसा या
त्यक्ता त्वया प्रियतमा विदितापि शुद्धा ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये
उत्तरकांडे षण्णवतितमः सर्गः ।

वाल्मीकिनैवमुक्तस्तु राघवः प्रत्यभाषत ।
प्रांजलिर्जगतो मध्ये दृष्ट्वा तां वरवर्णिनीम् ॥ १ ॥
एवमेतन्महाभाग यथा वदसि धर्मवित् ।
प्रत्ययस्तु मम ब्रह्मंस्तव वाक्यैरकल्मषैः ॥ २ ॥

प्रत्ययश्च पुरा वृत्तो वैदेह्याः सुरसन्निधौ।
शपथश्च कृतस्तत्र तेन वेश्म प्रवेशिता ॥ ३ ॥
लोकापवादो बलवान्येन त्यक्ता हि मैथिली।
सेयं लोकभयाद्ब्रह्मन्नपापेत्यभिजानता।
परित्यक्ता मया सीता तद्भवान्क्षन्तुमर्हति ॥ ४ ॥
जानामि चेमौ पुत्रौ मे यमजातौ कुशीलवौ।
शुद्धायां जगतीमध्ये मैथिल्यां प्रीतिरस्तु मे ॥ ५ ॥
अभिप्रायं तु विज्ञाय रामस्य सुरसत्तमाः।
सीतायाः शपथे तस्मिन्सर्वे एव समागताः ॥ ६ ॥
पितामहं पुरस्कृत्य सर्व एव समागताः।
आदित्या वसवो रुद्रा विश्वेदेवा मरुद्गणाः ॥ ७ ॥
साध्याश्च देवाः सर्वे ते सर्वे च परमर्षयः।
नागाः सुपर्णाः सिद्धाश्च ते सर्वे हृष्टमानसाः ॥ ८ ॥
दृष्ट्वा देवानृषींश्चैव राघवः पुनरब्रवीत्।
प्रत्ययो मे नरश्रेष्ठ ऋषिवाक्यैरकल्मषैः ॥ ९ ॥
शुद्धायां जगतीमध्ये वैदेह्यां प्रीतिरस्तु मे।
सीताशपथसंभ्रांताः सर्व एव समागताः ॥ १० ॥
ततो वायुः शुभः पुण्यो दिव्यगंधो मनोरमः।
तं जनौघं सुरश्रेष्ठो ह्लादयामास सर्वतः ॥ ११ ॥
तदद्भुतमिवाचिंत्यं निरैक्षंत समाहिताः।
मानवाः सर्वराष्ट्रेभ्यः पूर्वं कृतयुगे यथा ॥ १२ ॥

सर्वान्समागतान्दृष्ट्वा सीता काषायवासिनीं ।
अब्रवीत्प्रांजलिर्वाक्यमधोदृष्टिरवाङ्मुखी ॥ १३ ॥
यथाहं राघवादन्यं मनसापि न चिन्तये ।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥ १४ ॥
मनसा कर्मणा वाचा यथा रामं समर्चये ।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥ १५ ॥
यथैतत्सत्यमुक्तं मे वेद्मि रामात्परं न च ।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥ १६ ॥
तथा शपंत्यां वैदेह्यां प्रादुरासीत्तदद्भुतम् ।
भूतलादुत्थितं दिव्यं सिंहासनमनुत्तमम् ॥ १७ ॥
ध्रियमाणं शिरोभिस्तु नागैरमितविक्रमैः ।
दिव्यं दिव्येन वपुषा दिव्यरत्नविभूषितैः ॥ १८ ॥
तस्मिंस्तु धरणी देवी बाहुभ्यां गृह्य मैथिलीम् ।
स्वागतेनाभिनंद्यैनामासने चोपवेशयत् ॥ १९ ॥
तामासनगतां दृष्ट्वा प्रविशंतीं रसातलम् ।
पुष्पवृष्टिरविच्छिन्ना दिव्या सीतामवाकिरत् ॥२०॥
साधुकारश्च सुमहान्देवानां सहसोत्थितः ।
साधु साध्विति वै सीते यस्यास्ते शीलमीदृशम् ॥२१॥
एवं बहुविधा वाचो ह्यंतरिक्षगताः सुराः ।
व्याजह्रुर्हृष्टमनसो दृष्ट्वा सीताप्रवेशनम् ॥ २२ ॥
यज्ञवाटगताश्चापि मुनयः सर्वे एव ते ।
राजानश्च नरव्याघ्रा विस्मयान्नोपरेमिरे ॥ २३ ॥

अंतरिक्षे च भूमौ च सर्वे स्थावरजंगमाः ।
दानवाश्च महाकायाः पाताले पन्नगाधिपाः ॥ २४ ॥
केचिद्विनेदुः संहृष्टाः केचिद् ध्यानपरायणाः ।
केचिद्रामं निरीक्षंते केचित्सीतामचेतसः ॥ २५ ॥
सीताप्रवेशनं दृष्ट्वा तेषामासीत्समागमः ।
तन्मुहूर्तमिवात्यर्थं समं संमोहितं जगत् ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये
उत्तरकांडे सप्तनवतितमः सर्गः ।

रसातलं प्रविष्टायां वैदेह्यां सर्ववानराः ।
चुक्रुशुः साधु साध्वीति मुनयो रामसन्निधौ ॥ १ ॥
दंडकाष्ठमवष्टभ्य बाष्पव्याकुलितेक्षणः ।
अवाक्शिरा दीनमना रामो ह्यासीत्सुदुःखितः ॥ २ ॥
स रुदित्वा चिरं कालं बहुशो बाष्पमुत्सृजन् ।
क्रोधशोकसमाविष्टो रामो वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥
अभूतपूर्वं शोकं मे मनः स्प्रष्टुमिवेच्छति ।
पश्यतो मे यथा नष्टा सीता श्रीरिव रूपिणी ॥ ४ ॥
साऽदर्शनं पुरा सीता लंकां पारे महोदधेः ।
ततश्चापि मया नीता किं पुनर्वसुधातलात् ॥ ५ ॥
वसुधे देवि भवति सीता निर्यात्यतां मम ।
दर्शयिष्यामि वा रोषं यथा मामवगच्छसि ॥ ६ ॥
कामं श्वश्रूर्ममैव त्वं त्वत्सकाशात्तु मैथिली ।
कर्षता फालहस्तेन जनकेनोद्धृता पुरा ॥ ७ ॥

तस्मान्निर्यात्यतां सीता विवरं वा प्रयच्छ मे ।
पाताले नाकपृष्ठे वा वसेयं सहितस्तया ॥ ८ ॥
आनय त्वं हि तां सीतां मत्तोऽहं मैथिलीकृते ।
न मे दास्यसि चेत्सीतां यथारूपां महीतले ॥ ९ ॥
सपर्वतवनां कृत्स्नां नाशयिष्यामि ते स्थितिम् ।
नाशयिष्याम्यहं भूमिं सर्वमापो भवंत्विह ॥ १० ॥
एवं ब्रुवाणे काकुत्स्थे क्रोधशोकसमन्विते ।
ब्रह्मा सुरगणैः सार्धमुवाच रघुनन्दनम् ॥ ११ ॥
राम राम न संतापं कर्तुमर्हसि सुव्रत ।
स्मर त्वं पूर्वकं भावं मंत्रं चामित्रकर्शन ॥ १२ ॥
न खलु त्वां महाबाहो स्मारयेयमनुत्तमम् ।
इमं मुहूर्तं दुर्धर्ष स्मर त्वं जन्म वैष्णवम् ॥ १३ ॥
सीता हि विमला साध्वी तव पूर्वपरायणा ।
नागलोकं सुखं प्रायात्त्वदाश्रयतपोबलात् ॥ १४ ॥
स्वर्गे ते संगमो भूयो भविष्यति न संशयः ।
अस्यास्तु परिषन्मध्ये यद् ब्रवीमि निबोध तत् ॥१५॥
एतदेव हि काव्यं ते काव्यानामुत्तमं श्रुतम् ।
सर्वं विस्तरतो राम व्याख्यास्यति न संशयः ॥१६॥
जन्मप्रभृति ते वीर सुखदुःखोपसेवनम् ।
भविष्युत्तरं चेह सर्वं वाल्मीकिना कृतम् ॥ १७ ॥
आदिकाव्यमिदं राम त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
न ह्यन्योऽर्हति काव्यानां यशोभाग्राघवादृते ॥ १८ ॥

श्रुतं ते पूर्वमेतद्धि मया सर्वं सुरैः सह ।
दिव्यमद्भुतरूपं च सत्यवाक्यमनावृतम् ॥ १६ ॥
स त्वं पुरुषशार्दूल धर्मेण सुसमाहितः ।
शेषं भविष्यं काकुत्स्थ काव्यं रामायणं शृणु ॥२०॥
उत्तरं नाम काव्यस्य शेषमत्र महायशः ।
तच्छृणुष्व महातेज ऋषिभिः सार्धमुत्तमम् ॥२१॥
न खल्वन्येन काकुत्स्थ श्रोतव्यमिदमुत्तमम् ।
परमं ऋषिणा वीर त्वयैव रघुनन्दन ॥ २२ ॥
एतावदुक्त्वा वचनं ब्रह्मा त्रिभुवनेश्वरः ।
जगाम त्रिदिवं देवो देवैः सह सबांधवैः ॥ २३ ॥
ये च तत्र महात्मान ऋषयो ब्राह्मलौकिकाः ।
ब्रह्मणा समनुज्ञाता न्यवर्तंत महौजसः ॥ २४ ॥
उत्तरं श्रोतुमनसो भविष्यं यच्च राघवे ।
ततो रामः शुभां वाणीं देवदेवस्य भाषिताम् ॥ २५ ॥
श्रुत्वा परमतेजस्वी वाल्मीकिमिदमब्रवीत् ।
भगवन् श्रोतुमनसा ऋषयो ब्राह्मलौकिकाः ॥ २६ ॥
भविष्यदुत्तरं यन्मे श्वोभूते संप्रवर्तताम् ।
एवं विनिश्चयं कृत्वा संप्रगृह्य कुशीलवौ ॥ २७ ॥
तं जनौघं विसृज्याथ पर्णशालामुपागमत् ।
तामेव शोचतः सीतां सा व्यतीता च शर्वरी ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये
उत्तरकांडे अष्टनवतितमः सर्गः ।

भाषानुवाद ।

उस अद्भुत यज्ञ में शिष्यों के साथ महर्षि वाल्मीकि भी आये। उनका आगमन सुन कर ऋषियों ने एकान्त स्थान में बहुतसी पर्णशालायें (पत्तों की कुटियाँ) बनवा दीं और ऋषियों के भोजन के लिए, फल मूल आदि चीज़ें छकड़ों में लदवा कर कुटियों में भिजवा दीं। अब वाल्मीकि मुनि ने अपने दोनों शिष्यों, कुश और लव से कहा कि तुम लोग यज्ञ में जाकर रामायण सुनाओ, ऋषियों के स्थानों में, ब्राह्मणों के पास, गलियों और राजमार्गों में, राजाओं के डेरों में और रामचन्द्र के भवन के द्वार पर जहां कि यज्ञ हो रहा है तथा विशेष कर ऋत्विजों के पास जाकर तुम रामायण गाओ। यदि तुम पर्वतों के आगे के भाग में पैदा हुए इन फलों को खाओगे तो गाने में तुम को मेहनत न पड़ेगी और तुम्हारी आवाज़ भी न बिगड़ेगी। यदि तुम को रामचन्द्र बुलावें और तुम्हारा गाना सुनना चाहें तो तुम उनके पास चले जाना। वहां ऋषियों के साथ यथोचित व्यवहार करना। एक दिन में मधुर वाणी से बीस सर्गों का गान करना। तुम को जैसा मैंने पहले उपदेश दिया है उन्हीं प्रमाणों सहित तुम सुनाना। तुम धन का लोभ मत करना, क्योंकि आश्रमों में रहनेवालों को धन की क्या ज़रूरत? हमारे लिए फल मूल ही बस हैं। यदि रामचन्द्र पूछें कि तुम किस के पुत्र हो तो यही कहना कि

हम दोनों वाल्मीकि के शिष्य हैं। यह वीणा लेते जाओ, इसके स्थान तुम जानते ही हो। उनको अच्छी तरह मिला कर, मधुर मधुर बजा कर, पहली कथा से गान आरम्भ करना। तुम ऐसी नम्रता से वर्तावं करना जिससे किसी तरह राजा का अनादर न हो, क्योंकि धर्म से राजा सब प्राणियों का पिता है। हे वत्स! कल सवेरे सावधानी से वीणा लेकर तुम दोनों गान आरम्भ कर देना। यह उपदेश देकर महर्षि चुप होगये। उनकी यह आज्ञा पाकर वे दोनों कुश और लव 'बहुत अच्छा, हम आपकी आज्ञानुसार गावेंगे' कह कर वहां से चले गये। वे दोनों कुमार ऋषि की कही अद्भुत वाणी हृदय में धारण कर के सुखपूर्वक उस स्थान में इस प्रकार वास करने लगे, जिस प्रकार च्यवनजी के स्थान पर उनके वचन सुन अश्विनीकुमार रहे थे।

९३ वां सर्ग समाप्त।

अब सवेरा हुआ। मैथिली के वे दोनों पुत्र स्नान और समिदाधान आदि कर्म कर, ऋषि के कथनानुसार गान करने लगे। यह वात महाराज ने भी सुनी कि भरताचार्य की रीति से, अच्छे ढंग पर और बहुतसे प्रमाणों के साथ वीणा के स्वर से दो लड़के काव्य गाते फिरते हैं। उनकी आवाज़ बड़ी सुरीली है और काव्य भी बढ़िया है। यह सुन कर रामचन्द्र को बड़ा कौतूहल हुआ। उन्होंने यज्ञ के काम से अवकाश पाकर, वशिष्ठ मुनि को बुलवाया। बहुत

से राजा, पंडित, महाजन, पौराणिक और शब्दों के जानने-वाले वृद्ध ब्राह्मण, सभा में बुलाये गये। स्वरों के लक्षण पहचाननेवाले गुणी उत्कंठित ब्राह्मण, अच्छी तरह लक्षण जाननेवाले गवैये, उस्ताद और वैदिक लोग बुलाये गये। पादाक्षर की सम को जाननेवाले छंदविद्या में चतुर, कला तथा मात्राओं के विशेष जानकार, ज्योतिषी लोग, क्रिया-विधि में चतुर पुरुष, कार्यों में चतुर तथा हेतुक तर्क करने-वाले लोग वहां बुलाये गये। तार्किक, बहुश्रुत, शास्त्र के छन्द के जानकार, वेदों में चतुर, वृत्तों के पहचाननेवाले और कलासूत्र में चतुर तथा नाचने गाने में दक्ष पुरुष बुलवा कर इकट्ठे किये गये। इन सब के बीच में उन दोनों गायक लड़कों को बैठाया। वे दोनों गाने लगे। वह गान इतना अच्छा था कि जिसको सुन कर सुननेवालों को तृप्ति ही नहीं होती थी। वहां जितने मुनि और राजा लोग बैठे थे वे सब बार बार उन लड़कों की ओर देखते और आश्चर्य करते थे। वे सब यही कह रहे थे कि देखो, महा-राज रामचन्द्र का और इन दोनों का एक ही सा रूप देख पड़ता है। मालूम होता है मानो महाराज ही की मूर्ति का प्रतिबिंब हो। यदि ये दोनों जटा और वल्कल न धारण किये होते तो महाराज में और इनमें कुछ भी अंतर न रह जाता। इस तरह पुरवासी और देशवासी कह रहे थे। इधर नारद के उपदेश के अनुसार वे दोनों लड़के बालकांड

के पहले सर्ग से रामायण गा रहे थे। दोपहर तक बीस सर्ग गाकर उन्होंने समाप्त कर दिये। रामचन्द्र जब पूरे बीसों सर्ग सुन चुके तब उन्होंने अपने भाई से कहा कि इनको अठारह हज़ार अशर्फ़ियां लाकर दो। इसके सिवा और भी जो कुछ ये चाहते हैं सो सब जल्दी इनको लाकर दो! आज्ञा पाते ही भरतजी झटपट धन ले आये और अलग अलग दोनों भाइयों को देने लगे, परन्तु उन्होंने वह धन नहीं लिया, वे कहने लगे—"हमको धन से क्या काम? हम तो वनवासी हैं। केवल वन के फल मूल से हमारा निर्वाह होता है। जंगल में धन का क्या होगा?" उन दोनों का यह कथन सुन कर सब विस्मित हो गये। रामचन्द्रजी को भी बड़ा आश्चर्य हुआ। अब रामचन्द्र उस काव्य को सुनने के लिये उन दोनों से पूछने लगे कि—'यह काव्य कितना बड़ा है। इसको बनानेवाले कौन मुनि हैं? वे कहां रहते हैं?" रामचन्द्र के पूछने पर बालकों ने कहा—"महाराज! इस काव्य को भगवान् वाल्मीकि मुनि ने बनाया है। वे आपके यज्ञ के पास ही ठहरे हुए हैं। इस ग्रंथ में चौबीस हज़ार श्लोक हैं। इसमें इलोपाख्यान तक सौ कथायें पांचसौ सर्ग और छः कांड तथा सातवां उत्तर-कांड है। यह ग्रंथ हमारे गुरु ऋषि वाल्मीकि ने बनाया है। इसमें सब चरित आप ही का है और जब तक सृष्टि रहेगी तब तक इस काव्य की प्रतिष्ठा होगी। यदि आप सब

सुनना चाहें तो यज्ञ के कामों से जब जब आपको अवकाश मिले तब तब भाइयों सहित सुना कीजिये।" रामचन्द्र ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। फिर वे रामचन्द्रजी की आज्ञा से प्रसन्न हो वाल्मीकि मुनि के निकट गये। रामचन्द्रजी भी मुनि और महात्मा राजाओं के संग इस काव्य की मधुरता सुन कर यज्ञशाला में आये। इस प्रकार से सर्ग बंध महाकाव्य को ताल गीति लय स्वर शब्द वीणा की मूर्छना व्यंजना सहित कुश लव के मुख से रामचन्द्रजी ने श्रवण किया।

९४ वां सर्ग समाप्त।

अब संगीत सुनते सुनते रामचंद्र ने जाना कि ये दोनों सीता ही के पुत्र हैं। उन्होंने दूतों को बुला कर आज्ञा दी कि तुम महामुनि वाल्मीकि के पास जाकर कहो कि यदि सीता शुद्धचरित्रा और पापरहित हो तो मुनि की आज्ञा लेकर और मुनि के मन के अनुसार अपनी शुद्धि का विश्वास करावे। देखो, इस पर मुनि क्या कहते हैं और सीता के मन में क्या है। वह सब हाल आकर मुझे सुनाओ। कल सवेरे सभा के बीच सीता अपनी शुद्धि के सम्बन्ध में शपथ करे। महाराज की यह आज्ञा पाकर दूत लोग महर्षि के पास गये। उन्होंने मुनि को प्रणाम कर बड़ी नम्रता से रामचन्द्र की कही हुई सब बातें कह सुनाईं। दूतों की बातें सुन कर मुनि ने कहा—"बहुत अच्छा, सीता वैसा ही

करेगी; क्योंकि स्त्रियों का देवता तो पति ही है।" यह सुन कर दूत लोगों ने आकर रामचंद्र से कह दिया। अब वे प्रसन्न होकर वहां के ऋषियों और राजाओं से बोले—"हे मुनि लोगो! आप लोग अपने शिष्यों सहित और राजा लोग अपने सब साथियों के साथ सीता की शपथ सुनें और भी जो लोग सुनना चाहते हैं वे सब यहां इकट्ठे हो जायं।" यह सुन कर सब राजा 'वाह वाह' कह कर महाराज की प्रशंसा करने और कहने लगे—हे नरों में श्रेष्ठ! इस पृथ्वी पर ये सब बातें आप ही में पाई जाती हैं। इस तरह की बातें दूसरे में नहीं हैं। इस प्रकार सब बातों का निश्चय कर रामचंद्र ने सब को विदा किया।

९५ वां सर्ग समाप्त।

अब रात बीत गई। सवेरा होते ही रामचन्द्र ने सब ऋषियों को बुलाया। वसिष्ठ, वामदेव, जावालि, काश्यप, विश्वामित्र, महातपस्वी दुर्वासा, पुलस्त्य, शक्ति, भार्गव, वामन, दीर्घायु मार्कंडेय, मौद्गल्य, गर्ग, च्यवन, शतानंद, भरद्वाज, अग्निपुत्र सुप्रभ, नारद, पर्वत और गौतम आदि तथा अन्यान्य महाव्रती ऋषि लोग वह अद्भुत चरित देखने की इच्छा से वहां आये। महापराक्रमी राक्षस और बड़े बली वानरगण भी कौतूहल पूर्वक वहां इकट्ठे हुए। इसके सिवाय क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अनेक देशों के रहने वाले हज़ारों ब्राह्मण भी, सीता की शपथ देखने की इच्छा से उस

सभा में भर गये। ये दर्शक लोग वहां आकर ऐसे चुपचाप बैठ गये मानो पत्थर की बनी हुई मूर्त्तियां हों। अब सीता को साथ लिये महर्षि वाल्मीकि वहां आ पहुंचे। सीता देवी मुनि के पीछे पीछे नीचे को मुँह किये, हाथ जोड़े, आंखों में आंसू भरे और मन में रामचंद्र का ध्यान करती हुई वहां चली आती थीं। उस समय मुनि के पीछे जाती हुई सीता ऐसी देख पड़ती थीं मानो ब्रह्मा के पीछे श्रुति आती हो। उस समय लोगों के मुँह से वाह वाह शब्द सुनने में आता था। इसके बाद लोगों का बड़ा हलहला शब्द हुआ, क्योंकि सीता देवी की दीनता देख कर उन लोगों को बड़ा ही दुःख और शोक हुआ, इस कारण वे चुप न रह सके। उनमें से कोई तो राम की, कोई सीता की और कोई दोनों की प्रशंसा कर रहे थे। अब महर्षि वाल्मीकि सीता को साथ लिये उस भीड़ में प्रवेश कर श्री रघुनन्दन से बोले—"हे दाशरथे! जिस सीता को आपने अपवाद के भय से मेरे आश्रम के पास छोड़ दिया था वह सुव्रता और धर्मचारिणी है। हे रामचन्द्र! आप लोकनिंदा से डरते हैं इसलिए सीता अपनी शुद्धता का विश्वास दिलाना चाहती है। आप आज्ञा दीजिये। ये दोनों बालक सीता ही के हैं। एक ही साथ दोनों की उत्पत्ति हुई है। हे रघुनन्दन! मैं प्रचेता का दशवां पुत्र हूं; मैं झूंठ न कहूंगा। ये दोनों लड़के तुम्हारे ही हैं। मैं भी शपथपूर्वक कहता हूं कि जो यह मैथिली

दुष्ट-चरित्रा हो तो मैं हज़ारों वर्ष तक किये हुए, अपने तप का फल न पाऊं। मन से, कर्म से और वाणी से भी कोई पापाचरण मुझ से नहीं हुआ है। यदि यह मैथिली पाप-रहित हो तो मैं उसका फल-भागी होऊं। हे राघव! पांच ज्ञानेन्द्रियां और छठा मन इन सब में जब सीता को शुद्ध जाना तब उस वन में मैंने इसे ग्रहण किया था। इसलिए हे रामचंद्र! सीता का चरित्र शुद्ध है, यह पापरहित और पतिव्रता है, परंतु आप लोकापवाद से डर रहे हैं इसलिए यह आपको विश्वास दिलावेगी। हे रघुनन्दन! मैंने दिव्य-दृष्टि से देख लिया है कि जानकी शुद्ध हैं, आप भी जानते हैं कि हमारी प्रिया सीता शुद्ध हैं परन्तु आपने लोकापवाद से इनका त्याग किया है।

९६ वां सर्ग समाप्त।

इस तरह वाल्मीकि मुनि के कहने पर रामचन्द्र हाथ जोड़ कर बोले—"हे भगवन्! आप जैसा कहते हैं वह सब ठीक है। आपके दोषरहित वचनों ही से मुझे विश्वास होगया। देवताओं के सामने भी इसने मुझे विश्वास दिलाया और शपथ खाई थी। इसी कारण मैं इसे घर ले भी आया था परन्तु भगवन्! लोकापवाद बड़ा बलवान् है। इसी से मैंने फिर इसका त्याग किया। केवल अपवाद ही के डर से जान बूझ कर मैंने इसको छोड़ा था इसलिए आप क्षमा कीजिए। मैं जानता हूं कि ये दोनों लड़के मेरे ही हैं। ये

एक ही साथ उत्पन्न हुए हैं, परन्तु अब इस जन-समूह में यदि यह सीता शुद्ध ठहर जाय तो मुझे बड़ा आनन्द हो।" रामचन्द्रजी का अभिप्राय समझ कर ब्रह्मा आदि देवता लोग भी उस जन-समूह में आये। आदित्य, वसु, रुद्र, विश्वेदेव, मरुद्गण, साध्य, बड़े बड़े महर्षि, नाग, सुपर्ण और सिद्ध आदि सभी हर्षित मन से वहां इकट्ठे हुए। इन सब को देख-कर महर्षि वाल्मीकि से रामचन्द्र बोले—हे मुनियों में श्रेष्ठ ! मुझे तो आप ही के वचनों से सीता के शुद्ध होने का विश्वास होगया था, परन्तु अब इन सब लोगों के सामने सीता अपनी शुद्धि दिखलावे तो इस विषय में मुझे बड़ी प्रसन्नता हो। देखिये, ये सब भी सीता की शपथ ही देखने के लिए आये हैं।

अब मंगलकारी पवित्र और अच्छी गंध लिये मनोहर हवा चलने लगी। उस मंडली में चारों ओर से बड़ा ही आनंद होने लगा। उस हवा का चलना देख कर लोग बड़ा ही आश्चर्य करने लगे। वे कहने लगे कि हमने तो सुना था कि ऐसी हवा केवल सतयुग में ही चलती थी।

अब काषाय वस्त्र पहने सीता देवी उस मंडली के बीच में, हाथ जोड़े और नीचे को मुँह किये ही, बोलीं—"यदि मैंने राघव के सिवाय दूसरे मनुष्य का मन से भी कभी चिन्तन न किया हो तो पृथ्वी देवी को अपने भीतर जाने के लिए, मुझे मार्ग देने का अधिकार है। मन, कर्म, वाणी से

यदि मैं रामचन्द्र ही को अपना पति समझती होऊँ तो पृथ्वी देवी को मुझे समा जाने के लिये मार्ग देने का अधिकार है। यदि मेरा यह कहना सत्य हो कि मैं राम के सिवाय और किसी को नहीं जानती तो पृथिवी देवी को मुझे अपने में समा जाने के लिये मार्ग देने का अधिकार है।" इस तरह सीता देवी शपथ कर ही रही थीं कि इतने में पृथ्वी फट गई और उसमें एक अद्भुत सिंहासन प्रकट हुआ। उसको बड़े पराक्रमी और अच्छे अच्छे रत्नों से भूषित अनेक नाग अपने सिर पर धारण किये थे। पृथ्वी देवी दोनों भुजाओं से सीता को थांभ कर और "तुम्हारा स्वागत हो" कह कर उस सिंहासन पर बैठा लिया। फिर वह सिंहासन रसातल में जाने लगा। उसी समय आकाश से फूलों की वर्षा होने लगी और देवता लोग "साधु साधु" कह कर सीता देवी की प्रशंसा करने लगे। वे कहने लगे कि हे देवी सीते! तुम धन्य हो जो ऐसा तुम्हारा शील है। इस तरह आकाश में ठहरे हुए देवता लोग बड़े हर्ष से सीता के विषय में अनेक तरह की बातें कर रहे थे। यज्ञ-भूमि में जितने ऋषि और राजा लोग बैठे थे वे सभी आश्चर्य में डूब गये। आकाश के और पृथ्वी के स्थावर जंगम, बड़े रूपवाले बड़े बड़े दानव और पाताल के बड़े बड़े नाग विस्मित होते थे और बहुत से हर्षनाद कर रहे थे। बहुतेरे कुछ सोच रहे थे और बहुतसे राम की ओर और बहुतसे सीता की ओर देख रहे थे।

सीता का प्रवेश देख कर उनका समूह जो देखने आया था साथ ही सारा संसार मुहूर्त भर के लिये अत्यन्त मोहित होगया।

९७ वां सर्ग समाप्त।

सीता देवी के रसातल में चले जाने पर वानर और मुनिगण 'अच्छी पातिव्रता थी' यह कहने लगे। उस समय रामचन्द्रजी छड़ी टेक कर आंखों में आंसू भरे तथा नीचे की ओर मुँह किये, बड़े दीन और दुःखित हो गये। वे बहुत देर तक रोते और आंसू बहाते रहे। फिर वे क्रोध और शोक से भरे हुए ये बचन बोले—देखो, ऐसा शोक मुझे कभी नहीं हुआ। यह मेरे मन को पीड़ा दे रहा है, क्योंकि मेरे देखते ही देखते लक्ष्मी की भाँति, सीता नष्ट हो गई। मैं तो इसे समुद्र के भी पार से ले आया था, अब पाताल से ले आना मेरे लिए क्या कठिन है? हे पृथ्वी देवि! तू मेरी सीता दे दे अन्यथा मैं तेरे ऊपर अपना क्रोध दिखाऊंगा। तू मेरे बल को जानती ही है। तू मेरी सास भी है, क्योंकि राजर्षि जनक ने जोतते समय तेरे ही भीतर (गर्भ) से सीता को पाया था, इसलिए हे पृथिवी! या तो तू सीता को मुझे दे दे अथवा मुझे भी अपने भीतर ले ले, क्योंकि वह पाताल में रहे या स्वर्ग में, मैं उसी के साथ रहूंगा। उसके लिए मैं पागल सा हो रहा हूं। यदि तू उसे न देगी तो मैं पर्वतों और वनों सहित तुझको ध्वस्त और नष्ट कर डालूंगा। सारा संसार जलमय हो जायगा।

इस तरह क्रोध और शोक से पूर्ण और पृथ्वी को धमकाते हुए रामचन्द्र को देख कर देवताओं सहित ब्रह्मा उनके पास आये और कहने लगे—हे राम ! आप संताप करने के योग्य नहीं हैं। आप अपने पहले भाव का स्मरण कीजिए। हे महाबाहो ! मैं आप को स्मरण कराने के लिए नहीं आया हूं। मैं केवल यही प्रार्थना करता हूं कि आप अपने वैष्णव-भाव का ध्यान कीजिए। यह समय बड़ा दुर्धर्ष है। सीता तो स्वभाव ही से शुद्ध और पतिव्रता है, वह तुम में सदा से परायण है। तुम्हारे आश्रयरूप तपोबल से वह नागलोक में पहुंची है फिर उससे आप की भेंट वैकुण्ठ में होगी। मैं अब जो इस सभा के सामने कहता हूं उसे सुनिये। यह काव्यों में उत्तम काव्य भगवान् वाल्मीकि का बनाया हुआ है। यह आपके जन्म भर की वार्ता का वर्णन करेगा। आपको आजतक जो सुख दुःख हुआ है इस में उस सब का वर्णन रहेगा। भविष्यत् का जो कुछ बाकी है उसका भी इस में वर्णन है। हे रामचन्द्र ! यह आदि-काव्य है। सब से पहले यही बना है। सम्पूर्ण रूप से इस में तुम्हारा ही वर्णन है। तुम्हारे सिवाय दूसरा मनुष्य-काव्य के यश को नहीं पा सकता, आपने और देवताओं के साथ मैंने भी इस काव्य को सुना है। अब जो भविष्य है वह भी सुनिए। यह काव्य का उत्तरभाग है। इसलिए इसका नाम उत्तर होगा। अब आप ऋषियों

के साथ बैठ कर इसे सुनिए। हे काकुत्स्थ! अन्य लोगों को अब न सुनना चाहिए, इस काव्य के सुनने की योग्यता आप ही में है। आप राजर्षि हैं इसे एकाग्रचित्त से सुनिए।" इतना कह कर देवों को साथ ले ब्रह्मा अपने लोक को चले गए। बाक़ी ब्रह्मर्षि और तापस ब्रह्मा की अनुमति से भविष्य-काव्य सुनने के लिए वहीं ठहरे रहे। ब्रह्मा के कथनानुसार रामचन्द्र ने वाल्मीकि मुनि से कहा—भगवन्! ये सब महर्षि मेरा भविष्य-काव्य सुनना चाहते हैं इसलिए जो कुछ मेरी भविष्य-कथा हो वह कल से प्रारम्भ की जाय। ऐसा निश्चय कर और कुश लव को साथ ले उन सब मनुष्यों को बिदा कर श्री रामचन्द्रजी पर्णशाला में आये और उन्हीं सीता का सोच करते करते वह रात्रि बीत गई।

९८ वां सर्ग समाप्त।

वाल्मीकीय के इस वृत्तान्त के पढ़ने से यह स्पष्ट होता है कि सीता देवी के अनुपम और शुद्ध चरित्र की परीक्षा दो प्रकार से भिन्न भिन्न समय में ली गई और वे दोनों में उत्तीर्ण हो गई। पहली परीक्षा लंका में अग्नि में हुई जिसके साक्षी अग्नि-देवता इत्यादि सब देवता थे, ऐसी कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर भी हठी और विचारशून्य प्रजा ने सीता के और रामचन्द्र के चरित्र में कलंक लगाया। ये रामचन्द्र कैसे राजा थे और सीता कैसी सती थी इसको

सब संसार जानता है। उनकी समता का होना बहुत कठिन है तिस पर भी प्रजा ने कुछ न समझ कर मनमाना अपवाद किया। रामचन्द्र ने अपने कुल के यश की रक्षा करने के निमित्त और देवी सीता के उज्वल यश को विशेष उज्वल करने के निमित्त सीता जैसी सती को वनवास दे दिया। यदि वे ऐसा न करते तो दुराग्रही लोग कदापि सीता के विषय की चर्चा करना बंद न करते। रामचन्द्र जानते थे कि सीता के चरित्र में कोई कलंक नहीं, परन्तु उन प्रजागणों का मुख तोड़ने को यह सब कुछ किया जिससे उनको यह शिक्षा मिले कि झूठा कलंक किसी पर न लगाया करें। श्री सीता देवी सभा के बीच में जब वाल्मीकि मुनि से परीक्षा के निमित्त बुलवाई गईं, तो उन्होंने अपना मुंह नीचे रक्खा और नीचे झुके मुख से ही पृथ्वी से प्रार्थना की कि यदि मेरा चरित्र निर्दोष है तो हे पृथ्वी माता ! मुझको तेरे में समाने को जगह दे। ऊपर मुख न करने का कारण यह था कि जिस प्रजा ने उनका यह सन्मान किया उसको फिर देखने की इच्छा नहीं की। प्रजागण के इस व्यवहार से श्री रामचन्द्रजी को भी अति दुःख हुआ और उन्होंने बड़ा क्रोध किया और उसी दुःख और क्रोध का यह फल है कि उस समय से आज तक भारतवर्ष में धर्म की हीनता, राजा और रानियों के चरित्रों की कमी, प्रजा का आपस का द्वेष और भी अनेक प्रकार के

संकट इस देश पर बार बार आते हैं। मेरा मत यह नहीं है कि प्रजागण कुत्सित और असद्वृत्त राजा को मार्ग पर न लावें। अवश्य लाना चाहिए यदि प्रजा स्वयं इस योग्य हो और राजा दंड देने का भागी हो जैसा कि प्राचीन समय में ब्राह्मणों ने अंग के पुत्र वेन को शिक्षा देने पर भी मर्यादा तोड़ने के कारण उचित दंड दिया और फिर उसी के शरीर में से पाप को अलग हटा कर पुण्यरूपी यशस्वी राजा रानी को प्रकट किया, परन्तु वैसी प्रजा कहां जो स्वयं इस योग्य हो कि पापी को ही दण्ड दे न कि रामचन्द्र और सीता जैसे उज्ज्वल शरीरों में भी वृथा कलंक लगाया करे। वेन की तरह इंगलैन्ड में भी चार्ल्स दी फर्स्ट को वहां की प्रजा ने प्राणदंड दिया। वेन के और चार्ल्स दी फर्स्ट के इतिहास से प्रजाओं को यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए कि उन दोनों राजाओं को उचित दंड दिया, परन्तु राजा की प्रणाली को नष्ट नहीं किया। उचित दंड उसी को कहते हैं कि आवश्यकता से अधिक कदापि न दिया जाय। यदि एक ब्राह्मण कुत्सित स्वभाव का होगया है तो उस ब्राह्मण को दंड मिलना चाहिए न कि ब्राह्मण जाति के नष्ट करने का उपाय किया जाय।

क्षत्रिय-जाति को संदेश

महाभारत से आज तक इस जाति के इतिहास को पढ़ने से यह स्पष्ट समझ में आजाता है कि क्षत्रियों के गिरने के मुख्य कारण दो हैं—

(१) आपस की फूट, ईर्षा और द्वेष।

(२) तामसी प्रकृति, याने किसी भी काम करने में उत्साह नहीं, तामसी प्रकृति और फूट से ही इनकी जो आज दशा है सो हुई, क्योंकि और और अवगुण तो दूसरी जातियों में भी हैं परंतु इनका सा द्वेष और तामस दूसरों में नहीं, जिससे ही यह हज़ारों वर्षों से गिरते जारहे हैं।

क्षत्रियों के विषय पर विचार करने के पहले यह दिखलाना आवश्यक है कि क्षत्रिय-जाति का मनुष्य जाति में कौन-सा स्थान है। इसका रूप क्या है और यह किसलिए और कहां से संसार में प्रगट हुई और इसका कर्तव्य क्या है? मैं क्षत्रिय-जाति को एक शरीर मान कर कुछ लिखता हूं। बड़े बड़े विद्वानों के वचन सुनने से ऐसा प्रतीत होता है कि वेदों में (जो आर्यधर्म की शिक्षा के अत्युत्तम और प्रधान सागर हैं) मनुष्य-जाति को एक शरीर मान कर

व्यावहारिक शिक्षा दी है और उनमें यही कहा गया है कि भगवान् के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, ऊरु से वैश्य और नीचे के भाग से शूद्र हुए हैं। वेद पढ़ने से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि स्कंधों के ऊपर का कुल भाग ब्राह्मण का है और गले से नाभि के ऊपर तक क्षत्रिय का भाग है, बस, मुझे इस क्षात्रधर्म पर ही विचार करना है, इसलिए मैं ब्राह्मण आदि के धर्मों को न कह कर केवल क्षत्रियों के धर्म पर ही कुछ लिखता हूं—

जब वेद में कही हुई आज्ञा से विदित हुआ कि क्षत्रिय गले से नीचे और नाभि के ऊपर के भाग से बना हुआ है तो यह विचार करना आवश्यक है कि शरीर के कौन से भाग से क्षत्रिय बना है और कौन कौन से शरीर के भाग उसके अन्तर्गत हैं और वे कौन क़ौनसी क्रियाओं से शरीर की सेवा करते हैं। विचार किया जाय तो यह स्पष्ट है कि क्षत्रिय शरीर में स्कंध, भुजा, फेफड़े और हृदय, इतने अंग अन्तर्गत हैं और मनुष्य-शरीर में जो कार्य इन अंगों से होता है वही कार्य यथार्थ रीति से मनुष्य-जाति के लिए करना क्षत्रिय का कर्तव्य है।

जब हम मान चुके कि क्षत्रिय-शरीर में—२ स्कंध, २ भुजायें, २ फेफड़े और १ हृदय है, तो अब यह विचार करना आवश्यक है कि इनसे कौन कौनसा काम क्षत्रिय लेगा, दो स्कंधों से भार उठाने का काम होगा, एकसे अपना

और दूसरे स्कंध से औरों का, यों ही दोनों भुजाओं से अपनी तथा दूसरों की रक्षा करने का काम होगा। फेफड़ा प्राणवायु का मुख्य स्थान है, उससे यह शिक्षा मिली कि मनुष्य-जाति के प्राणों के टिकने का स्थान क्षत्रिय है और हृदय जो जीव का मुख्य स्थान है, जिसमें रक्त शुद्ध होता है, जो सब शरीर में रक्त को पहुंचाता है, अपवित्र रक्त को शुद्ध करता है, प्रेम से दूसरे के हृदय को वश कर लेता है, वीरता से महान् रिपुओं को जीत लेता है, दृढ़ता से भयङ्कर आपत्ति और कष्ट में नहीं हिलता और जो मनुष्य-देह का एक प्रधान अंग है, वेद भगवान् की आज्ञा से क्षत्रिय का देह ऐसा बना, इसलिए क्षत्रियमात्र को (जो सच्चा क्षत्रिय बनना चाहे) याद रखना चाहिए कि वह संसार में किस-लिए जन्मा है और प्रजा उससे क्या आशा रखती है और उस पर प्रजा की रक्षा का कितना भार है। जिस प्रकार मस्तक और मुख ब्राह्मण का मुख्य स्थान है उसी प्रकार क्षत्रिय के लिए हृदय और भुजा मुख्य स्थान हैं। हृदय मन का स्थान है और उत्साह का, इसलिए क्षत्रिय का मन उदार होना चाहिए और सर्वदा उन्नति की ओर झुका रहना चाहिए। इसी प्रकार उत्साह मन का मुख्य धर्म है जिससे वीरता का सम्बन्ध है जिसको दिलेरी कहते हैं। दूसरा स्थान भुजा है जिसका अर्थ है कि क्षत्रिय को सर्वदा कार्य-परायण होना चाहिए न कि संतोष करके आलसी बन कर

घर में बैठा रहना उसके लिए उचित है, जैसी कि वेद में उसके लिए आज्ञा है:—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

इस संसार में काम करते हुए ही अपना सौ वर्ष का जीवन पूरा करना चाहिए अथवा संसार में काम करने के लिये ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा रक्खे। ऐसा करने से उस मनुष्य की न इस लोक में कोई हानि हो सकती है और न परलोक में उसका कोई अनिष्ट हो सकता है।

अब मैं चारित्रिक, आर्थिक और सामाजिक विषयों पर विचार करता हूं कि क्षत्रिय-जाति के चरित्र में क्या क्या त्रुटियां हैं। उनकी गणना होने से यह प्रतीत हो सकेगा कि उनका सुधार कैसे किया जाय, यदि गणना की जाय तो इनके चरित्र में ९ अवगुण प्रधान हैं—

१ मद्यपान, २ पासवान-बहुविवाह, ३ परस्पर ईर्षा, ४ अविद्या, ५ सदुपदेश न मानना, ६ वृथाभिमान, ७ अपव्यय करना, ८ टीका और ९ कन्या-हत्या।

१—मद्यपान।

क्षत्रिय-जाति के सुधार में बाधा डालने वाला और अनेक प्रकार के दोषों को पैदा करने वाला, क्षत्रियों के हृदय को निर्बल करने वाला और दिमाग़ को बिगाड़नेवाला इनका एक परम-शत्रु मद्य है। इस मद्य ने क्षत्रिय-जाति

को नष्ट करने में कोई कमी न की और क्षत्रियों से पूरा बदला द्वारका में यादवों के सब कुल को नष्ट करके लिया, मेवाड़ के इतिहास से पता लगता है कि महाराणाओं ने निज धर्म की तथा जन्मभूमि की सेवा के लिये अपनी वहुतसी पीढ़ियों को वीरशय्या पर सुलाया और आजकल देखा जाता है कि वहुतसे क्षत्रियों ने मद्य पी पी कर निजवंश का व्यर्थ ही नाश कर डाला। इसमें यही देखना है कि नाश तो दोनों का ही है, पर पूर्व नाश किसलिये है और दूसरा नाश किस उद्देश्य से है। इससे विशेष दोष और होता है कि शरीर की हानि के साथ साथ धन की वहुत हानि हो रही है, क्योंकि अव क्षत्रियमात्र विदेशी मद्य का पीना अपना सौभाग्य समझते हैं और जिस एक बोतल के लिए एक रुपया ख़र्च होता था उसके आज दस रुपये देने पड़ते हैं। जिस घर में आज दस खर्च होता था उसमें हज़ार खर्च होता है, जिस में हज़ार खर्च होता था, वहां दस हज़ार ख़र्च पड़ता है और जहां दस हज़ार व्यय होता था, वहां लाख खर्च होता है, जो मद्य न पीवे वह क्षत्रिय ही नहीं समझा जाता।

मुझको मेरे एक मित्र की कही हुई कथा याद है कि वे राजपूताना प्रान्त में एक क्षत्रिय के घर में ठहरे हुए थे उस ठिकाने के परलोकवासी ठाकुर साहब का द्वादशाह हो चुका था कि जिनकी मृत्यु अधिक मद्य पीने से हुई थी

और उस दिन राजपूताने की प्रथा के अनुसार उसके शोक दूर करने का दस्तूर किया जाता था। जो इस प्रकार होता है—कि मृतक के पुत्र को मद्य पिलाई जाती है और उसके पीने पर मान लिया जाता है कि शोक दूर हो गया है मेरे मित्र जो वहां ठहरे थे, ये सब देख कर बहुत दुखी हुए और तुरन्त उनके मुख से ये शब्द निकले कि शोक दूर नहीं होता किन्तु शोक फिर प्रारम्भ होता है, जिस चीज़ के पीने से इसके पिता का देहान्त हुआ वही चीज़ सब एकत्र होकर आज इसे पिलाते हो। बड़ा खेद है कि क्षत्रिय अपने मद्यरूपी शत्रु को नहीं जीत सकते।

क्षत्रियों के घरानों में यह प्रथा है कि जब किसी कारण से दो घरानों में लड़ाई हो जाय और एक घराने का मनुष्य दूसरे घराने के मनुष्य के हाथ से मारा जाय तो उन दोनों घरानों में आपस में वैर हो जाता है और उन दोनों घरानों में फिर किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता, इसको हिन्दी में गोतघाव कहते हैं, अंग्रेज़ी में Blood-fued कहते हैं। ठीक यही गोतघाव मद्य के और क्षत्रिय-जाति के चल रहा है जिसने अनन्त क्षत्रियों को मार डाला उस मद्यरूपी शत्रु को मारकर अपना बदला लें इतना सा भी साहस इस क्षत्रिय-जाति में नहीं है। अपने पिता के मारने वाले पर भी क्रोध न करे, यह कैसा साहस है, आप स्वयं सोचें।

क्षत्रियों को चाहिये कि मद्य रूपी शत्रु को जीतने में अमेरिका का अनुकरण करें। जब तक मद्य के ठेके का द्रव्य इन क्षत्रियों के घरों में जाना बंद न होगा, तब तक इन की बुद्धि का सुधार नहीं हो सकता, क्योंकि प्राचीन शास्त्र इस बात को कहते हैं कि उत्तम और अधम क्रियाओं से प्राप्त हुए द्रव्य का बुद्धि पर उत्तम और अधम ही प्रभाव पड़ता है।

२–पासवान और बहु-विवाह।

दूसरा अवगुण इन में बहु-विवाह करना या पासवान रखने का है, इससे इस जाति को बड़ी हानि पहुंची है। श्री रामचन्द्र जैसे योग्य राजा वनवास को गये। बहुतसे क्षत्रियों के बालक रानियों के आपस के द्वेष से विष दे दे कर वा अन्यथा मारे गये। सारा इतिहास पढ़ने से ज्ञात हो सकता है कि ऐसी दुर्घटनाएं क्षत्रिय-कुल में बहुत हुई हैं जो एक क्षत्रिय के बहुपत्नी होने से हुई। इसी प्रकार पासवानों का स्वास्थ्य-नाशक रोग भी ऐसा प्रबल इस जाति को लगा हुआ है कि जिस के कारण सैकड़ों, हज़ारों राज-कन्यायें पासवानों के हाथों से नष्ट की गईं। ये बातें क्षत्रियों के इतिहास को पूर्णतया पढ़ लेने से ज्ञात हो सकती हैं, इस छोटे से पत्र में उनका विवरण नहीं हो सकता।

३–ईर्षा।

आपस का वैर, ईर्षा इन क्षत्रियों का परम-संगी शत्रु

है, यह मित्र बन कर सदा इनके हृदय में रहता है और अनेक प्रकार की लड़ाइयां करवाता है, एक दूसरे की बुराई करने को बहुत ऊंची बात समझने लगे हैं और इस का अभिमान करते हैं। कई क्षत्रिय महानुभावों के विचार में तो आपस में द्वेष फैला लेना ही एक बहुत बड़ी बात मानी जाती है और उनको ऐसा करते लज्जा भी नहीं आती।

मैं देखता हूं, अनेक जातियां अपने उद्धार के लिए अनेक संस्थाएं और सभाएं कायम कर के आपस में एक दूसरे पर विचार प्रकट करती हैं और भविष्य में उत्थान के लिए यथाशक्ति उपाय भी करती हैं, परन्तु क्षत्रिय दो भी सत्यभाव से अपने हित का उपाय करने में एक जगह बैठ कर परामर्श नहीं कर सकते। यह इनकी ईर्षा का ही फल है।

४—अविद्या।

विद्या का न पढ़ना क्षत्रियों को बहुत मीठा लगता है। जहां पढ़ने की चर्चा होगी वहां से दूर भागेंगे और और कामों में द्रव्य व्यय करेंगे, परन्तु विद्यानिमित्त दान देने में बड़ा कष्ट होता है। यदि भारत के कुल क्षत्रिय एकमत हो कर विद्योन्नति करना चाहें तो क्षत्रियों की शिक्षा के लिये अनेक विश्वविद्यालय बन सकते हैं, जिनमें क्षात्रधर्म की पूर्ण और असली शिक्षा दी जाय। जिस समय में साधारण मनुष्यों ने यूनिवर्सिटियां कर के बतला दीं उस हालत

में इन के लिए यूनिवर्सिटियां बनाना कठिन नहीं है, परन्तु जो आमोद प्रमोद में रहते हैं, उनको विद्योपार्जन की चर्चा कैसे अच्छी लगे, यह कार्य तो पाश्चात्य सच्चे वीरपुत्रों ने कर के बतला दिया जो किसी समय में बहुत कम वस्त्र पहरना जानते थे। आज दुनियां के बहुत से हिस्से में उन के वस्त्र पहुंचते हैं और संसार की वृथा घमंड करने वाली तथा अपने आपको ऊंचा मानने वाली जातियां उनकी पोशाकों की नकल करती हैं और उनसे कपड़े पहनना सीखती हैं। जिन पाश्चात्य जातियों के लिए कहा जाता था कि केवल मछली और आलू खाकर रहती हैं, उन के बनाये हुए भोजन की आज संसार तारीफ़ करता है और हज़ारों तथा लाखों पुरुष अंग्रेज़ी भोजन करने को सौभाग्य समझते हैं।

मेरे प्यारे क्षत्रियो ! जरा सोचो, परिश्रम का फल कैसा उत्तम है। आज उनके यहां कितने वैज्ञानिक आविष्कार हो रहे हैं। उन्होंने इस कहावत को सार्थक कर दिया कि 'Necessity is the mother of invention.' आवश्यकता ही आविष्कार का कारण है। विद्या का विषय ऐसा नहीं है कि जिसे मैं लिख सकूं, परन्तु इतना कह कर समाप्त करता हूं कि हमारे में विद्या नहीं है और विद्या की आवश्यकता है इसलिए नये आविष्कार न हो सकें तो रहने दो, पर दूसरों को देख कर तो सीखो।

५—सदुपदेश न मानना।

एक बहुत बड़ी त्रुटि इस जाति में यह है कि इस जाति ने सदुपदेश को ग्रहण करने का त्याग कर दिया। जो इनको उपदेश करता है उसे ये हलकी नज़र से देखने लगते हैं, कहीं कहीं तो ऐसा भी मौक़ा होता है कि सदुपदेश करनेवाले के साथ द्वेषभाव भी पैदा हो जाता है, विद्या की चर्चा होनेवाली सभा में जाना व्यर्थ समझते हैं, अच्छे पंडितों को साथ रखने की कदापि इच्छा नहीं रखते हैं। इसी प्रकार जितने भी उपदेश मिलने के मार्ग हैं, उनसे वंचित रहते हैं। शोक! जिस जाति में मोटरगैरेज़, अस्त-बल, चिड़ियाखाना इत्यादि का प्रबंध है, उस जाति में अपने भाइयों व संतानों की शिक्षा देने का कुछ भी प्रबंध नहीं, यह सब सदुपदेश को न सुनने का फल है। हर्बर्ट स्पेन्सर ने अपनी पुस्तक शिक्षा में लिखा है कि घोड़ों की शिक्षा का तो प्रबंध है, पर मनुष्यों की शिक्षा का प्रबंध नहीं है।

६—वृथाभिमान।

इस जाति में वृथाभिमान (घमंड) बहुत है। जिन गुणों से ये किसी समय बहुत ऊँचे उठे हुए थे, वे गुण अब इन में न रहे, अब केवल घमंडमात्र रह गया। अभि-मान सदा मनुष्य को गिरा देता है, जैसे कि लंका का राजा रावण गिरा, पाताल का राजा बलि और थोड़े समय

पहिले भारत के प्रसिद्ध कौरव भी गिर गये। इस समय के क्षत्रियों के विचार इतने घमंडी और तुच्छ हो गये हैं कि राजपूताने में कई जगह ऐसे व्यवहार करने लगे कि अमुक शाखा से कन्या को ग्रहण करना, परंतु उसको देना नहीं। यह उनका अभिमान और तुच्छ-बुद्धिता प्रकट करता है क्योंकि जब एक कुल से कन्या ग्रहण करली तो उस कुल से पूरा सम्बन्ध हो चुका फिर उसी कुल में कन्या न देनी, यह कैसी प्रथा है, समझ में नहीं आता कन्या ले लेने पर उस वंश का खून तो आगया, फिर बाक़ी क्या रहा। इसी प्रकार बहुतसी बातें क्षत्रिय-समाज में ऐसी दूषित हैं, जिनका सुधार होना अत्यावश्यक है।

७-अपव्यय।

इस जाति में फिज़ूलख़र्ची इतनी बढ़ गई है कि जिसका कुछ प्रमाण नहीं, खाने को भोजन न मिले, पहनने को वस्त्र न मिले, परंतु मोटर में बैठने की लालसा बनी रहती है। सैकड़ों घरों में इस क़दर मोटर पर रुपया ख़र्च होता है कि यदि यह विद्या के संबंध में लगाया जाता तो इस वक्त तक एक यूनिवर्सिटी बन जाती। आपस के मुक़द्दमों में जो द्रव्य लगता है वही अगर जाति के हित के लिए लगता तो कितना लाभ हो सकता था। मद्यपान में भी पूरा द्रव्य लग जाता है, उत्तमोत्तम रेशमी वस्त्र वा बढ़िया से बढ़िया ढाका की मलमल द्रव्य खींचने में कमी नहीं करती है।

इसी प्रकार यदि विचार से देखा जाय तो आदमी के जीवन के लिए बहुत कम धन की आवश्यकता है परंतु गुलाब, केवड़ा और ख़स के इत्र से हौज़ भरने के लिए किस क़दर राज्यकोष का धन वृथा चला जाता है जिसको सुन कर मन अमायमान हो जाता है। एक ग़रीब क्षत्रिय बालक राज्यकोष पर क्षत्रिय होने के कारण बहुत बड़ा हक़ रखता है और जो आयुपर्यन्त विद्या न पढ़ने से पशु समान अपना जीवन व्यतीत करके वृद्धावस्था में अत्यंत दुःख पाकर अपने प्राण छोड़ता है इसका उत्तर वही देंगे जो राज्यकोष के धन को वृथा कामों में लगा देते हैं और जिनको स्वप्न में भी अपने दीन और हीन भाइयों की रक्षा का विचार पैदा नहीं होता और इन्हीं कारणों से क्षत्रिय-जाति इतनी गिर गई है। अय प्रिय राजाओ और महाराजाओ! इस पृथिवी पर श्री रामचन्द्र जैसे राजा हो चुके हैं। लक्ष्मण जैसे महावीर हो चुके हैं, अर्जुन जैसे क्षत्रिय हो चुके हैं। आप लोग भी उसी कुल में हो परंतु उनका अनुकरण करने में बहुत त्रुटि है। महाराज रामचंद्र के सामने छोटे से छोटे और दुखी से दुखी पुरुष को अपने दुःख का वृत्तान्त कहने का मौक़ा मिलता था, परंतु आज राजा महाराजाओं के सामने प्रार्थना-पत्र लेकर अपने दुःख का हाल सुनाने के लिए बड़ी कठिनता से मौक़ा मिलता है और बहुत तो निराश होकर ही रह जाते हैं। छोटी सी जीविका के सरदार भी अपने सामने अर्थी का

वृत्तान्त सुनना पसंद नहीं करते। याद रखिए, इस भारत-भूमि में कर्ण जैसे दानी हो गये कि जिनका नाम प्रातःकाल उठ कर हिन्दूमात्र सब से प्रथम लेता है और उज्जैन के राजा विक्रम का स्मरण भी ध्यानपूर्वक कीजिए, जो एक बहुत बड़े महाराजा हो गये और जिनके उत्तम राज्यशासन की साक्षी में उनकी प्रजा ने केवल एक ही उपाधि दी। वह यह थी "परदुखभंजनहार" जो अभीतक प्रत्येक हिन्दू के हृदय पर अंकित है।

८–टीका।

क्षत्रियों में एक बहुत बुरी प्रथा विवाह के समय टीका लेने की है। इसके होने से बहुतसे क्षत्रियों को बड़ी हानि पहुंची है और अब भी पहुंच रही है, पहले यह प्रथा राजपूताने में थी, अब यह क़रीब क़रीब सारे भारतवर्ष में फैल गई है यदि चाहे तो क्षत्रिय-समाज इसको आज ही बंद कर सकता है इसमें विशेष आपत्ति नहीं है केवल इतना ही है कि कन्या का पिता प्रसन्न होकर जो कुछ भी दहेज में दे, उसके लेने में आपत्ति न करना। उसको बाध्य करके टीका ठह-राना और लेना बहुत घृणित कार्य है। आशा है कि क्षत्रिय-समाज इस विषय पर पूरा ज़ोर देगा और इस बुरी प्रथा को उठा देगा। कई सज्जन महाशयों ने इस नियम का सुधार कर लिया है उनको धन्यवाद है और आशा करता हूं कि और भी उनका अनुकरण करेंगे।

६–कन्या-हत्या ।

एक सब से भयंकर कार्य जो क्षत्रिय कर रहे हैं वह यह है कि अपने हाथ से अपनी कन्याओं को मारते हैं। यह भयंकर पाप इनको संसार से उठा देगा। संसार में सभ्य जातियों में तो कहीं भी नहीं पाया जायगा परन्तु अफ्रीका आदि की महा असभ्य जाति में भी जो नग्न रहती है, सदा जंगल में रहती है, वह भी अपनी सन्तान को अपने हाथ से नहीं मारती, रावण के राज्य में राक्षस भी अपनी पुत्रियों को अपने हाथ से नहीं मारते थे। सोचलें कि अपन उनसे भी कितने गिरे हुए हैं, इस खोटे रिवाज को बन्द करने के लिए पूरी चेष्टा होनी चाहिए और इसके उपाय मुझ को दो प्रतीत होते हैं जो निवेदन करता हूं—पहिला यह कि जिन ग़रीब क्षत्रियों में अपनी पुत्रियों के विवाह करने की सामर्थ्य नहीं है, उनकी पुत्रियों का विवाह राज्यकोष से किये जाने का प्रबन्ध होना चाहिएं और दूसरा उपाय उनको सदुपदेश करने का है जिससे वे इस पाप से बच सकें। क्षत्रिय-जाति से प्रार्थना है कि इस विषय पर पूरा ध्यान दे और जहांतक सम्भव हो इसको बन्द करने का पूरा प्रयत्न करे।

क्षत्रिय-जाति के चरित्र-सुधार के विषय में मैं ऊपर लिख चुका, अब आर्थिक दशा पर विचार करता हूं।

आर्थिक दशा का सुधारना प्रत्येक जाति के लिए आव-

श्यक है न कि केवल क्षत्रियों के लिए। धनसंपन्न जाति हरएक प्रकार के उपाय कर सकती है। क्षत्रियों की आर्थिक दशा बहुत ख़राब है। जो कुछ ताक़तवर वा प्रबल हैं, वे अपने ग़रीब भाइयों के बचे हुए अर्थ को भी अपने में मिलाना चाहते हैं, उत्तम रीति से अर्थ कमाना नहीं सीखते भूसंपत्ति वाले भूमि को अनेक प्रकार से उपजाऊ करने का तरीक़ा नहीं जानते, आर्थिक दशा इतनी बिगड़ी हुई होने पर भी उत्तम भोजन, उत्तम वस्त्र और बढ़िया मकान की लालसा रखते हैं। यदि किसी के पास रुपया है तो वह उपयोगी काम में नहीं लगता और दूसरों को देख देख कर विना विचारे अपनी सामर्थ्य से बाहर रुपया लगा देते हैं और फिर उसका भार उनको बहुत बुरी तरह से सहन करना पड़ता है। विशेष क्या लिखूं, क्षत्रियों की आर्थिक दशा बहुत हीन है। जो द्रव्यसंपन्न हैं, उनका द्रव्य फ़िज़ूल कामों में लगता है और जिनके पास नहीं है उनको कष्ट है।

क्षत्रियों में सामाजिक दोष भी उतने ही बढ़ गये हैं, जितने उनमें व्यक्तिगत बहुतसे दोष हैं। दो क्षत्रिय एक स्थान पर बैठ कर समाज-सुधार की बातें नहीं कर सकते। किसी भी विषय पर परामर्श करना असंभव सा होगया है और जब एकत्र होते हैं तो दिखाऊ बातें होती हैं। सुधार बहुत कम देख पड़ता है, आडंबर से ही संसार को दिखाया जाता है कि हम भी सुधार कर रहे हैं, परंतु पर्दा उठा कर

देखा जाय तो न वह सुधार ही है और न वह सभा ही है। शास्त्रकारों ने (जो इसी जाति के हुए हैं) सभाओं के ये लक्षण कहे हैं—

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
न ते वृद्धा ये न वदंति धर्मम्।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति
न तत्सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम् ॥ १ ॥

वह सभा नहीं जिसमें ज्ञान, तपस्या, अनुभवयुक्त वृद्ध न हों, वे वृद्ध नहीं जो धर्म को न कहें, वह धर्म नहीं जिसमें सत्य न हो और वह सत्य नहीं जो छल (कपट) से भरा हो।

देखिए, आपके पुरुषों का गौरव, कितने विद्वान्, कितने न्यायकारी कैसे उच्चकोटि के नेता थे, जो संसार की सभाओं के नियम एक ही श्लोक में बांध गये। जिनको आज कोई भी सभ्य-जाति बदल नहीं सकती और यह श्लोक संसार में कहीं किसी भी समाज में क्यों न पढ़ा जावे, बेक़दरी नहीं हो सकती।

प्यारे क्षत्रियो! क्या आज हमारी सभायें इस नियम का अनुकरण करती हैं? इस श्लोक को पढ़ कर यह मानना पड़ता है कि हम केवल एक आडंबर मात्र कर रहे हैं और अपने पुरुषाओं से बहुत पीछे हैं। देखिये, संसार उन्नति कर रहा है, उसके साथ हमको भी उन्नति करनी

चाहिए, परंतु जाति में असली और दृढ़ जागृति हुए बिना उन्नति कहां ? और सत्य बिना ऊंचा मार्ग कहां ? क्योंकि यह सब आसान हो तो हरएक मनुष्य प्राप्त कर लेता। इसलिए पहले सत्य के सुनने का साहस चाहिए, पीछे उसके धारण करने की सामर्थ्य होनी चाहिए। जिसके लिए समाज को तथा समाज के नेताओं को अनेक प्रकार के कष्ट उठाने पड़ेंगे। श्री शंकराचार्य को हिन्दू-धर्म की रक्षा के लिए क्या क्या आपत्तियां झेलनी पड़ीं। यह उनके इतिहास से प्रतीत होता है।

क्या यह क्षत्रिय-समाज उनसे भी ज्यादा आपत्ति उठाने को कटिबद्ध है, तो ऊपर उठते कोई नहीं रोक सकेगा। क्योंकि–Winds and waves are always on the side of good sailors.

वायु और समुद्र की लहरें निपुण मल्लाहों के पक्ष में रहती हैं। क्षत्रियरूपी बहुत पुरानी नौका को बड़े और भयंकर समुद्र के पार लगाना कोई तमाशा नहीं है, क्योंकि समयरूपी समुद्र में बहुतसे मगर और भँवर पड़े हैं और प्रचंड वायु भी दिन रात इस नौका को डुबाने की चेष्टा में है।

हां, श्रीकृष्ण के उत्तम उपदेश को धारण करके यदि उपाय किया जाय तो फल अच्छा हो सकता है, क्योंकि उनके आश्रय में रहने से पांडव भी भयंकर समय को तर गए थे।

क्षत्रिय-जाति को सन्देश

भगवान् ने अर्जुन को उपदेश करते समय ऐसा कहा है कि क्षत्रिय वही है, जिसमें स्वभावसिद्ध ये गुण हों—

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं, युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ १ ॥

शूरता, तेज, धैर्य, चतुरता, युद्ध में न भागना, दान और समर्थ होना ये क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्म हैं ।

मुझे आशा है कि क्षत्रिय महानुभाव इस श्लोक में बताये हुए गुणों को अपने स्वभाव में लाने की पूरी चेष्टा करेंगे, क्योंकि इनके बिना उन्नति करना असंभव है ।

क्षत्रिय-जाति अनन्त समय से राज्य-शासन करती आई है, इसलिए भारत के क्षत्रियमात्र को राज्य-शासन के विषय को भली प्रकार सीखना चाहिए। इनको पोलिटिकल साइन्स की ख़ास शिक्षा मिला करे । छोटे छोटे ग्रामों में रहने वाले क्षत्रियों को भी बहुत ऊंचे दर्जे के राज्यशासन की शिक्षा मिलनी चाहिए, क्योंकि बिना शिक्षा के क्षत्रिय-जाति राज्य-शासन में भाग लेने के लिए तैयार नहीं हो सकती । इनको राज्यशासन के विषय से पूरी तरह से परिचित करना चाहिए और क्षत्रियों की कई सभायें देश में हुआ करें जिनमें राज्य-शासन पर अपना विचार प्रकट कर सकें ।

इसीलिए निवेदन करता हूं कि राज्य-शासन पर विचार करना क्षत्रिय-जाति के हित के लिए परमावश्यक है, क्योंकि बड़े से बड़े महाराजा व छोटे से छोटे भूमि-संपत्ति वाले

क्षत्रिय को अवश्य राज्य-शासन में अनिवार्यरूप से भाग लेना पड़ता है और विचार करना पड़ता है। हां, यदि इस समाज में उस विषय पर विचार न होगा तो इसका मतलब है कि बहुत समय से जो जाति राज्य-शासन के विषय को समझती आई है। उसे अब इस विषय पर विचार करने से वंचित किया जाता है और इस नियम का अब यह फल होगा कि जो कुछ भी थोड़ासा ज्ञान क्षत्रियों के मस्तक में राज्य-शासन का है, वह बिलकुल नष्ट होकर थोड़े समय में इस समाज से सदा के लिए जाता रहेगा।

दूसरी बहुत बड़ी बाधा इसमें यह है कि जो क्षत्रिय इस समय राज्य कर रहे हैं, उनके राज्य-शासन पर समालोचना क्षत्रिय-समाज से न की जाकर दूसरी संस्थाओं से की जाने का मार्ग खुल रहा है और जब क्षत्रियगण इस योग्य नहीं रहेंगे कि अपने राज्य-शासन को स्वयं निर्धारित कर सकें तो अवश्य ही दूसरी जातियां उनके राज्य-शासन को निर्धारित करेंगी।

क्या ही सुंदर तरीक़ा हो कि यदि भारत के कुल क्षत्रिय शासकगण अपने अपने राज्य-शासन को पक्षपातरहित होकर अपने ही समाज के सम्मुख रक्खें और उसके सुधार के लिए चेष्टा करें तथा इस बात की घोषणा करें कि कोई समाज हमारे राज्य-शासन में दोष निकाल सके तो हम उसे धन्यवाद देंगे और उसे अपना परममित्र समझेंगे।

"संसार में मित्र वही है जो दोष बतावे" हां ! यदि क्षत्रिय-समाज अपनी जाति को राज्यशासन से वंचित करना चाहें और भविष्य में उसको केवल व्यापारिक या अन्य किसी दशा में देखना चाहें तो उनके संमुख राज्य-शासन का विषय न रक्खा जावे। यह ठीक ऐसा ही है जैसे एक ब्राह्मण-कुल में पैदा हुए मनुष्य को विद्वान् ब्राह्मण बनाने का यत्न तो करना, परंतु यह कठिन नियम कर देना कि तुम पठन पाठन से बिलकुल वंचित हो। इसी प्रकार एक वैश्य को व्यापार और कृषि से रोक कर वैश्य बनाने की चेष्टा करना। यदि ऐसा ब्राह्मण, ब्राह्मण हो सकेगा और ऐसा वैश्य, वैश्य हो सकेगा, तो राज्य-शासन ज्ञान से शून्य क्षत्रिय भी क्षत्रिय हो सकेगा पर ऐसा नहीं हो सकता। कैसा आश्चर्य है कि क्षत्रिय राज्य-शासन तो करें, परंतु राज्यशासन प्रणाली पर विचार न कर सकें। मेरे विचार से तो क्षत्रियों का राज्य-शासन पर विचार करना परमधर्म है।

दिन रात संसार के परिवर्तन को देखते सुनते और ऐसे समाज में रहते हुए भी क्षत्रिय-जाति को अपनी हीनता का कुछ ज्ञान नहीं होता, हा! क्या इसका हृदय और बुद्धि इतनी दुर्बल होगई है कि दिन रात जिस राज्य-शासन से इसका काम पड़ता है उसके सुधार की चेष्टा न करे।

आजकल चौतरफ़ से क्षत्रियों के राज्य-शासन से असंतुष्ट होकर उसके सुधार किये जाने की बहुत ज्यादा पुकार की

आरही है और समाचारपत्रों द्वारा वा अन्य कई प्रकार से यह जानने में आता है कि क्षत्रियों के राज्यशासन से प्रजा को असंतोष है। ऐसे समय में क्षत्रिय-जाति का परम-कर्तव्य है कि राज्य-शासन-प्रणाली को बहुत ऊंचे सुधार पर लेजाने की चेष्टा करे और उस पर ऐसा सद्विचार किया जाय जिससे राज्य-शासन का पूरा सुधार होसके और जो त्रुटियां वर्तमान में होरही हैं, वे यथाशक्ति शीघ्र ही दूर करदी जायं, ताकि किसी को कुछ कहने का अवसर ही न मिले।

जिस स्थल में क्षत्रियों के हित के लिये कुछ कहा जाय, जिस पुस्तक में क्षत्रियों का ऐतिहासिक वर्णन हो उसमें चारणों के विषय में कुछ भी न हो तो जो कुछ भी कहा जाय सब फीका है। चारण जाति बहुत प्राचीन है। वाल्मीकीय आदि प्राचीन इतिहासों और पुराणों में इस जाति का विवरण मिलता है। क्षत्रियों के साथ इनका बड़ा स्नेह रहा है और समय समय पर इन्होंने क्षत्रिय-जाति के साथ बड़ी सहानुभूति दिखलाई है और बड़ा हित किया है। इस जाति में बड़े वीर, साहसी, सत्यवक्ता, भक्त और योगी हो गए हैं। सब से प्रथम मैं हृदय से बारम्बार श्री करणीजी को नमस्कार करता हूं जो कुछ वर्ष पहिले इसी चारण-जाति में महाशक्ति के एक बहुत बड़े अवतार हो गए जिनका प्रसिद्ध स्थान अभी तक बीकानेर रियासत में देशनोक नामी ग्राम में है और दूर देशों तक के मनुष्य

इनकी आराधना के निमित्त प्रतिवर्ष उस स्थान पर आते हैं। चारणों में जो मुख्य मुख्य प्रसिद्ध मनुष्य हुए हैं उनके कुछ नाम यहां अंकित करता हूं और जिस समय मेरी लेखनी इन नामों को लिखती है उस समय चारण-जाति के लिये मेरे हृदय में कितना स्नेह, उच्च भाव और कितनी भक्ति उत्पन्न हो जाती है उसको मैं ही जानता हूं।

राजपूताने के इतिहास से स्पष्ट है कि इस जाति में उत्पन्न हुए बहुमूल्य पुरुषों ने क्षत्रिय कुल का उपकार करने के निमित्त समय समय पर बहुत बड़े काम किये और इतने सत्यवक्ता, साहसी और निर्लोभी हुए कि महाराजाओं से लेकर साधारण क्षत्रियमात्र ने इनके साथ बड़ा प्रेम किया और इनको उच्च भाव से देखने लगे और महाराजाओं ने यह नियम किया कि चारण अदण्डनीय हैं, क्योंकि यदि सत्य कहने पर कठोर दण्ड मिले तो कहां तक सत्य कहा जाय। सत्य कहने पर जो दण्ड देता है वह महापाप का भागी होता है। सत्य कहने वाले मिलते हैं परन्तु सत्य सुनने वाले बहुत कम हैं। सत्य सुनना और धारण करना यह मनुष्य-शरीर में बहुत बड़ा गुण है और विशेषकर राजाओं में तो होना बहुत आवश्यक है परन्तु उनमें यह बहुत कम मिलता है, क्योंकि राज्यलक्ष्मी और शक्ति उनको सन्मार्ग से डिगा देती है। इसलिए बुद्धिमान् क्षत्रिय राजाओं ने चारणों के लिये यह नियम बना दिया कि

उनको सत्य कहने में कोई न रोके। चारणों ने समय समय पर बहुत बड़े बड़े राजाओं को चुने हुए शब्दों में अच्छी शिक्षाएं दी हैं जिनमें से एक या दो का यहां उल्लेख करता हूं:—

(१) संवत् १७६० के लगभग जयपुर महाराज सवाई जयसिंहजी और जोधपुर महाराज अभयसिंहजी पुष्कर स्नान को पधारे थे। वहां बारहठ करणीदानजी भी उपस्थित थे। दोनों महाराजाओं ने बारहठजी से आग्रह-पूर्वक कहा कि आज तो आप हम दोनों के विषय में कुछ साथ साथ ही कहें। सत्यवक्ता चारण करणीदानजी ने यह दोहा कह दिया जिससे कुंवर शिवसिंहजी के वध का जय-सिंहजी पर और महाराज अजीतसिंहजी को मारने का अपराध अभयसिंहजी व बखतसिंहजी पर प्रकट होता है। बारहठजी की सत्यभाषिता व महाराजाओं की क्षमा इस स्थान पर प्रशंसनीय है—

पति जयपुर जोधाण पति, दोनुँहि थाप उथाप।
कूरम मारिय डीकरा, कमधज मारिय बाप॥

जयपुर के पति और जोधपुर के पति दोनों की हीं कहां तक प्रशंसा करूं एक एक से बढ़कर है। कछवाहों के पति ने अपने पुत्र को मारा और राठौड़ों के पति ने अपने पिता को मारा।

(२) अपने पिता अजीतसिंहजी को मार कर संवत् १८०७ में महाराज बखतसिंहजी जोधपुर की गद्दी पर बैठे।

एक दिन बापो बापो कह कर घोड़े को बिड़दा रहे थे वहां ही कोई वीर चारण उपस्थित था उसने यह दोहा कह दिया। कवि का साहस व महाराज की क्षमा प्रशंसनीय है—

बापो मत कह बखतसी !, कांपत है केकांण।
एकर बापो फिर कह्यां, तुरँग तजै लो प्राण॥

हे राजा बखतसिंह ! तुम इस अश्व को बाप करके संबोधित मत करो क्योंकि यह कांप रहा है, इसके मन में यह भय हो गया है कि जब राजा बखतसिंह मुझको बाप बाप कहता है तो मेरी मृत्यु निकट आ गई है। इसलिये यदि एक वार फिर बाप करके कहोगे तो यह घोड़ा अपने प्राणों को त्याग देगा।

ऊपर लिखे दोनों दृष्टान्तों से चारणों की सत्य-वक्तृतारूपी वीरता में और समय समय पर अच्छे उप-देशक होने में कोई भी सन्देह नहीं रहता। परन्तु इस समय में चारण-जाति में ऐसे शरीरों का सर्वथा अभाव हो गया है। शायद इस जाति में क्षत्रियों के अधःपतन के साथ उनसे विशेष प्रीति होने के कारण अपना अधःपतन करना श्रेय समझ कर ऐसा किया हो, परन्तु हे चारण सरदारो ! यह आपकी भूल है क्योंकि जल में एक को डूबता हुआ देख कर दूसरा तैरने वाला मित्र ही उसकी सहायता कर सकता है, डूबने वाला नहीं। इसलिये यदि आप अपने मित्र क्षत्रिय-जाति का उद्धार करना चाहें तो

प्राचीन सभ्यता को धारण कीजिये और लोभ के पास भी न जाइये। यह सब कुछ मैंने इसलिये नहीं लिखा है कि आपको उपदेश करूं केवल आपके कानों तक मित्रभाव और स्नेह से पहुंचाने का साहस किया है। यदि अरुचिकर हो तो मुझे क्षमा कीजिये। चारण-जाति के श्रेष्ठ महानुभावों के नाम नीचे अंकित करता हूं और वर्तमान चारण सरदारों से विनयपूर्वक हाथ जोड़ कर प्रार्थना करता हूं कि आप अपने चरित्रों को आपके इन पुरुषाओं के चरित्रों से मिलान कर लें और निर्णय कर लें कि आप में और उनमें कुछ अंतर है वा नहीं:—

(१) बारहठ ईसरदासजी।
(२) ,, नरहरिदासजी।
(३) ,, आसोजी।
(४) ,, बांकीदासजी।
(५) ,, चैनरामजी।
(६) ,, विजयजी सुलतानी।
(७) ,, महादानजी मैहू।
(८) ,, शिवदानमलजी।

मैं ऊपर लिख चुका हूं कि क्षत्रियों में आपस का द्वेष बहुत है इसलिये जातिप्रेम और संगठन के विषय में भी कुछ लिख देना आवश्यक है इसलिए क्षत्रिय-जाति से टूटे फूटे शब्दों में निवेदन करता हूं। आपस का प्रेम और भ्रातृ-

भाव बढ़ाने से पहले, इस बात को जानना चाहिए कि आपस के द्वेष से हानि तो क्या है और आपस की प्रीति से लाभ क्या है ? जब इन दोनों बातों को अच्छी तरह से समझ लें तभी आपस की प्रीति बढ़ सकती है। मनुष्य की प्रकृति है कि वह सुख से रहने की इच्छा करता है और कोई भी यह नहीं चाहता कि मैं दुखी होकर रहूं, परन्तु सुख से रहने के साधन क्या क्या हैं इन को जबतक अच्छी तरह न समझ ले तब तक न वह साधन ही कर सकता और न वह सुखी होकर रह सकता है। क्षत्रियों को तो विशेष रूप से सुख के साधन समझने का प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि इन में द्वेष अधिक है और जब तक ये अपने द्वेष को न हटा देंगे तब तक किसी प्रकार से भी इन को सुख नहीं मिलेगा। संसार की जितनी जातियों ने उन्नति की है उन्होंने सब से पहले आपस में प्रीति और संगठन बढ़ाया है और जब तक उस जाति में द्वेष नहीं बढ़ा तब तक बहुत सुख से सब प्रकार से उन्नतिशील होकर संसार में रही है और संसार की अन्य जातियों की दृष्टि मे बहुत आदर का स्थान मिला है। परन्तु जब से जिस जाति में आपस का द्वेष फैला उसी समय से उस जाति का ह्रास और पतन प्रारम्भ हुआ और धीरे धीरे इतनी नीचे गिर जाती है कि हर समय तिरस्कार की दृष्टि से देखी जाती है, संगठन किस को कहते हैं यह समझ लेना चाहिए।

क्षत्रिय जाति को सन्देश

संगठन शब्द का अर्थ यह है कि सब का मिल कर एक हो जाना जैसे कि सरंगी और सितार में तार तो बहुत होते हैं किन्तु शब्द एक ही निकलता है। यदि क्षत्रिय-जाति अपना संगठन करना चाहे तो बहुतसी पुस्तकों और शास्त्रों में खोजने का परिश्रम छोड़ कर केवल गीता के १६ वें अध्याय का २१ वां श्लोक याद कर ले जिस का तात्पर्य यह है कि काम, क्रोध और लोभ ये तीन नरक के द्वार हैं इसलिए अपना नाश करनेवाले इन तीनों का त्याग करे। यदि क्षत्रिय-जाति पूर्णतया अपना संगठन करना चाहती है तो मेरे विचार से इस श्लोक का पूरा अनुकरण करे फिर संगठन होते और क्षत्रिय-जाति को सर्वोपरि जाते कोई नहीं रोक सकता। जब क्षत्रिय-जाति एक शरीर हो चुकी तो काम, क्रोध और लोभ को त्यागने में कोई बाधा नहीं पड़ेगी। मेरा अनुमान है कि बहुतसे सज्जन इसकी शंका करेंगे कि जब काम, क्रोध और लोभ का त्याग हो चुका तो फिर यह तो संन्यास का मार्ग हुआ। जाति की इससे क्या भलाई होगी, परन्तु ऐसा समझना भूल है। क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण ने हमको इस लोक और परलोक दोनों को सुधारने का उपदेश किया है, यदि वे ऐसा न करते तो अर्जुन को युद्ध में क्यों प्रवृत्त करते। भगवान् ने ७ वें अध्याय के ११ वें श्लोक में स्पष्ट कहा है कि काम और राग से रहित जो बलवानों में बल है, वह मैं हूं और

धर्म के अनुकूल जो प्राणियों में काम है वह मैं हूं। इस से यह स्पष्ट है कि गीता का आसुरी सम्पत्तिरूप काम, क्रोध और लोभ को छोड़ने का जो उपदेश है, वह केवल संन्यास-मार्ग का बोधक नहीं है परन्तु वह प्रवृत्ति-मार्ग में भी उतना ही काम करता है, जितना निवृत्ति-मार्ग में। क्षत्रिय-जाति संगठन करके जाति का एक शरीर मान कर किस प्रकार काम, क्रोध और लोभ को छोड़ सकती है और किस प्रकार इस जाति और देश का भला हो सकता है, इस को मैं सविस्तर आप के सामने लिखता हूं कृपा कर सुनिए।

गीता का श्लोक कहता है कि काम का त्याग करो। अब यहां पर यह विचार करना आवश्यक है कि काम किसको कहते हैं और क्षत्रिय-जाति कौनसे काम का त्याग करे, क़रीब क़रीब सभी शास्त्रों का यह मत है कि अनुचित काम का त्याग करो। क्षत्रिय-जाति के लिए अनुचित काम क्या है, बड़े धनाढ्य पुरुषों का विपयासक्त होकर आलस्य-वश होकर, निरुद्यमी होकर अपने धर्म याने फर्ज़े मन्सबी को भूल कर वा दूसरों के हाथ में देकर आप रोगी पुरुष की तरह परवश होकर अपने जीवनरूपी बहुमूल्य समय को व्यतीत किया करें यही क्षत्रिय-जाति का अनुचित काम है। इस को त्यागने से देश का धन एक ऐसे उत्तम मार्ग में लग सकता है कि जिससे प्रतिवर्ष एक हिन्दू-यूनिवर्सिटी

बनाई जा सकती है। जो द्रव्य हमारे धनाढ्य पुरुषों के नाच और गाने के सामान में, मकानों की शोभा बढ़ाने के काम में, मदिरा पीने के काम में बिना आवश्यकता भोजन वा भोजन की सामग्री और सजधज के वस्त्रों के लिए और विवाह आदि कामों में व्यय किया जाता है, वह धन यदि पाठशाला, अस्पताल, गोशाला और अनाथालय के काम में लिया जाय तो मैं निश्चय कर के कह सकता हूं कि क्षत्रिय-जाति बहुत जल्द ओज पर पहुंच सकती है। यदि यहां के धनाढ्य पुरुष विवाहोत्सव पर वा अन्य मौकों पर जितना असंख्य धन लगाते हैं, उसी को यदि वे बुद्धिमानी के साथ मेरे ऊपर बताये हुए कामों में लगावें तो यह बात निःसन्देह है कि भारतवर्ष में क्षत्रिय-जाति अच्छे गुणों को धारण करने में संसार की किसी जाति से पीछे नहीं रह सकती इसी को मैं काम कहता हूं और प्रार्थना है कि क्षत्रिय-जाति इस कामरूपी शत्रु को मार कर अपना बहु-मूल्य धन शुभ कामों में लगावे।

शायद यह शंका हो कि इन रईसों का वा धनाढ्य पुरुषों का जो धन अब आमोद प्रमोद के कामों में लग रहा है वह बंद करने से फिर उस धन का क्या होगा परंतु मैंने तो धनरूपी नाले के बंधा नहीं लगाया है केवल इतनी प्रार्थना करता हूं कि इस तरफ़ बहते हुए पानी को दूसरी तरफ़ बहा दीजिए आपकी पानी बहाने की आदत भी बनी

रहेगी और क्षत्रिय-जाति को स्वतः ही बहुत बड़ा लाभ होता चला जायगा मुझको यहां पर सर टी० मांधोराव के उत्तम उपदेशसूचक शब्द याद आते हैं। उन्होंने कहा था कि धन के प्रार्थना-पत्र आने पर, जो बहुधा राजाओं के सामने आया करते हैं, आमोद प्रमोद को आवश्यकता से दूसरा स्थान देना चाहिए जैसे कि एक थियेटर की कंपनी का याचनापत्र और अनाथालय का याचनापत्र एक साथ होने पर अनाथालय के याचनापत्र को प्रधानता देनी चाहिए। यदि हमारे राजे महाराजे, सरदार, सेठ, साहूकार वा अन्य हिन्दू-जाति के धनिक पुरुष इन वचनों की तरफ ध्यान देकर उनका पूरा अनुकरण करें तो उसका अपूर्व और उत्तम फल हो उसके लिखने की मेरी लेखनी में शक्ति नहीं। काम का विषय हो चुका अब क्रोध का विचार कीजिए।

क्रोध वह वस्तु है जो बुद्धि पर आवरण डाल कर सत् और असत् मार्ग को पहचानने की शक्ति को भ्रष्ट कर देता है। क्रोधी जाति कभी यह नहीं पहचान सकती कि इस समय मेरा यह कर्त्तव्य है। सिंह क्रोध का एक पुंज है, परन्तु सुसज्जित मनुष्य पर आक्रमण करके तत्क्षण प्राण खो देता है जो जाति क्रोध के वश होकर काम करती है उसको सफलता कहां, वह तो एक ऐसे गहरे खड्डे में गिरती है कि फिर बाहर निकलना असंभव है। क्रोध किस से पैदा होता है सो भी विचारिए—ईर्षा से क्रोध होता है।

और क्रोध से बुद्धि नष्ट होकर सर्वथा नाश हो जाता है। दूसरे को बढ़ा चढ़ा देख कर क्रोध मत कीजिए, क्योंकि इससे तो आपकी हानि है। यह वह शस्त्र है कि जो रखने वाले को मारता है। यदि आप किसी की बराबरी करना चाहते हैं तो अपने अवगुणों को देख कर उनका त्याग कीजिए। एक दिन ऐसा होगा कि जिससे आप ईर्षा करते थे उसके समान हो जाइएगा और शायद उससे भी बढ़ जाइएगा, क्योंकि ईश्वर का यह नियम है कि पुरुषार्थ का फल अवश्य मिलता है। क्षत्रिय-जाति के संगठन में क्रोध का त्याग अत्यावश्यक है।

लोभ—यह क्षत्रिय जाति के पीछे ऐसा प्रबल शत्रु है कि जिसका त्याग किये बिना इस जाति का संगठन होना बड़ा कठिन है। लोभ किसे कहते हैं यह समझना चाहिये। लोभ के त्याग से यह तात्पर्य न निकाला जाय कि भोजन और वस्त्र का भी त्याग कर दिया जाय। मेरा कथन केवल अनुचित लोभ पर है। याने वह लोभ कि जिसका त्याग न करने पर क्षत्रिय-जाति को हानि पहुंचेगी। क्षत्रियों में लोभ के कारण आपस में नित्य हज़ारों मुक़द्दमे देखे जाते हैं। इसी लोभ से इनको बहुत बड़ी हानि पहुंचती है।

मेरी समझ में मनुष्य का यह स्वभाव होता है कि वह दूसरे की नकल करके किसी काम को बहुत जल्दी सीख लेता है। परंतु हमारी क्षत्रिय-जाति तो हर समय और हर

मिनट अंग्रेज़ों के साथ रहकर उनकी नकल नहीं कर सकती। यदि क्षत्रिय-जाति अपना संगठन करना चाहती है तो उसके लिए अंग्रेज जाति से बढ़कर अपने लिए आदर्श बनाने को और कोई जाति नहीं मिल सकती। यदि तुम वैसा ही संगठन करना चाहते हो तो जैसा उन्होंने किया वैसा करो—

> उत्साहसम्पन्नमदीर्घसूत्रं
> क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम्।
> शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदं च
> लक्ष्मीः स्वयं याति निवासहेतोः ॥ १ ॥

उत्साहयुक्त, शीघ्र काम करनेवाले, करने की विधि को जाननेवाले, अव्यसनी, वीर, कृतज्ञ और दृढ़ मित्रता वाले पुरुष के पास रहने के लिए लक्ष्मी स्वयं जाती है।

देखिए, वीर बृटिश-जाति में कितना उत्साह है जिस दिन भारतवर्ष अपनी पूर्ण ओज पर पहुंच कर गिर रहा था। उस दिन बृटिश जाति के उत्थान का समय सामने आया। और इस वीर जाति ने अपनी वीरता, धीरता, चतुरता, निरभिमानिता का कैसा उत्तम परिचय दिया। जिसको सारा संसार देख रहा है और मान रहा है। विलायत से भारतवर्ष की तलास में जहाज़ों पर सामान रख कर ब्रिटेन के प्यारे और सच्चे वीर पुत्र ईश्वर का भरोसा करके महाभयंकर समुद्र में केवल अपने उत्साहरूपी घोड़े पर सवार

हो कर चल दिए और केवल दो बातों को सदा स्मरण करते रहे—

"God helps those that help themselves" and "Rule Britannia, Britannia rules the waves, Britons never never shall be the slaves."

"परमेश्वर उनकी सहायता करता है जो अपनी स्वयम् सहायता करते हैं।"

"बृटेनियां समुद्र पर राज्य करो, बृटेन कभी किसी के दास न बनेंगे।"

अमेरिका पहुंचे और भारत को वहां न पाकर दृढ़ संकल्प करके अन्त में तलाश कर लिया। देखिए, क्या यह उत्साह का बहुत बड़ा नमूना नहीं है भारत में आकर यहां की आपस की लड़ाइयां हिन्दू-जातियों पर धीरे धीरे शासन जमाया, मुसलमानों के जो आक्रमण हिन्दुओं पर होते थे उनको बन्द किया। बुद्धिमानी के साथ किसी के धार्मिक कार्य में हस्तक्षेप नहीं किया और प्यार और दृढ़ता से भरी राज्य-शासन की प्रणाली ने यहां की सदा लड़ने वाली जातियों को अपनी तरफ़ लुभा कर ऐसे खींच लिया जैसे चुंबक लोहे के छोटे टुकड़ों को खींच लेता है।

भारत की प्रजा ने बृटिश जाति के इस व्यवहार से संतुष्ट होकर उनकी प्रशंसा की और हम निश्चय से कह

सकते हैं कि यदि ईश्वर इस जाति को भेज कर भारत की सहायता न करता तो आज बहुतसे स्थानों में प्राचीन राज-मंदिर वा देवमंदिर दृष्टिगोचर नहीं होते। बृटिश ने भारत को जो सहायता दी वह सब पर भली प्रकार विदित है, मेरा विषय संगठन का है इसलिये अन्यत्र न जाकर बृटिश संगठन क्या है यही लिखूंगा। बृटिश संगठन का बड़ा उत्तम उदाहरण कुछ समय पहले जर्मन के साथ युद्ध हुआ सो है। प्रारंभ से अंत तक इस वीर जाति ने ऐसा संगठन किया कि जैसा कभी कभी आखेट के समय वन में भंवरमोह (मधुमक्खी) को छेड़ने पर देखने में आता है कि जो अपने प्रवल संगठन और वीरता से हाथी, सिंह, घोड़े, पशु और मनुष्य को भी विह्वल कर देता है। बृटिश जाति के संगठन का दूसरा उदाहरण और लीजिए—जब पेशावर में मिस एलिस पकड़ी गई तो बहुत शीघ्रता से मिसेस स्टार अपने शरीर को अर्पण करके उसकी तलास में गई। वहां के चीफकमिश्नर का अति शीघ्र उत्तम प्रबंध और सर्वोत्तम किंग जार्ज का मिसेस स्टार के नाम उसकी सफलता पर स्वागत करता हुआ तार, बृटिश जाति का जातिप्रेम और सहानुभूति, वीरता और चतुरता, दृढ़संकल्प वा उचित समय पर उचित काम करना, यह सब बातें भली प्रकार साबित करती हैं। किंग जार्ज को इतनी शीघ्रता से मिस एलिस के पकड़े जाने का समाचार पहुंचना और मिसेस स्टार की

सफलता पर किंग जार्ज का तार आना यह स्पष्ट करता है कि भारत गवर्नमेन्ट हर समय हरएक यूरोपियन की तात्कालिक सहायता करने में कितनी तत्पर रहती है। और बादशाह को अपनी जाति से कितना स्नेह है और वह समय समय पर अपने अफसरों की सफलता पर उसको प्रोत्साहित करने में नहीं चूकता। सत्य है, जहां राजा और प्रजा के स्नेह की कड़ियां इतनी जकड़ी हुई हों, वहां प्रतिदिन उन्नति क्यों न हो। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि किंग जार्ज का शरीर और बृटिश-जाति का शरीर एक है। जैसे कि मनुष्य के शरीर में पैर के अग्रभाग की अंगुली में यदि अति सूक्ष्म पिन गड़ा दी जाय तो तत्क्षण बिजली की तेजी से दिमाग़ को ख़बर पहुंचती है कि अमुक स्थान पर इतनासा कष्ट है। इसी प्रकार वीर बृटिश-जाति का शरीर संसार के कई भागों में फैला हुआ है और जब कभी अणुमात्र भी संकट दूर देश में पहुंचता है तब उस कष्ट की सूचना बादशाह के दिमाग़ में उसी क्षण पहुंच जाती है। फिर यथासमय सुप्रबंध और सहायता करने में और उपाय सोचने में बृटिश केबिनेट लेशमात्र भी आनाकानी वा दीर्घसूत्रिता नहीं करता। इसी सुप्रबंध और दृढ़ता के भरोसे बृटिश-जाति संसार में निर्भय विचरती है। जैसे कछुवा ध्यान द्वारा अपने अंडों को समुद्र-तट पर रख कर सेता है, उसी प्रकार बृटिश केबिनेट अपने जातिरूपी अंडों को देश देशांतर में सेती

२७

रहती है। क्या यह सब कुछ देख कर और सुन कर प्रति-दिन शिक्षा पाकर क्षत्रिय-जाति और विशेषतया हिन्दू-जाति अपने आलस्य को नहीं छोड़ेगी ?

हे क्षत्रिय-जाति ! क्या अब भी तुम्हारी नींद नहीं टूटी। क्या अब भी तुमको संगठन के लिए बृटिश-जाति के अति-रिक्त और किसी उदाहरण को अपने सामने रखने की आवश्यकता है। हा ! दुःख का विषय है कि जिस क्षत्रिय-जाति के पुत्र दिन रात आलस्यवश होकर रहें, मदिरा पीवें, दूसरों के गुण देख कर ईर्षा करें, लालच के वश होकर अपने धर्म को तृण समान समझ कर छोड़ें, अपने आपे में सब विद्याओं का भंडार समझें, साहस और बल न होने पर भी सब जातियों से श्रेष्ठ होने का दावा रक्खें, कुकर्म में पैर रखते हुए जिन्हें तनिक भी लज्जा न हो, सत्य, न्याय और धर्मसंयुक्त कार्य के करने में कदापि उत्साह न होना, सभा के बीच में बैठ कर बड़ी तेजी से यह इक़रार अवश्य करना कि अमुक काम बहुत उत्तम है, परंतु करने का समय निकट आवे उस समय महान् निर्लज्ज होकर केवल हँस कर बात टाल देना। जहां इन गुणों से भूषित क्षत्रिय-जाति के पुत्र हैं, वहां इनकी अपनी सफलता की क्या आशा। मुझे भय है कि बहुत दिनों तक साथ रहने पर कहीं बृटिश-जाति पर भी अपना प्रभाव न जमा दें। क्योंकि निरंतर एक साथ रहने पर एक दूसरे का प्रभाव एक

दूसरे पर अवश्य पड़ता है। भृंग बार बार गुंजार करके कीट को अपना स्वरूप देता है और गुण भी देता है, परंतु अभी तक बृटिश भृंग ने क्षत्रिय कीट पर कुछ भी प्रभाव न जमाया। शायद हमको भय है कि इस कीट के यह इंद्रिय न हों तो फिर भृंग की सफलता कहां। अस्तु, हमारी रंग-भूमि में दो जातियां कटिबद्ध खड़ी हैं, एक बृटिश और दूसरी हिन्दू। बृटिश चाहती है कि अपने समान हिन्दू-जाति को भी उत्तमोत्तम गुणों से अलंकृत करें, परंतु हिन्दू-जाति ने बहुत दिनों से वैराग्य लिया है इसलिए आभूषण पहरने में रुचि नहीं और उनको बार बार तोड़ कर फेंक देती हैं। परंतु बृटिश अपनी बहन को फिर पहनाती है, ईश्वर करे बृटिश की सफलता हो।

इतिहास राजस्थान

जयपुर राज्य निवासी चारण रामनाथजी रत्नू एक योग्य पुरुष हो गए हैं। सन् १८९२ ई० में आपने इतिहास राजस्थान नामक एक पुस्तक बनाई। उक्त इतिहास के अन्तिम भाग में क्षत्रिय जाति के गुण तथा अवगुण स्पष्टरूप से बतला कर उन्नति का मार्ग दिखलाया है। अतएव उसकी उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए मैं उसका यहां उल्लेख करता हूं और आशा करता हूं कि रुचिकर और लाभदायक प्रमाणित होगा।

इतिहास राजस्थान

पाठकगण ! अब यहां पर ग्रन्थ के अन्त में इस बात को जतलाना अवश्य है कि इतिहास ग्रन्थों का पढ़ना दूसरी बात है और उनके द्वारा अपने वा अपने सजातीय लोगों के गुण दोषों को जांच कर दोषों को छोड़ना और गुणों को धारण करना दूसरी बात है, परन्तु दोषों का छोड़ना तब ही बन सक्ता है जब कि मनुष्य दोषों को और उनसे होने वाली हानि को अच्छे प्रकार से जान लेवे, इसी प्रकार गुणों के लाभों को जानने से ही उनको धारण करने की आशा हो सकती है। इसी सिद्धान्त के अनुसार राजस्थान के इतिहास से शिक्षा उठाने की आशा से पिछले समय के क्षत्रियों के आचरणों पर जब दृष्टि डालते हैं तो यही सिद्ध होता है कि पिछले सहस्र वर्ष के समय में राजस्थान निवासी और विशेष करके क्षत्रिय लोग अवगुणों के एक अखूट भण्डार रहे हैं, उन अवगुणों को पहिचानना और छोड़ना वर्त्तमान समय के लोगों के लिये अवश्य है।

प्राचीन समय के लोगों को अवगुणों का अखूट भंडार बतलाने से मेरा यह प्रयोजन नहीं है कि उनमें कोई गुण-

वान् हुआ ही नहीं, परन्तु इस विशेषण के देने से यह प्रयोजन है कि प्राचीन समय में यहां के निवासियों में गुणवान् बहुत ही थोड़े हुए और अवगुण धारण करनेवाले इतने हुए कि लाचार होकर प्राचीन लोगों को अवगुणों का अखूट भण्डार कहना पड़ा, क्योंकि उनमें अवगुण ही बहुत थे जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि यदि ऐसा न होता तो इनकी स्वतन्त्रता क्यों नष्ट होती, क्यों सहस्रों कोश से आने वाले पठान, मुग़ल और अरब आदि लोग छोटी छोटी सेनाओं के साथ यहां इनके घर पर इन लोगों की असंख्य सेनाओं को परास्त करके अपना अधिकार जमाते, अधिक प्रमाण देने की कोई आवश्यकता नहीं है, यदि आंख मूंद कर योंही कहे जाने का हठ है कि हमारे पुरुषा तो इस संसार में सर्वोत्कृष्ट मनुष्य थे तब तो कुछ कथन बन ही नहीं सकता, परन्तु यदि कुछ समझ के साथ अपने पुरुषाओं के गुण दोषों का विचार करना चाहते हो तो सोचो कि प्रमार वंशावतंस महाराजाधिराज विक्रमादित्य के समय में यहां के लोगों की क्या दशा थी और मुसलमानों और मरहटों के राज्य में क्या दशा रही और यदि न्यायकारी गवर्नमेन्ट अंग्रेज़ी का आगमन न होता तो क्या दशा हो जाती। न्यायकारी और दयालु गवर्नमेन्ट अंग्रेज़ी के अधिकार में यहां के निवासियों को पूर्ण सुख होना चाहिये सो देखते हैं कि नहीं है, इसमें हम निधड़क होकर

कहते हैं कि यह गवर्नमेन्ट का कोई दोष नहीं है, इन्हीं लोगों के अवगुणों का फल है। गवर्नमेन्ट ने यहां के क्षत्रियों के सुधार के लिये जो कुछ कर्त्तव्य है सो सब कर रक्खा है तथापि जब तक ये लोग अपने पुरुषाओं के अवगुणों को न छोड़ेंगे कभी उन्नति नहीं कर सकेंगे, क्योंकि जबतक रोगी कुपथ्य का सेवन करता रहता है तबतक वैद्य का उपचार अवश्य निष्फल होता है।

सिद्धान्त यह है कि प्राचीन समय के क्षत्रियों में अवगुण विशेष रहे जो ज्यों के त्यों अब भी बन रहे हैं, उन अवगुणों को जतलाने से पहिले इस बात का लिखना भी आवश्यक है कि प्राचीन समय के क्षत्रियों में से कइयों में गुण भी बहुत थे विशेष करके मेवाड़ के शीशोदियों में, जिसका फल भी उन लोगों के लिये बहुत अच्छा हुआ, परन्तु जिस प्रकार प्राचीन समय में शीशोदियों में और उनके सरदारों में गुणों की विशेषता रही उसी प्रकार पिछले दो सौ वा डेढ़ सौ वर्ष में उन लोगों में और उनके सरदारों में प्रायः सब से अधिक अवगुण रहे इसलिये उस समय में मेवाड़ को ही सब से अधिक गिरना पड़ा। धन्य है अंग्रेजी गवर्नमेन्ट को जिसने आर्यों के सब से प्राचीन इस मेवाड़ के राज्य को और सम्पूर्ण राजस्थान को नष्ट होने से बचाया।

अब हम पिछले समय के क्षत्रियों के अवगुण और

उनसे जो हानि हुई उनको गिनाते हैं जिनको सोच विचार कर वर्त्तमान समय के क्षत्रिय छोड़ें, पीछे संक्षेप से पिछले समय के क्षत्रियों में जो बहुत उत्तम पुरुष हुए हैं उनको और उनसे जो लाभ देश को पहुंचे हैं उनको गिनावेंगे जिससे उन लोगों की सी उत्तम वृत्ति धारण करने से वर्त्तमान लोग गवर्नमेन्ट अंग्रेज़ी के सुखिया राज्य में उन्नति प्राप्त करें।

पिछले समय के क्षत्रियों के अवगुण।

प्रथम—यहां के निवासियों में सब से बड़ा अवगुण यह था और अब भी ज्यों का त्यों बना हुआ है कि जितना जिस पुरुष से अधिक निकट सम्बन्ध, उतनी ही अधिक उसकी बुराई चाहते रहना। सब से अधिक सम्बन्ध सहोदर भाइयों का है, दैवी रचना के अनुकूल उनमें अत्यन्त प्रीति और एक दूसरे के हानि लाभ में पूर्ण सहानुभूति होनी चाहिये, परन्तु राजस्थान के प्राचीन क्षत्रियों में दैवी रचना से ठीक प्रतिकूल वर्त्ताव रहा यहांतक कि यहां एक कहावत प्रसिद्ध हो गई सो यहां की बोली में इस प्रकार से है कि—म्हारी गायां गमी जिणांरो सोच नहीं पण जेठजीरी रह गई जिणांरो सोच है*। वाहरे देश! धन्य

* हमारी गायें खोई गईं जिसकी चिन्ता नहीं परन्तु जेठजी की नहीं खोई गई जिसकी चिन्ता है। यहां की स्त्रियां अपने पति के बड़े भाई को 'जेठजी' कहा करती हैं।

है तू ! जहां इन सिद्धान्तों के अनुसार कार्य हुआ करते थे और अब भी होते हैं, ध्यान देकर देखें तो आज राजस्थान के घर घर में यही दशा है, जितना जिससे निकट सम्बन्ध उतनाही उससे वैर और जितना जिससे दूर का सम्बन्ध उतना ही उससे प्रीति, जिससे कुछ सम्बन्ध नहीं वह क्लेश भी दे तो उससे प्रीति रखते और घर वालों से सुख देने पर भी अभागे पूर्ण वैर भाव रखते। जो वर्त्ताव घर में सो ही देश में—यहां के निवासी स्वदेशीय योग्य मनुष्यों से द्वेष रख कर विदेशीय मुसलमानों से प्रीति करने को दौड़े उन्होंने अपने देश के योग्य मनुष्य को, जो उनको सब प्रकार से सुख देता, कुछ सहायता न दी, वरन् आगे होकर अपने परम शत्रु मुसलमानों को सहायता देकर उसकी उन्नति को रोका जिसका दृष्टान्त इस इतिहास में पहले तो मेवाड़ के प्रसिद्ध महाराणा संग्रामसिंहजी को सलैदी तंवर ने धोखा दिया सो है, उन वीर और बुद्धिमान् महाराणा ने बहुत बुद्धिमानी के साथ भारतवर्ष में से मुसलमानों के निकालने का उद्योग किया था, उनका उद्योग प्रायः सफल हो ही गया था, परन्तु सलैदी के हृदय में यह दुष्ट बुद्धि आई कि बाबर के परास्त होने पर महाराणा संग्रामसिंहजी भारत के स्वामी हो जायँगे और मुझको इनके आधिपत्य में रहना पड़ेगा, यह सोच उस पापात्मा ने आर्य-कुल-कमल-दिवाकर महाराणा संग्रामसिंहजी के

आधिपत्य में रहना तो बुरा समझा और म्लेच्छ वंशोद्भव गो-ब्राह्मण और वेद-धर्म को नष्ट करने वाले बाबर के आधिपत्य में रहना भला समझा; सलैदी ने ठीक युद्ध के समय महाराणा संग्रामसिंहजी को धोखा दिया और मुग़लों के राज्य में आर्यों पर जो जो अत्याचार हुए उन सब का पाप अपने सिर पर उठाया। दूसरे दृष्टान्त का समय मेवाड़ के सुप्रसिद्ध महाराणा प्रतापसिंहजी के राज्य का है, उस समय के राजपूताना के राजाओं की दुर्बुद्धि को देख कर एक बालक को भी हंसी आ सक्ती है, जिन्होंने सूर्यवंशावतंस महाराणा प्रतापसिंहजी को छोड़ कर अकबर के आधिपत्य में रहना स्वीकार किया उन राजा महाराजाओं की बुद्धि के विषय में क्या कहें? इसमें कुछ सन्देह नहीं है कि कुकर्म का फल लगे विना नहीं रहता, अकबर और उसकी संतान ने यहां के राजाओं के साथ जो वर्त्ताव किया सो जगद्-विख्यात है जब उन अत्याचारों का स्मरण होता है तो लेखनी लिखने से रुक जाती है। हे राजस्थान निवासियो! टुक सोचो तो सही कि बूंदी के महाराजा सुर्जनसिंहजी ने, जिन पर महाराणा साहब का पूर्ण विश्वास था, विश्वासघात करके रणथंभोर का प्रसिद्ध दुर्ग अकबर को दे अपने संबंधी महाराणा प्रतापसिंहजी के आधिपत्य में से निकल कर अकबर के आधिपत्य में होने से चिरस्थाई अपकीर्ति के विना और कौनसा लाभ उठाया? क्या अच्छी बात होती यदि

आंबेर के महाराजा मानसिंहजी काबुल, पंजाब, बंगाला, उड़ीसा और गुजरात को जीत कर अकबर के स्थान में स्वयं अपने ही लिये वा अपने सम्बन्धी महाराणा प्रतापसिंहजी के लिये एक राज्य में मिलाते, यदि अकबर के पादसेवी न बनते तो क्या आवश्यकता थी कि उनके सच्चे उत्तराधिकारी महाराजा महासिंहजी आंबेर की गद्दी से वंचित रहते और क्यों आंबेर के राज्य में वह घरु बखेड़ा उठता जो मिर्जा राजा जयसिंहजी के गद्दी बैठने पर शान्त हुआ। उन्हीं दिनों में बीकानेर के प्रसिद्ध महाराजा रायसिंहजी ने आर्यों और विशेष करके अपने राठोड़ वंश के प्रतिपक्षी हो अकबर के पादसेवी बनने में अपने को धन्य समझा और मुग़लों के साथ हो राठौड़ों के हाथ से सहस्रों राठौड़ों के मरवाने में ही अपनी अखण्ड कीर्ति समझी। धन्य री समझ, दूरदर्शिता और बुद्धिमानी इसी का नाम है, तीन वर्ष तक नाममात्र को जोधपुर के महाराजा कहलाने के लिये रायसिंहजी ने यह निन्दनीय कर्म किया। पश्चात्ताप का विषय है कि रायसिंहजी और वे तीन वर्ष तो चले गये परन्तु रायसिंहजी की उस चाल से राजपूतों पर और विशेष करके स्वयं उनके राठौड़ वंश पर जो जो मुग़लों के अत्याचार हुए सो सन्ताप सदा के लिये राजस्थान निवासियों के हृदय पर बना रहेगा। जोधपुर के महाराजा उदयसिंहजी को अपने पिता मालदेवजी की आज्ञानुसार छोटे भाई

चन्द्रसेनजी के हाथ में मारवाड़ का राज्य देने से अपने पुरुषा श्री रामचन्द्र महाराज की सी वा शीशोदियों की चूंडावत शाखा के पुरुषा चूंडाजी की सी अखण्ड कीर्त्ति प्राप्त करने का अवसर मिल गया था; परन्तु पन्द्रहवीं शताव्दी के कुलद्रोही क्षत्रियों से ऐसा कब होना था, अकबर के पादसेवी बन सहस्रों राठोड़ों को परस्पर मरवा कर वीर चन्द्रसेनजी के स्थान में उदयसिंहजी आप मारवाड़ के राजा बने और राजमद में आकर उन अत्याचारों में फंसे कि जिनके कारण से राजस्थान निवासी उनके नाम लेने में पाप समझ कर उदयसिंहजी के स्थान में उनको केवल मोटा राजा के नाम से बोलते हैं, यदि जोधपुर का राज्य हाथ न लगता तो यह चिरस्थाई अपकीर्त्ति तो पल्ले न बंधती, निदान कहां तक लिखें उस समय प्रायः सब राजाओं की बुद्धि इसी प्रकार की हो रही थी।

यहां पर यदि कोई यह कहे कि अकबर की सामर्थ्य उस समय बहुत प्रबल थी यदि ये राजा लोग उसकी आधीनी स्वीकार न करते तो अवश्य इनके राज्य नष्ट होजाते इसलिए मुग़लों के आधिपत्य में होने का काम उन्होंने ठीक ही किया अनुचित नहीं; उत्तर इसका यही है कि यदि राजस्थान के सब राजा परस्पर में मेल करके किसी एक योग्य राजा को अपना मुखिया बना कर सच्चाई के साथ तन, मन और धन से अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करने को तत्पर होते

तो क्या सन्देह है कि ईश्वर उन्हें अकबर को परास्त करने में सहायता न देता; महाराणा प्रतापसिंहजी ही इसमें उत्तम उदाहरण हैं जैसा उन्होंने साहस किया वैसा ही ईश्वर ने उनको सहायता दी, देखना चाहिये फ्रान्स जैसे प्रबल देश के आगे प्रूशिया, सैक्सनी, बवेरिया और वर्टिम्बर्ग आदि जर्मनी के छोटे छोटे राज्य क्या वस्तु हैं; परन्तु जब से वहां के सब राजाओं ने अपनी निर्बलता और शत्रु की प्रबलता को देख कर परस्पर में शुद्ध अन्तःकरण के साथ मेल कर के प्रूशिया के बादशाह को अपना मुखिया अर्थात् जर्मनी का सम्राट् बना कर उन्नति चाही है तब से जर्मनी की दशा कुछ से कुछ होगई है; पहिले फ्रान्स से जर्मनी को भय था अब जर्मनी से विचारे फ्रान्स को भय है; वरन् आज दिन जर्मनी भूमण्डल में एक बहुत प्रबल राज्य है; यदि राजपूत लोग भी महमूद ग़ज़नवी वा शहाबुद्दीन मोहम्मदगोरी वा पठान बादशाहों की राजपूताना की चढ़ाइयों के दिनों में वा बाबर के भारतवर्ष में आने के समय वा महाराणा प्रताप-सिंहजी और अकबर की लड़ाइयों के दिनों में जर्मनी का सा बर्त्ताव करते तो क्यों सातसौ वर्ष तक मुसलमानों के अत्याचार सहते कि जिनसे अब ईश्वर-कृपा से बृटिश गवर्नमेन्ट के अधिकार में छुटकारा पाया है, परन्तु राजपूत लोगों ने सहस्रों वर्ष से विपरीत वर्त्ताव धारण कर रक्खा है; महमूद ग़ज़नवी के समय में फूट रक्खी; शहाबुद्दीन के समय में

पृथ्वीराजजी चौहान और जयचन्दजी राठौड़ ने परस्पर के द्वेष से भारत को दुःखसागर में डुबोया, बाबर और अकबर के समय में यहां के राजाओं ने जो बुद्धिमानी और दूरदर्शिता दिखलाई उसका सविस्तर वर्णन लिखा ही गया है; अब हमको इस बात के कहने में कोई सन्देह नहीं है कि पिछले सहस्र वर्ष में राजपूतों की यही इच्छा रही कि हमारे शिर पर हमारी जाति वा हमारे देश का मनुष्य अधिकारी न रहे विदेशी भले ही रहे चाहे वह अच्छा हो चाहे बुरा, चाहे सुख दे चाहे दुःख और क्योंकि राजपूत यहां के राजा थे सो यथा राजा तथा प्रजा, राजपूतों की नाईं यही वर्ताव यहां के सब लोगों ने धारण किया परन्तु जिन लोगों का ऐसा वर्ताव होता है उनको फल भी तो वैसा ही मिलता है जैसा कि राजस्थान वा भारत को मिला। यह अवगुण अब भी यहां के निवासियों में विशेष करके क्षत्रियों में ज्यों का त्यों बना है; जबतक इस अवगुण को न छोड़ेंगे कभी उन्नति न कर सकेंगे इसलिये सम्पूर्ण राजस्थान निवासियों से हमारी यही प्रार्थना है कि शीघ्र इस दुष्ट बुद्धि को छोड़ें अपने भाई बन्धु और स्वदेशियों को दूसरा न समझें यदि यहां के लोगों में से किसी की उन्नति हो तो उससे ईर्षा और डाह न करें वरन् उसको अपनी ही उन्नति समझ कर आनन्द मनावें और बृटिश गवर्नमेन्ट को धन्यवाद देवें कि जिसके अधिकार में हम लोगों को ऐसा सुख मिल रहा है।

दूसरा बहुत बड़ा अवगुण यहां के निवासियों में, विशेष करके क्षत्रियों में, एक पुरुष के लिये बहुतसे विवाह करने और पासवान रखने का था; जब उन हानियों की ओर दृष्टि करते हैं, जो इस बुराई से राजस्थान को पहुंची हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है कि इसी बुराई से यह देश दुःखसागर में डूबा; न जाने किस बुद्धि के मित्र ने यह प्रथा चलाई थी; जितनी स्त्रियां एक राजा वा ठाकुर के हुआ करती थीं उनके परस्पर के वैर विरोध और रात दिन के कलह की तो कथा ही क्या थी, परन्तु उनके पुत्रों में और उनके पीहर वालों में अनायास बहुत ही वैर और विरोध फैल जाया करता था। न जाने कितने राजा महाराजा अपनी महाराणियों के, उनके पुत्रों के वा उनके पीहर वालों के हाथ मारे गये हैं; राजस्थान के इतिहास में इसके अनेक उदाहरण मिल सकते हैं; मेवाड़ के सुप्रसिद्ध महाराणा संग्रामसिंहजी के विषय में "कर्नल जेमस टाड" साहब सन्देह करते हैं कि उनकी एक महाराणी की सम्मति से उनको विष दिया गया था; चारण सूर्यमल्लजी अपने बहुत ही प्रामाणिक ग्रन्थ वंशभास्कर में लिखते हैं कि मेवाड़ के महाराणा राजसिंहजी को एक महाराणी ने अपने पुत्र को गद्दी मिलने के लोभ से विष देना चाहा था; परन्तु भेद के खुल जाने से राणी मारी गई महाराणा साहब बचे; पाठकगण ! टुक सोचो तो सही कि दुष्ट औरङ्गजेब के समय में राजस्थान में राजसिंहजी

जैसा वीर, बुद्धिमान् और दूरदर्शी राजा न होता तो क्या अचम्भा है कि राजस्थान में से राजपूत नष्ट न होजाते विशेष करके राठौड़ और शीशोदिये कि जिन दोनों जातियों पर उस क्रूर की बहुत ही डाढ़ थी। राजा महाराजाओं के उपरान्त राजकुमार इस बुराई के कारण इतने मारे गये हैं कि उनकी संख्या करना कठिन है। जिस राजा के पृथक् पृथक् राणियों से दो तीन वा अधिक पुत्र हुये उनमें से यदि ज्येष्ठ पुत्र की माता राजा की प्रीति से गिर गई वा परलोक को सिधार गई तो उसकी सपत्नी ने, जो राजा की कृपापात्र हुई, अपने पुत्र को गद्दी दिलाने के लिये पाटवी राजकुमार को अवश्य मरवाया; बहुतसी राणियां ऐसी दुष्ट स्वभाव हुई हैं कि उन्होंने पाटवी न होने पर भी सपत्नी के पुत्रों को अपने पन्जे में फंसे हुए पति के हाथ से वृथा ही मरवाया है कहां तक इसका विस्तार करें, जब आँबेर के सुप्रसिद्ध और परम विद्वान् महाराजा सवाई जयसिंहजी के हाथ से भी उनके पाटवी कुँवर शिवसिंहजी छोटे पुत्र ईसरीसिंहजी को गद्दी विठाने के लिए मारे गये तो अन्य विना पढ़े लिखे राजाओं की तो कथा ही क्या है। इस के उपरान्त सौतेले भाइयों के प्रीति विरले ही स्थान में रही है शेष सदा लड़ते भिड़ते रहे हैं जिस कारण बाहर के मुसलमानों को वा मरहठों को यहां पर आकर अधिकार जमाना बहुत ही सुगम हुआ इस में ढूंढाड़ के महाराजा ईसरीसिंहजी

और उनके छोटे भाई महाराजा माधवसिंहजी का उदाहरण ही विचारने योग्य है।

पासवान और खवासों का रखना और भी हानिकारक हुआ, मेवाड़ के इतिहास में महाराणा लाखाजी के खवासनियां पुत्र चाचा और मेरा ने जो अकर्म किया सो सब लोग भली प्रकार जानते हैं; उससे भी अधिक बुराई महाराणा सांगाजी के छोटे भाई पृथ्वीराजजी के खवासनियां पुत्र बनवीर ने की जो महाराणा विक्रमादित्यजी को मार कर स्वयं गद्दी बैठा। मारवाड़ में महाराजा विजयसिंहजी की कृपापात्र पासवान ने जो हानि मारवाड़ को पहुंचाई सो प्रसिद्ध है; उस दुष्टा के हठ, आग्रह और महाराजा विजयसिंहजी के उसके वशीभूत होने से मारवाड़ के राजकुल के इतने राजकुमारों के प्राण गये कि महाराजा मानसिंहजी के परलोक सिधारने पर महाराजा तख्तसिंहजी अहमदनगर से गोद आये, इसके उपरान्त उसी पासवान के कारण राठौड़ों में वे घरू बखेड़े उठे जिनके द्वारा गवर्नमेन्ट बृटिश का राजस्थान पर आधिपत्य होने के समय तक मरहठे और मीरखां मारवाड़ की प्रजा के रुधिर को जोंक की नाईं पीते रहे, महाराजा और उनके सरदारों में परस्पर विरोध होने का कारण भी वही पासवान थी। अलवर में बख्तावरसिंहजी बहुत उत्तम और बुद्धिमान् राजा हुए, परन्तु उन्होंने भी अपनी पासवान मूसी के पेच में आकर अलवर राज्य

के नष्ट होने की नींव देकर अपनी बुद्धि के बट्टा लगाया। यदि उन दिनों में भारत पर बृटिश गवर्नमेन्ट का अधिकार न होता तो क्या सम्भव है कि अलवर का राज्य बना रह जाता, फ़िर भी जबतक मूसी का पुत्र बलवन्तसिंहजी जिया तब तक बखेड़ा चला ही किया। इसलिये उचित है कि यहां के क्षत्रियों को सुधरने की इच्छा हो तो वे लोग एक ही स्त्री ब्याहने का नियम लें, बहुत विवाह करना छोड़ें और पासवानों को पास न आने दें।

हे बहुत विवाह करने वाले और पासवान रखने वाले क्षत्रियो! एकान्त में बैठ छाती पर हाथ धर अपने दुःखों का विचार करो फिर हमारे इस लिखने को जांचो कि ठीक है या नहीं यदि ठीक है तो आप लोग कृपा कर के अनुभव किये हुए दुःखों को जतला कर अपने भाइयों को इस दुःख में पड़ने से बचाओ, देखिये दयालु गवर्नमेन्ट अंग्रेज़ी आप लोगों को ऐसे बुरे काम करने में कितना कुछ रोकना चाहती है परन्तु गवर्नमेन्ट के उपाय तब ही सफल होंगे जब आप लोग सच्चे मन से उस बुराई के छोड़ने में पूरा पूरा उद्योग करेंगे।

तीसरा दूषण यहां के क्षत्रियों में यह था कि कई लोग इनमें ऐसे घमण्डी थे और अब भी हैं जो अपने को उच्च कुल के समझ कर अपने बहुतसे भाई और सम्बन्धियों को नीचे कुल के समझने लगे थे। जिस क्षत्रिय के मा

और बाप दोनों शुद्ध कुल के हों उनसे बढ़ कर कौन क्षत्रिय है जो अधिक कुलीनता का घमंड कर सकता है; हां, यदि एक थोड़ी भूमि का स्वामी है और दूसरा अधिक का तो इस दशा में उनके अधिकार में अन्तर है न कि उनकी जाति वा कुलीनता में; परन्तु क्षत्रियों में यह विषय यहां तक बढ़ा कि शीशोदिया, कछवाहा, राठौड़, भाटी और चौहान आदि प्रत्येक वंश में कई कई शाखा ऐसी होगईं जिनको समस्त साधारण भी उनके भाइयों की अपेक्षा उत्तम समझने लगे; इसका परिणाम यह हुआ कि एक वंश के प्रत्येक क्षत्रिय ने अपनी पुत्री का सम्बन्ध दूसरे वंश की उस शाखा में करना चाहा जो सब लोगों की दृष्टि में उत्तमतर ठहर चुकी थी।

जब कन्या के पिता की ओर से वर के पिता को सम्बन्ध के लिये कहलाया जाता तो वह यह समझ कर कि मैं उत्तम कुलवाला हूं इतना द्रव्य मांगता जिसका देना कन्या के पिता की सामर्थ्य से बाहर होता; परन्तु कन्या के पिता को इतनी बुद्धि नहीं होती कि शुद्ध कुल क्षत्रियों में उत्तमता और हीनता कैसे बन सकती है; जिनके उभयपक्ष शुद्ध हों केवल वे ही क्षत्रिय, क्षत्रिय कहलावेंगे और जिनके दोनों पक्षों में से कोई सा भी पक्ष हीन हो तो वे क्षत्रिय कहला भी नहीं सकते, क्योंकि वे लोग खवासनियें कहलाया करते हैं। निदान कन्या का पिता जिस किसी प्रकार से अपने

ठिकाने को ऋण में डुबो कर किसी माने हुये उत्तम कुल में अपनी पुत्री का सम्बन्ध करता; कुलीन वर टीके में दिये हुये बहुतसे धन पर सन्तोष न करके विवाह के पीछे अधिक धन लेने के लिये अपनी स्त्री के माता पिता से और स्वयं उससे वृथा रुष्ट होजाता और अपनी स्त्री को अनेक प्रकार के कष्ट देता जिनको देख कर स्त्री के माता पिता अपने बूते से बाहर धन देकर उसको प्रसन्न करते, यदि वे ऐसा न करते तो वह झटपट ही दूसरा विवाह कर लेता जिससे पूर्व स्त्री को जन्मभर का दुःख होजाता। इन बुराइयों का परिणाम यह हुआ कि बहुतसे क्षत्रिय लोग अपनी पुत्रियों को जन्मते ही मार डालने लगे। विशेष करके वे जिनको यह आग्रह हुआ करता था कि हम तो अमुक शाखा के क्षत्रियों को ही अपनी पुत्री दें अन्य किसी को नहीं। जिस कुल में वे लोग अपने पुत्र का विवाह करते उस कुल में अपनी पुत्री का विवाह करना अनुचित समझा करते थे; उनकी सन्तान भी युवा होने पर पितृकुल की अपेक्षा मातृकुल को हीन समझा करती; धन्य! क्या बुद्धि थी। अब भी उन लोगों की ऐसी ही बुद्धि है जो अपने मातृकुल और पितृकुल को भेददृष्टि से देखते हैं। यदि पिता उच्च कुल का है और माता नीच कुल की तो वे महाशय शुद्ध कुल के क्योंकर ठहर सकते हैं; इस बात को ठीक ठीक न समझने के कारण से ही तुरन्त जन्मी हुई निर्दोष कन्याओं को मारने के घोर पाप में फंसे कि जिसके लिये

कोई बड़ा से बड़ा प्रायश्चित्त भी ठीक नहीं ठहर सकता, क्या इस पाप से बढ़कर कोई और भी पाप इस संसार में बन सकता है? नहीं नहीं, कदापि नहीं, हमारी समझ में इसी पाप के फल से ये लोग नष्ट हुये। इस बात के लिखने से हमको बहुत ही आनन्द है कि हमारी परमदयालु अंग्रेज़ी गवर्नमेंट ने राजस्थान में से क्या सम्पूर्ण भारतवर्ष में से इस बुराई को निर्मूल कर दिया है; ईश्वर करे "वृटेन" के अधिकार में क्षत्रियों की और और बुराइयां भी इसी प्रकार निर्मूल होजायँ जिससे क्षत्रियों को अखण्ड सुख और "वृटेन" को एक गिरे हुये राजकुल को उन्नति देने का अखण्ड यश प्राप्त हो।

चौथा दूषण क्षत्रियों में चोरी, धाड़ा और लूट मार करने का था—

> क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः।
> क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः॥
> राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः।
> प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा॥

कहां क्षत्रिय शब्द का यह अर्थ और कहां इन लोगों का उससे ठीक विपरीत वर्ताव; क्षत्रियों का काम यह था कि अपनी प्रजा को अथवा निर्बल और निरपराधीमात्र को यदि कोई प्रबल अन्याई लूटे खोसे वा पीड़ा दे तो उसकी रक्षा करें। जब तक क्षत्रियों ने इस धर्म को निभाया बहुत

प्रतापी और स्वतन्त्र बने रहे; भूमण्डल भर में नामी रहे किसी का मन इनके दबाने को नहीं बढ़ा और यदि किसी ने मूर्खता से ऐसा उद्योग किया तो उसके दांत भले प्रकार से तोड़ दिये गये, परन्तु शोक है उस दिन के लिये जब कि राजकुलावलम्बी प्रजारक्षण बुद्धि ने क्षत्रियों में प्रजापीड़न रूपी विपरीत बुद्धि का प्रादुर्भाव देखकर इन लोगों से बिदा होने का नमस्कार किया। यदि इस बात पर पूरा पूरा विचार किया जाय कि ईश्वर ने वा मनुष्यों ने राजकुल को क्यों बनाया, अवश्य सिद्धान्त यही निकलेगा कि केवल प्रजा की रक्षा करने के लिये। परन्तु "बाड़ ही खेत को खाय" इस कहावत के अनुकूल प्रजा के रक्षक ही जब उसके धन, धरा और धाम को लूटने, खोसने और दबाने में तत्पर हुये तो उन दीनों के दुःख का क्या पता था। यहां के क्षत्रियों ने यह सिद्धान्त ठहरा लिया था कि राजपूत की जीविका ही लूट मार करने की है इसीलिये जिन राजपूतों ने इसमें अधिकता की उन्होंने अपने को बड़ा उत्तम क्षत्रिय माना यह न सोचा कि इस कर्म के द्वारा क्षत्रियों से सहस्रों कोश दूर पड़ कर विद्वानों में मेरी बटमारी करनेवाले भीलों के साथ गणना की जायगी, यह अकर्म क्षत्रियों में यहांतक बढ़ा कि कई ठाकुर लोग अपने ही ग्राम में किसी धनाढ्य प्रजा के घर रात को मीणों के हाथ चोरी करवा लेते और प्रातःकाल चोरों का पता लगाने के झूठे परिश्रम में तत्पर होते—धिक्कार! क्या

ऐसे पुरुष क्षत्रिय वा राजपूत नाम के अधिकारी हो सकते हैं, नहीं नहीं, कदापि नहीं। प्रबल अन्याई राजपूत शस्त्रों से सज्जित हो अश्वों पर चढ़ कर निकलते—प्रजा की रक्षा करने के लिये नहीं, उनका धन और प्राणों को हरण करने के लिये—और दीन वणिकों को लूट लेते जो बीसों वर्ष अपने माता पिता बालक और प्रिय भार्या का वियोग सहते हुए विदेश में रह कर परिश्रम के साथ कुछ द्रव्य कमा के इस आशा से पीछे लौटते कि घर पहुंच कर सुख से इस द्रव्य को खायंगे। क्या कोई मनुष्य उन वणिकों के दुःख का अनुभव कर सकता है? हमारी समझ में केवल वही पुरुष इस का अनुभव कर सकता है जिसका आयु भर का बहुत कष्ट से उपार्जित द्रव्य घर के निकट पहुंचने पर छीना जाय; अन्य किसी को इसका अनुभव नहीं हो सकता। कहीं कहीं ये लुटेरे राजपूत लोग वणिकों वा पथिकों का केवल धन ही नहीं लूटते वरन् धन के साथ ही उन दीनों के प्राण भी हर लेते इस दशा में उनके कुटुम्ब को जो दुःख होता उसको जतलाने की हमारी लेखनी में सामर्थ्य नहीं। यदि कोई हमसे पूछे कि क्या उन दीन दुखियारों की पुकार सुनने वाला कोई नहीं था? तो हम उत्तर देते हैं कि क्यों नहीं घटघटान्तर्यामी सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ने उनकी पुकार को सुना और यह उन्हीं करोड़ों दुखिया लोगों की पुकार का ही परिणाम है

कि जगदीश्वर ने राजस्थान से सहस्रों कोश दूर एक छोटे से टापू में सच्चे क्षत्रियों के गुण धारण करने वाली एक जाति खड़ी की जिसने उसी परमात्मा की प्रेरणा से संवत् १८७४ में राजस्थान पर अपना आधिपत्य जमाया न कि मुग़लों और राजपूतों की नाईं प्रजा को पीड़ने के लिये परन्तु सच्चे क्षत्रियों की नाईं प्रजा को दुःख और अन्याय से छुड़ाने के लिये। हमारी समझ में यह बात असम्भव है कि प्रजा को दुःख देने वाले राजकुल के हाथ में राज्य रह सके और साथ ही यह बात भी असम्भव है कि प्रजा को सुख देने वाले राजकुल का राज्य विस्तार को प्राप्त न हो, क्योंकि प्रजा को सुख देने वाले राजकुल का यह सिद्धान्त रहा करता है कि जो कोई अपने सन्मुख अन्याय होने देता है वह उस अन्याय का भागी होता है, इस सिद्धान्त के अनुकूल जिस राज्य में वे लोग अन्याय होता देखते हैं वहीं उसके रोकने को पहुंचते हैं और क्योंकि वे न्याय पर होते हैं इसलिये परमेश्वर उनको जय प्राप्त कराता है। ठीक इसी प्रकार इङ्गलैंड निवासियों का आगमन भारतवर्ष में हुआ और भारत के साथ राजस्थान में भी, ईश्वर करे राजस्थान निवासी विशेष करके क्षत्रिय लोग अंग्रेज़ी गवर्नमेन्ट से राज्य-शासन-प्रणाली और प्रजा की रक्षा करना सीखें और क्षत्रिय शब्द को लज्जित न करके सार्थक करें।

पांचवां अवगुण यहां के क्षत्रियों में क्षुद्रबुद्धि होने का

या दूरदर्शिता न होने का था, राजस्थान के इतिहास को विचार के साथ पढ़ने से पद पद पर क्षत्रियों की क्षुद्रबुद्धि का प्रमाण मिलेगा यह क्षुद्र बुद्धि का ही प्रताप था कि परस्पर में एक दूसरे की उन्नति को द्वेषदृष्टि से देखा करते थे और किसी अपने सजातीय क्षत्रिय के आधिपत्य में रहने की अपेक्षा अपने धर्म और जाति के शत्रु मुसलमानों के अधिकार में रहना उचित समझा करते थे, क्या ही क्षुद्रबुद्धि थी उन लोगों की जो वृथा परस्पर में हीनता और उच्चता के विचार बांधा करते प्रजा की रक्षा को छोड़ कर उसको पीड़ा देने में नित्य नई नई उक्तियां निकाला करते और अब भी कई महाशय निकाला करते हैं। राजा महाराजा अपने सरदारों से और सरदार लोग अपने स्वामी राजा महाराजाओं से द्वेष रखते और कई स्थानों में अब भी यही दशा है। विदित हो कि इस प्रकार के लोगों के अंतःकरण लोभ और स्वार्थपन से मलिन रहा करते हैं ऐसे लोगों को केवल अपने स्वार्थ का ही ध्यान रहा करता है, यहां के क्षत्रियों को स्वार्थी कहने से हमारा प्रयोजन यह नहीं है कि इनके विना और लोग स्वार्थी नहीं हैं सम्पूर्ण भूमण्डल के लोग स्वार्थी हैं परन्तु दूरदर्शिता के साथ। इन लोगों का स्वार्थीपन ओछी बुद्धि के साथ था मनुष्य को ऐसा स्वार्थी होना चाहिये कि जिस से अपना अर्थ भी न विगड़े और संसार और परमात्मा के सन्मुख लज्जा भी न उठानी पड़े अथवा जिसमें बुद्धिमान्

लोग मूर्ख न कहें, परन्तु क्षत्रियों ने ऐसी क्षुद्रबुद्धि के साथ स्वार्थ को धारण किया कि जिससे इनका अर्थ भी बिगड़ा, लोक परलोक भी बिगड़ा और बुद्धिमानों के विचार में मूर्ख भी ठहरे इसी का नाम दूरदर्शिता का न होना वा क्षुद्रबुद्धि है। इसका हम एक उदाहरण देना चाहते हैं सो यह कि क्षत्रियों को भूमि दबाने का लोभ सदा से रहा है, अन्य देशों की भूमि दबाना तो कहां रहा इन में इतना भी साहस न था कि मुसलमानों के हस्तगत हुई अपनी ही भूमि को पीछे लेते, परंतु येन केन उपाय से किधर ना किधर कुछ भूमि दबावें, इस इच्छा को पूर्ण करने के लिये कायर और क्षुद्रबुद्धि वालों ने यह कहावत प्रचलित की कि—'जमीं तो भाई की और बेटी सगे की लेणी चाहिजे'*। अधिक लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है बुद्धिमान् लोग विचार सकते हैं कि इस सिद्धान्त पर चलने वाले लोगों के अधिकार में भूमि कब तक रह सकती हैं; प्रत्येक क्षत्रिय ने अपने भाई की भूमि दबाने का उद्योग किया यदि सफल न हुआ तो जिस भूमि के लेने को मन किया उसमें से आधी अथवा आधी से भी अधिक देने का प्रण करके आदि में किसी मुसलमान बादशाह वा नव्वाब को अपने भाई पर चढ़ा लाते और पिछले समय में मीरखां वा मरहठों में से किसी को

* इसका अर्थ यह है कि भूमि तो भाई की दबानी चाहिये और स्त्री अपने सम्बन्धी की पुत्री को बनानी चाहिये।

इसका परिणाम यह हुआ कि इनके राज्य बहुत बड़े बड़े थे सो अब छोटे छोटे आरहे। मेवाड़ के इतिहास से प्रकट है कि विक्रमादित्यजी ने अपने ज्येष्ठ भाई रत्नसिंहजी से राज्य छीनने में सहायता मिलने के लिये बाबर को रणथम्भोर नामी प्रसिद्ध दुर्ग दे देना चाहा था। क्या अच्छी बात होती यदि अन्यायपूर्वक राज्य की लालसा करनेवाले क्षत्रिय नीचे लिखी बातों को सोच लिया करतेः—

प्रथम उनको यह विचारना चाहिये था कि मैं राज्य करने के योग्य हूं वा नहीं; प्रसिद्ध कहावत है कि कचहरी में जाने वाला यदि सच्चा झगड़ा झगड़ता हो और उसका अन्तःकरण उसकी सत्यता की साक्षी देता हो तो सन्देह नहीं कि वह अपने झगड़े को जीते; कोई आवश्यकता नहीं है कि वह अपनी सचाई, सामर्थ्य और योग्यता को छोड़ कर न्यायाधिकारी के सन्मुख किसी अन्य पुरुष की सहायता को ढूंढे। ठीक इसी प्रकार राजा बनने वाले को भी सोचना चाहिये कि वर्तमान राजा की विद्यमानता में मेरा गद्दी का अधिकार है वा नहीं; यदि है तो उस अधिकार को मैं मेरी ही सामर्थ्य से प्राप्त कर सकता हूं वा नहीं; अन्त में यह सोचे कि राजा हुये पीछे राज्य की रक्षा कर सकूंगा वा नहीं। यदि ऊपर लिखी सब बातें उसके अनुकूल हों तो कौनसी आवश्यकता है कि अपनी जाति, धर्म और देश के शत्रुओं की सहायता से उसके लेने का उद्योग करे, परन्तु यदि ऊपर

लिखी हुई बातें राज्य की लालसा करने वाले के अनुकूल न हों तो स्पष्ट है कि वह बाहर से किसी की सहायता विना स्वतः राज्य प्राप्त नहीं कर सकता । जब से यहां के अयोग्य लोगों ने कुछ भूमि देकर बाहर के शत्रुओं की सहायता ली तभी से ये लोग अधिक निर्बल और शत्रु इनके प्रबल पड़े क्योंकि अयोग्य राजा के गद्दी पर बैठते ही राज्य दो प्रकार से निर्बल पड़ता एक यह कि अयोग्य राजा गद्दी पर बैठता दूसरा यह कि बहुत से परगने बाहर के सहाई को देदिये जाते जो दो प्रकार से प्रबल होजाता, एक यह कि बहुतसा देश उसके हाथ आजाता दूसरा यह कि नवीन राजा को सहायता देने में साथ रह कर वहां का सब भेद जान लिया करता, इस दशा में कब सम्भव हो सकता था कि प्रबल आगन्तुक उस विदेशी के पंजे से वह निर्बल राज्य बच सकता । निदान सिद्धान्त यही है कि जब जिस जाति के हाथ से राज्य जाना होता है तब उस जाति के राजकुल में ऐसे पुरुष जन्मा करते हैं जो सब प्रकार से अयोग्य होने पर भी राज्य लेने को मन बढ़ावें और उस इच्छा को पूर्ण करने के लिये विदेशीय राजकुलों की सहायता ढूंढें । बाबर, हुमायूं और अकबर के समय में राजस्थान के राजकुलों में ऐसे ही पुरुष जन्मे जिसका परिणाम राजस्थान को मुग़लों के आधिपत्य में होने का हुआ । अब इस समय में भी वही क्षुद्रबुद्धि प्रायः राजपूतों के पीछे लग

रही है और आज कल केवल उस सिद्धान्त पर वर्ताव किया जाता है कि भूमि भाई की लेनी चाहिये इसके लिये यदि कोई प्रमाण चाहे तो हमको इतना ही कह देना ठीक होगा कि प्रत्येक राज्य की कचहरियों में भूमिसम्बन्धी जितने झगड़े आते हैं उनमें राजपूत भाइयों के थोड़ी थोड़ी भूमि के लिये परस्पर के झगड़े ही अधिक ठहरेंगे। अब इनमें से बहुतसे धर्मात्माओं ने अपने पुरुपाओं की पुण्यार्थ ब्राह्मण और चारणों को उदक में दी हुई भूमि पर हाथ फैलाने की प्रथा धारण की है सो ठीक ऐसी ही है कि जैसा डूबते मनुष्य का सिवालों को पकड़ना। निदान सारांश यह है कि गत शहस्र वर्ष में राजा, महाराजा, सरदार, मन्त्री, प्रधानमंत्री और समस्त साधारण म दूरदर्शिता कहीं कहीं विरले ही स्थानों में मिलती है शेप सब में क्षुद्रबुद्धि की ही प्रवलता देखने में आई और अब भी प्रायः देखने में आती है इसलिये उचित है कि जो लोग पढ़े लिखे हैं और कुछ समझ का घमण्ड रखते हैं, वे इस बात को सोचें कि यह अवगुण क्षत्रियों में है वा नहीं, यदि है तो आज. गवर्नमेंट अंग्रेज़ी के सुखिया राज्य में उसके छोड़ने का पूरा पूरा उपाय करें।

छठा अवगुण क्षत्रियों में व्यसनों के सेने का था सो साधारण प्रकार से तो सब ही व्यसनों में फंसे हुये थे, परंतु विशेप करके मदिरा के व्यसन में बहुत ही निमग्न थे;

इसके पीने से कई राजकुल नष्ट हो गये हैं तथापि यहां के क्षत्रिय इससे बच कर नहीं चलते, खेड़ में राठोड़ों का अधिकार होने के समय इसी मदिरा ने गोहिलों का नाश करवाया था। किशनगढ़ के राज्य की नींव लगने के समय इसी मदिरा ने सेठोलाव में घणसीओतों का सत्यानाश कराया। निदान कहांतक लिखें सब के सब राजकुल इस मदिरा से हानि उठाये बैठे हैं, परन्तु चेत नहीं करते जो पुरुष इसके पीने में लगता है, तुरन्त रोगग्रसित होकर अपने कार्यों के सम्भालने से हाथ धो बैठता है, फिर चाहे वह एक धनाढ्य गृहस्थी हो चाहे राजा महाराजा वा सरदार, तुरन्त दरिद्रावस्था को प्राप्त होकर दुःख में निमग्न होजाता है जिससे मृत्यु के विना और कोई उसको मुक्त नहीं कर सकता। आज कल यहां के सर्दारों को अंग्रेज़ी मदिरा ने अपनी ओर लुभाया है उसमें देशी मदिरा के सब अवगुणों के साथ बहुतही महंगी होने का एक अवगुण अधिक है। देशहितैषी क्षत्रियों को चाहिये कि स्वयं मदिरा पीना छोड़ें और दूसरों को छुड़ावें।

सातवां अवगुण क्षत्रियों में परस्पर में वैर लेने का था, सो इस प्रकार से कि यदि कोई दुष्ट पुरुष लालच, द्वेष वा मूर्खता से क्रोधवश हो अपने कुटुम्ब में से किसी भाई को मार डालता तो उस कुटुम्ब में वैर पड़ जाता, कुटुम्ब एक ही हुआ करता था परन्तु दो समूहों में विभक्त हो जाया करते

थे, मारने वाले से जो अधिक निकट होते सो उसके पक्ष पर होजाते और मारे जाने वाले से जो अधिक निकट होते सो उस पक्ष पर होजाते, फिर परस्पर में कट बढ़ कर प्रायः सम्पूर्ण कुटुम्ब का सत्यानाश कर डालते जिससे शत्रुओं को अनायास इनके देश दबा लेने का अवसर मिल जाया करता। वैर लेने का निषेध करने में हमारा यह प्रयोजन नहीं है कि किसी निरपराधी मनुष्य को मार डालने वालों को दण्ड न दिया जाता, हमारा अभिप्राय इतना ही है कि मारे जाने वाले और मारने वाले के बहुत निकट के भाई बन्धुओं को एकत्र होकर मारने वाले को प्राणदण्ड देकर अपने कुटुम्ब की एकता को स्थिर रखना उचित था जिसमें एक मनुष्य के स्थान में उनके कुटुम्ब के दश बीस और कहीं कहीं सैकड़ों और कहीं कहीं सहस्रों पुरुष बालक और स्त्रियों के प्राण न जाते। क्या ही अच्छी बात होती यदि वरू वैर को एकता के साथ मिटा कर बाहर के वैरियों को निकालने में उसी प्रकार तन, मन और धन से लगते जैसे कि परस्पर में किया करते थे। ईश्वरकृपा से अब गवर्नमेंट अंग्रेज़ी के अधिकार में यह वैर लेने की प्रथा बन्द होगई है, इसको निर्मूल करने के लिये हम गवर्नमेंट को कोटिशः धन्यवाद देते हैं।

आठवां अवगुण क्षत्रियों में यह था कि इन लोगों में परस्पर की सहानुभूति नहीं थी अर्थात् शीशोदिया, कछवाहा, राठौड़, भाटी, चौहान और सोलंकी आदि सब अपने को

पृथक् पृथक् समझा करते थे और एक दूसरे के दुःख को कभी अपना नहीं समझते, यह नहीं जानते कि क्षत्रिय वा राजपूत शब्द के अंतर्गत हम सब लोग हैं, एक क्षत्रिय की हानि हम सब क्षत्रियों की हानि है। क्षत्रिय वा राजपूत शब्द में एक होने के उपरान्त परस्पर में इन लोगों के सम्बन्ध इस प्रकार से मिले हुये थे और अब भी हैं कि जिससे पृथक् समझना बन नहीं सकता जैसे कोई कछवाहा है, इस नाम से सिद्ध है कि उस पुरुष का पिता कछवाहा है, परन्तु पिता के साथ माता का ध्यान भी तो अवश्य होना चाहिये। यहां यूरोप और मुसलमानों की नाईं घर का घर में तो विवाह होता ही नहीं इसलिये अवश्य है कि इसकी माता शीशोदिया, राठौड़, भाटी वा चौहान जाति की है। जैसा उस कछवाहा पर उसके पिता का अधिकार है वैसा ही उसकी माता का भी और जैसा पिता की जाति का वैसा ही माता की जाति का भी, क्योंकि ऐसा नीच पुरुष कौन होगा जो माता पिता में भेद दृष्टि रक्खे और यदि माता पिता में भेद-दृष्टि नहीं है तो माता पिता की जाति में भेद दृष्टि कैसे बन सकती है, इसलिये उचित है कि दोनों पक्षों को अपने ही अंग समझे और दोनों के सुख दुःख में एकसी सहानुभूति रक्खे। यदि इस सिद्धान्त को राजपूत लोग सदा ध्यान में रखते तो कभी भिन्न भिन्न जातियों को पृथक् पृथक् न समझते और न एक के दुःख को दूर से बैठे बैठे आनन्द-

पूर्वक देखा करते जिसका फल यह हुआ कि एक के पीछे एक मुग़लों के पादसेवी बने।

इन अवगुणों के विना क्षत्रियों में और भी कुछ अवगुण थे परन्तु इन सबका मूल कारण यह था कि वे लोग विद्या नहीं सीखा करते थे, इस एक अवगुण के अन्तर्गत उक्त सब अवगुण होसकते हैं। अत्यन्त उपकारी समझने के स्थान में विद्या को इन लोगों ने अत्यन्त हानिकारक ठहराया और यह सिद्धान्त निकाला कि विद्या पढ़ा मनुष्य कायर होजाता है, वीरता उसके शरीर में नहीं रहती, धन्य री समझ! तैंने हीं तो यहां के क्षत्रियों को सातसौ वर्ष तक दुःख में फंसाये रक्खा। उन्नति चाहने वाले क्षत्रियों को चाहिये कि महाराजा रघु, अज, दिलीप, अर्जुन, कर्ण और महाराज श्री रामचन्द्र और श्रीकृष्ण की वीरता का स्मरण करें और विचारें कि उन में कितनी विद्या थी। सोचना चाहिये कि इतनी विद्या पढ़ कर वे कायर क्यों नहीं हुए, क्योंकर वे भूमण्डल के अद्वितीय वीर प्रसिद्ध हैं। हे क्षत्रियो! उन महाराजाओं की वीरता के आगे टुक अपनी वीरता को खड़ी तो करो, ऐसा करते ही आप लोगों की आंखें खुल जायंगी और आप लोगों की मनमानी वीरता स्पष्ट रूप से कायरता दीखने लगेगी। हम को निश्चय है कि कई लोग ऐसा कहेंगे कि महाराज श्री रामचन्द्र और श्रीकृष्ण तो अवतार थे और शेष राजाओं के जो नाम

गिनाये सो सतयुग, त्रेता वा द्वापर युग के हैं, कलियुग में विद्या पढ़ने से वीरता नष्ट होती है उक्त तीन युगों में नहीं हुआ करती थी। उत्तर में हम इतना ही कहना उचित समझते हैं कि सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलि कोई वस्तु विशेष नहीं केवल वर्षों की गणना के नाम हैं इस पर भी यदि लोग कलिकाल का उदाहरण देते हैं, सो यह कि श्रीमद् प्रमारवंशावतंश आर्यकुलकमलदिवाकर परजन-दुःखभञ्जन महाराजाधिराज श्री विक्रमादित्यजी इसी कालिकाल में हुये थे, कोई अवतार न थे विद्या के सागर थे, क्या इस समय कोई क्षत्रिय उनकी बराबरी कर सकता है ? आज कल राजपूतों में निरक्षरता अपनी पूर्ण ओज पर पहुंच रही है इसलिये उन लोगों के सिद्धान्तों के अनुसार आज कल क्षत्रियों की वीरता भी अपनी पूर्ण ओज पर होनी चाहिये, परन्तु हमारी समझ में ठीक इसके विपरीत दिखलाई देता है अर्थात् वीरता का अभाव प्रतीत होता है अच्छा नेक अपने उद्धारक इग्लैन्ड के विद्वान् वीरों पर तो ध्यान दो और देखो कि तुम्हारी और उनकी वीरता में कितना अन्तर है, कहिये उन लोगों की विद्या अच्छी वा आप लोगों की निरक्षरता। क्षत्रियों को चाहिये कि बहुत दिन की निद्रा को छोड़े और इंग्लिश गवर्नमेंन्ट जो उनको शिक्षा देना चाहती है उसको धारण करके पलटे में उक्त गवर्नमेन्ट को कोटिशः धन्यवाद दें।

पिछले समय के शुभ गुण धारण करने वाले क्षत्रियों का वर्णन जिनके होने से क्षत्रिय-जाति बनी रही।

प्रकट है कि ऊपर जो क्षत्रिय-जाति के अवगुण गिनाये गये उन सब को विचार कर देखने से बहुत लोगों को अचम्भा होगा कि ऐसे भयानक अवगुणों से भरी हुई क्षत्रियों की जाति अबतक बनी क्योंकर रही? इसका उत्तर देने में हमको यहां की एक प्रसिद्ध कहावत का स्मरण हुआ है सो यह है कि:—

"निर्वीर भूमि कबहूं न होय"

इस में सन्देह नहीं कि राजपूतों की जाति अवगुणों की एक अखूट भण्डार ही थी तथापि इन लोगों में समय समय पर कई ऐसे वीर, बुद्धिमान्, परोपकारी और दूरदर्शी लोग होगये हैं कि उन्हीं के प्रताप से इन लोगों की स्थिति बनी रही, परन्तु इन वीरों का होना भी हमारे ऊपर लिखे सिद्धान्तों को ही पुष्ट करते हैं कि क्षत्रियों की जाति अवगुणों से भरी हुई थी, क्योंकि "Exceptions only prove the rule". साधारण नियम से विपरीत गुण धारण करने वाली व्यक्तियां साधारण नियम को ही पुष्ट किया करती हैं। तथापि यदि नीचे लिखे वीर इस देश में न जन्मते तो सम्भव है कि यहां पर राजपूत जाति का कोई चिह्न भी शेष न रहता।

जब पिछले समय के शुभ गुण धारण करने वाले क्षत्रियों की ओर दृष्टि करते हैं तो सबसे पहिले शीशोदियों का वंश हमारे सन्मुख आ खड़ा होता है जिसमें से यदि महाराणा भीमसिंहजी से पूर्व के सवासौ डेढ़सौ वर्ष के महाराणाओं को छोड़ कर शेष महाराणाओं की ओर ध्यान देकर देखते हैं तो आठ दश के बिना और सब की वीरता, बुद्धिमानी, प्रजावत्सलता, दूरदर्शिता, धर्मरक्षा और स्वतन्त्रता की रुचि की धज समस्त राजस्थान से निराली सी जानी जाती है। पाठकगण यदि शीशोदियों की वीरता का अनुमान किया चाहते हो तो मेवाड़ में भ्रमण कर के सुविख्यात चित्तौड़गढ़ के कीर्त्तिस्तम्भ को देखो, हल्दीघाटी और नाहीगाम को देखो और मेवाड़ के उन पहाड़ों और समरस्थलों को देखो जहां पद पद पर अपनी स्वतन्त्रता मातृभूमि और धर्म की रक्षा करने वाले शीशोदियों की छतरियां और देवलियां बनी हुई हैं। हम कह सकते हैं कि भूमंडल भर में थोड़े से ही देश ऐसे निकलेंगे जो इस प्रकार की वीरता का प्रमाण दे सकें। बापा रावल के समय से लेकर महाराणा राजसिंहजी तक शीशोदिये निरन्तर मुसलमानों से लड़ते रहे। यह समय मुसलमानों की अत्यन्त उन्नति का था, बंगाले से लेकर पुर्तगाल तक के सब देशों पर इन्हीं का झंडा लहरा रहा था, जिनके बीच में मेवाड़ की, कि जहां पर स्वतन्त्रता के साथ सूर्य-

वंशियों का झंडा लहरा रहा था, एक अद्भुत छवि दिखलाई देती थी। चौदहवें शतक में जब कि मुसलमानों ने भारतवर्ष में प्रलय का सा धुन्ध मचा रक्खा था मेवाड़ के छत्र महाराणा आर्यों के धर्म की रक्षा करने के लिये मुसलमानों से लड़कर गया में काम आये और वहां पर जो मुसलमानों ने अन्याय कर रक्खा था उसके रोकने में कृतकृत्य हुये। यह काम शीशोदियों ने बहुत बड़ा किया, उस समय देहली के साथ मेवाड़ का कोई घरू बखेड़ा नहीं था, आनन्दपूर्वक ये लोग अपने घर में बैठे मेवाड़ का राज्य कर रहे थे, भारतवर्ष के अन्य भागों में मुसलमान लोग जो अत्याचार कर रहे थे उनको रोकने के लिये मेवाड़ के महाराणा लोग यदि चेष्टा न करते तो उनको कुछ दूषण न लगता सो इस बात से स्पष्ट है कि चौदहवें शतक में मेवाड़ के साथ राजस्थान के और रजवाड़े भी भले प्रकार से बने हुए थे, उनके महाराजाओं में से एक ने भी अपने राज्य से बाहर होने वाले मुसलमानों के अत्याचारों को रोकने का साहस नहीं किया, उनको कोई बुरा नहीं कहता है। इन सब महाराजाओं ने घर में बैठ कर सुख से राज्य किया और बैठे बैठे ही सुखपूर्वक परलोक को सिधारे। जब राजस्थान के सब राजा महाराजाओं की यह दशा थी तो क्या आवश्यकता थी कि मेवाड़ के उक्त छत्र महाराणा राज्य-सुख को छोड़ कर अपने प्रिय प्राणों को युद्धभूमि में खड्ग की धारा

में बहाते, क्या उनको अपने शरीर से प्रीति नहीं थी? क्या उनको राज्यसुख बुरा लगता था? क्या उनको इन्द्रियों में भोग विलास के सुख का अनुभव करने की सामर्थ्य नहीं थी? नहीं नहीं, उनके सब कुछ था परन्तु उन वीरों में एक स्वार्थपन नहीं था, उनका हृदय बहुत गम्भीर था अपनी जाति से, स्वतंत्रता से, मातृभूमि से, धर्म से और अपनी आर्य प्रजा से उनको बहुत ही प्रेम था, इतना कि उसके आगे अपने शरीर के सुख को तुच्छ समझा करते थे; उनके विचार सदा परोपकार में लगे रहा करते थे, फिर यह क्योंकर हो सकता था कि उनकी जाति के लोगों के गलों पर छुरे चलाये जाते, लोग बरबस मुसलमान बनाये जाते, मन्दिरों को तोड़ तोड़ कर उनके स्थानों पर मस्जिदें बनवाई जातीं, उनके यहां का परमपूजनीय पशु (गाय) तीर्थस्थानों पर मारा जाता, आर्यमात्र गया में अपने पुरुषाओं को पिण्ड देने से रोके जाते और सूर्यवंश के अवतंश मेवाड़ के वीर महाराणा यह कह कर कि ये अनाचार मेवाड़ से बाहर होते हैं चुप बैठे रहते और अन्य कायर राजाओं की नाईं बैठे बैठे राज्यसुख भोगा करते? ईश्वर की कृपा से उनके हृदय में मेवाड़ से बाहर रहने वाले आर्यों के लिये भी ऐसी ही प्रीति थी जैसी अपनी प्रजा से, वे मेवाड़ को ही नहीं वरन् संपूर्ण भारतवर्ष को अपनी मातृभूमि माना करते थे और दीन आर्यों को प्रबल मुसलमानों के अन्याय से बचाने में

सदा तत्पर रहते और युद्धभूमि में प्राण त्याग कर मातृ-भूमि के ऋण से मुक्त होते, शीशोदियों के वंश ने संसारी सुखों को तुच्छ समझ कर केवल परोपकार पर दृष्टि जमाई थी और परमेश्वर पर दृढ़ विश्वास जँचा कर अपने झंडों पर यह सिद्धान्त लिखवाया कि—"जो दृढ़ रक्खे धर्म को तेहि रक्खे करतार"। यह सिद्धान्त केवल शोभामात्र को ही झंडे पर नहीं लिख दिया जाता था परन्तु इस बात के लिखने से हमको अत्यन्त ही आनन्द है कि मेवाड़ के महाराणाओं ने इस पर प्रायः ठीक ठीक वर्त्ताव किया है और सिद्धान्त के पिछले भाग के अनुसार ईश्वर की ओर से भी इनको पूरी पूरी सहायता मिली; क्योंकि ईश्वर केवल उन्हीं को सहायता दिया करता है जो पहिले स्वयं अपनी सहायता करने को उद्यत हों। निदान चौदहवें शतक के गया में काम आने वाले मेवाड़ के छत्र महाराणाओं का आर्यमात्र को, विशेष करके क्षत्रियों को, बहुत ही उपकार मानना चाहिए, क्योंकि उन्हीं के प्रताप और वीरता ने मुसलमानों के अत्याचारों को रोका जिससे करोड़ों आर्यों को इस बात का सुख हुआ कि यद्यपि हम लोग मुसलमान राजाओं के अधिकार में हैं तथापि एक देश ऐसा है कि जहां के आर्य-राजाओं को हमारे सुख दुःख का उतना ही ध्यान है जितना उनको स्वयं उनके देश में बसने वाली प्रजा का। इस उप-कार के पलटे में सम्पूर्ण भारत की प्रजा ने मेवाड़ के महा-राणाओं को स्वतः ही "हिन्दुआ सूर्य" की पदवी दी।

इसी चौदहवें शतक के अन्त में मेवाड़ के बाहर राजकुमारों ने और महाराणा लक्ष्मणसिंहजी के आठ भाइयों ने अत्यन्त कुलीनता, बुद्धिमानी और वीरता दिखला कर सूर्यवंशियों के उस महत् गुण को कि 'सौभ्रात्रमेषां हि कुलानुसारि'' संसार को स्पष्ट कर दिखाया, अच्छे भाईपन के इस शुभ गुण को यदि अन्य रजवाड़ों के राजकुमार भी धारण करते तो न जाने राजपूताना की कितनी कुछ उन्नति हो जाती और अत्यन्त हर्ष के साथ आज हम उनके यश की पताका को उड़ाते, परन्तु पश्चात्ताप का विषय है कि शीशोदियों के कुल के थोड़े से राजकुमारों को छोड़ कर और रजवाड़ों में ऐसे राजकुमार नहीं हुए कि जिनके आचरण, वर्त्ताव, सहोदरीय स्नेह और माता पिता में भक्ति देख कर यहां के लोग उत्तम आचरण, भाइयों की परस्पर की प्रीति और माता पिता की आज्ञा मानने के धर्म को ठीक ठीक समझ सकें, इन से विपरीत अर्थात् अवगुण सिखलाने वाले राजकुमार बहुत हुए हैं; यहांतक कि उनकी गणना करना कठिन है। शुभ गुण और धर्म को सिखलाने वाले केवल यही मेवाड़ के राजकुमार हुए जिनका इतिहास इस प्रकार है:—

महाराणा लक्ष्मणसिंहजी के समय में जो चित्तौड़ में शाका हुआ उस के विषय में यहां के निवासियों में ऐसा प्रसिद्ध है कि-एक दिन रात को महाराणा साहब को गढ़

में भ्रमण करते करते एक बहुत बड़ी मूर्त्ति दिखलाई दी, पूछने से जाना गया कि वह चित्तौड़गढ़ की रक्षा करने वाली देवी थी, उसने महाराणाजी से कहा कि "अब चित्तौड़गढ़ तुम्हारे हाथ से निकल कर मुसलमानों के हाथ जायगा यदि तुम अपने बारह पुत्रों को युद्धभूमि में लड़ा कर मेरे लिये बलि देदो तो यह गढ़ फिर तुम्हारी सन्तान के हाथ आजायगा नहीं तो सदा के लिये मुसलमानों के ही हाथ में रहेगा, जो मन्दिर मूर्त्तियों को तोड़ कर तुम्हारे पुरुषार्थों की इस पवित्र राजधानी में गायें मारा करेंगे"। पाठकगण यह राज्य रहने वा जाने की बात नहीं थी यह धर्मसंबन्धी बात थी जिस की रक्षा करने के लिये लक्ष्मणसिंहजी अपने और अपने पुत्रों के प्राणों को तुच्छ समझते थे, तुरंत उन्होंने अपने बारह पुत्रों को बुलाकर यह भेद कह सुनाया। यहां पर इतना लिखना अवश्य है कि कोई पुरुष देवी के दर्शन देने को माने वा न माने, इसमें हमारा विवाद नहीं, जो लोग देवी का दर्शन देना न मानें वे ऐसा मानलें कि चिन्तातुर महाराणा को रात्रि के समय जब कि वे अकेले गढ़ को संभालते फिरते थे कुछ भ्रम पड़ गया होगा, परन्तु उनको और उनके पुत्रों को देवी का दर्शन होने में कोई सन्देह नहीं था; आर्य-कुल-रक्षक महाराणा लक्ष्मणसिंहजी के मुख से इस प्रसंग को सुनते ही बारहों राजकुमारों में से प्रत्येक ने अपनी परमपवित्र राजधानी चित्तौड़ और

आर्यधर्म के लिये दूसरों से पहिले रणभूमि में शयन करना चाहा; सब ने धर्म की रक्षा में प्राण त्यागने को धन्य समझा, क्योंकि ये राजकुमार राजस्थान के उन राजकुमारों की नाईं नहीं थे, जिन्होंने सुखपूर्वक राज्य करने की लालसा से अपने धर्म के प्रतिकूल अनेक प्रकार के अत्याचारों को देखने में और मुसलमानों के पादसेवी बनने में बड़ा लाभ माना था। चित्तौड़ के राजकुमार जानते थे कि मरना एक दिन अवश्य है फिर कौनसी आवश्यकता है कि अपकीर्ति के पात्र होकर मरें; क्योंकि अपकीर्त्ति प्राप्त करलेने पर भी मौत तो पीछा नहीं छोड़ेगी तब उचित है कि धर्म की रक्षा में तो मरें जिससे इस संसार में कीर्ति मिले और परलोक में परमेश्वर के सन्मुख मुंह न छिपाना पड़े। ऐसा निश्चय कर ग्यारह भाई रणभूमि में सुख की निद्रा सो गये, बारहवें के स्थान में स्वयं महाराणा काम आये, जिनके साथ उनके आठ भाई अर्थात् राजकुमारों के काका अत्यन्त उत्कंठा के साथ काम आये; इन सब की कीर्त्ति राजस्थान भर में प्रसिद्ध है।

इनके पीछे पन्द्रहवें शतक के प्रारम्भ में महाराणा लाखाजी के ज्येष्ठ पुत्र चूंडाजी ने वह अद्वितीय वीरता दिखलाई जो महाराज श्री रामचन्द्रजी वा भीष्मजी के विना किसी विरले ही राजकुमार ने दिखलाई होगी। क्षत्रियों में शिरोमणि सत्यव्रतधारी उस वीर ने लाखाजी की

इच्छानुसार गद्दी का दाइया छोड़ कर अपने सबसे छोटे भाई मोकलजी को गद्दी पर बिठलाया और मोकलजी के हृदय में धूर्त्तों के बहकाने से जब उनकी ओर का झूठा सन्देह उठा तब वह महावीर घर में बखेड़ा न करने की इच्छा से चुपके से मालवा के बादशाह के पास चले गये, जिसने इनको नौ लाख रुपये वार्षिक उपज की जीविका दी। राजस्थान के अन्य राजा वा राजकुमार लोग भी राजा से द्वेष होने पर इसी प्रकार मुग़लों के पास जाया करते थे, परन्तु चूंडाजी के जाने में और उन लोगों के जाने में बड़ा अन्तर था; वे लोग द्वेष करके इसलिये जाया करते थे कि मुसलमानों से सहायता लेकर पूर्व राजा को गद्दी से उतार कर स्वयं गद्दी पर बैठेंगे वा राजा को अनेक प्रकार के क्लेश देंगे; परन्तु चूंडाजी के हृदय में इन बातों का लेशमात्र भी विचार न था; यदि इनके मालवा में रहने के दिनों में स्वयं मालवा का बादशाह मेवाड़ पर चढ़ाई करता तो निःसन्देह चूंडाजी ही सबसे पहिले युद्ध करते। यदि चूंडाजी साथ होकर मालवा के बादशाह को मेवाड़ पर चढ़ा लाते तो वह अपने को बहुत धन्य समझता और मेवाड़ के कुछ परगने अवश्य उस के हाथ लग जाते और चूंडाजी सुगमता से मेवाड़ की गद्दी पर बैठ जाते, परन्तु धर्म और स्वतन्त्रता के उस रक्षक को गद्दी से क्या प्रयोजन था, चूंडाजी ने श्री रामचन्द्र महाराज के इस वाक्य को पुष्ट किया कि:—

"रघुकुल रीति सदा चलि आई ।
प्राण जायँ पर वचन न जाई" ॥

अपनी प्रतिज्ञा को निभाने के उपरान्त चूंडाजी इस बात को भी जानते थे कि मुझको ईश्वर ने बुद्धि दी है और मेरा छोटा भाई कुछ बुद्धिमान् नहीं है, कुसङ्गति में पड़ कर मूर्खों के बहकाने से मुझ से अप्रसन्न है तो क्या मैं भी इसकी नाईं मूर्ख बन कर मेवाड़ के राज्य का सत्यानाश करदूं। कदाचित् कोई यह कहे कि बुद्धिमान् चूंडाजी को उचित था कि मोकलजी को समझा कर उनके झूठे संदेह को मेट देते, इस के उत्तर में हम इतना ही कहेंगे कि जब किसी को किसी से द्वेष होजाता है तब जिससे द्वेष होता है उसके वचन यद्यपि लाभकारी हों तथापि उलटे हानिकारी वा व्यङ्ग भरे दीखा करते हैं जिससे दोनों में अधिक अधिक विरोध बढ़ा करता है, इसलिये चूंडाजी ने उस समय जितना सा कहना उचित था सो कहा फिर विशेष न कह कर पृथक् होजाना ही उचित समझा। ऐसा किये पीछे भी जब मेवाड़ पर आपत्ति आई तो उसको निवारण करने में अपने प्राणों का कुछ ध्यान नहीं किया और थोड़े से मनुष्यों के साथ चित्तौड़गढ़ में घुस गये और मन्डोर के राव रिड़मलजी को मार कर शीशोदियों को चिन्ता से मुक्त किया और मोकलजी के बालक पुत्र कुम्भाजी को यथावत् गद्दी बिठलाया और मेवाड़ के राज्य का वह उत्तम प्रबन्ध किया जैसा थोड़े ही महा-

राणाओं ने किया होगा। इन चूंडाजी को बैठने के लिये सलूम्बर नामी नगर मिला था जो आज तक उनकी संतान के अधिकार में है और जहां के रावजी मेवाड़ के सरदारों में अग्रणी हैं। धन्य हैं सलूम्बर के रावजी साहब जो क्षत्रिय-शिरोमणि चूंडाजी की सन्तान हैं, चूंडावतों को चाहिये कि चूंडाजी के नाम और गुणों को कभी नहीं भूलें, वरन् सदा उनका सा वर्ताव धारण करें; चूंडावतों के उपरान्त सम्पूर्ण क्षत्रियों को चाहिये कि चूंडाजी का अनुकरण करके क्षत्रिय शरीर पाने का पूरा पूरा लाभ उठावें।

यह वृत्तान्त शीशोदियों में सहोदर वा सौतेले भाइयों का है अब कई पीढ़ी दूर के भाइयों के वर्ताव को देखते हैं तो झटपट ही प्रतापगढ़ के वीर हमारे सामने आन खड़े होते हैं, यद्यपि प्रतापगढ़, उदयपुर से पृथक् रजवाड़ा है तथापि वहां के महाराजाओं ने सूर्यवंशियों के अच्छे भाईपन के गुण का संसार को बहुत उत्तम वर्ताव दिखलाया है। कर्नल टाड साहब ने जो महारावत बाघसिंहजी का वृत्तान्त लिखा है उससे स्पष्ट है कि ऐसा वीर, धार्मिक और निर्लोभी महाराजा राजस्थान भर में कोई नहीं हुआ। जिस चित्तौड़ के लिये उनके पिता सूर्यमल्लजी ने पृथ्वीराजजी से अनेक लड़ाइयां लड़ी थीं वह चित्तौड़ एक प्रकार से बाघसिंहजी के हस्तगत होगया था, यदि राजस्थान के अन्य राजाओं की नाईं बाघसिंहजी भी मेवाड़ का बहुतसा

भाग मुसलमानों को देकर उनके आधिपत्य में रहना स्वीकार कर लेते तो क्या वे चित्तौड़ के राजा नहीं हो चुके थे, परन्तु धन्य है शीशोदियो ! तुम्हारे वंश को; जिसमें ऐसे ऐसे अनुपम रत्न जन्मे कि जिन्होंने अपने धर्म, स्वतंत्रता और देश को मुसलमानों के पन्जे से बचाने ही को परम-लाभ माना। जिनके हृदय में उक्त तीनों बातों के बचाने का और कीर्त्ति संचय करने का बड़ा भारी लोभ था उनके हृदय में राज्यसुख के तुच्छ लोभ की गति किस प्रकार हो सकती थी। बाघसिंहजी के पुत्र रायसिंहजी और भी अधिक प्रशंसा के योग्य हैं कि उन्होंने चित्तौड़ लेकर अपने हाथ में न रक्खा, परन्तु विक्रमादित्यजी को दे दिया इसी प्रकार राय-सिंहजी के पुत्र बीकाजी की भी बहुत प्रशंसा है।

यद्यपि शीशोदियों के कुल में बहुत नामी और बुद्धिमान् राजा हुए हैं तथापि संग्रामसिंहजी और महाराणा प्रताप-सिंहजी की वीरता विशेष ध्यान देने के योग्य है, महाराणा प्रतापसिंहजी का सविस्तर वर्णन मेवाड़ के इतिहास में लिखा है। इनके पुत्र उदयसिंहजी के राज्य में अकबर ने चित्तौड़ के घेरा लगाया उस समय उदयसिंहजी गढ़ छोड़ भागे, परन्तु मेड़तिया राठौड़ जयमलजी और पत्ताजी चूंडा-वत ने उस समय बहुत ही बुद्धिमानी और वीरता दिखलाई जिससे उनकी ऐसी कीर्ति फैली कि राजस्थान में जयमल्ल पत्ता के नाम को दश दश वर्ष के बालक भी भलीभाँति

जानते हैं। विचार कर देखने से संसार में ऐसे ही पुरुषों का जीवन धन्य ठहरता है। स्वयं हमने जयमल्लजी और पत्ताजी के नाम को सात वर्ष की अवस्था में सुना था सो न किसी पुस्तक वा काव्य में और न किसी वृद्ध के मुख से परन्तु बालकों की मण्डली में, जब कि वे लोग दो समूहों में विभक्त होकर परस्पर में लड़ाई कर रहे थे; एक समूह देहली के बादशाह की सेना बन रहा था और दूसरा शीशोदियों की सेना; दोनों समूहों में केवल जयमल्ल और पत्ता का नाम सुनाई देता था जिससे बालकगण शरीर की सुध भूल कर खूब ही लड़ रहे थे। पाठकगण! आबाल वृद्ध में ऐसी कीर्ति हो जाना इस असार संसार में क्या एक बहुत ही अलभ्य लाभ नहीं है? अब प्रतापसिंहजी का वृत्तान्त लिखते हैं सो यह है कि—प्रतापसिंहजी की कीर्ति राजस्थान भर में सब से अधिक है, मेरी लेखनी को इतनी सामर्थ्य नहीं है कि उस क्षत्रिय शिरोमणि की कुछ थोड़ी सी भी प्रशंसा लिख सके। प्रतापसिंहजी का सा धैर्य्य और साहस भूमण्डल के नामी नामी राजाओं में से विरलों ही में मिलेगा, कहां मुग़लों की बादशाहत जो उस समय पूर्व-पश्चिम में ब्रह्मा और ईरान तक और उत्तर-दक्षिण में हिमालय और विन्ध्याचल तक फैली हुई थी और कहां मेवाड़ का छोटासा राज्य, सो भी सब प्रतापसिंहजी के हाथ में नहीं था, क्योंकि इनके गद्दी

विराजने से पहिले ही चित्तौड़ का दुर्ग बहुत से परगनों के साथ मुग़लों के हस्तगत होगया था; कहां अकबर, कहां उसके लत्तों मनुष्यों की सेना, कहां राजपूताने के सब राजा उसके पत्त पर और कहां महाराणा प्रतापसिंहजी और उनकी मुट्ठी भर भाई बेटों की सेना; परन्तु साहसी और धैर्यवान् पुरुष क्या क्या नहीं कर लेते। अधिक विस्तार न करके हम महाराणा प्रतापसिंहजी के लिये इतना ही कहेंगे कि अकबर और उसके साथ के राजपूताना के सब राजाओं ने शीशोदियों के वंश का नाश करना चाहा था तथापि ईश्वरकृपा से अकबर और उसके साथ के राजपूत झांकते ही रह गये और वीरशिरोमणि प्रतापसिंहजी ने अपने बाहुबल से शीशोदियों के वंश को बचा कर संसारमात्र को यह सिद्ध कर दिखलाया कि:—

"स्त्रवीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः"

यहां पर इस बात का जतलाना अवश्य है कि जैसे महाराणा प्रतापसिंहजी थे वैसे ही उनके भाई बेटे और सरदार थे, अकबर ने उन लोगों को बड़े बड़े लोभ दिखला कर अपने पंजे में फंसाना चाहा था, परन्तु एक बूंदी बिना कोई भाई बेटा वा सरदार अपने स्वामी हिन्दुआ सूर्य से विमुख नहीं हुआ। हमको इस बात के लिखने से अत्यन्त आनन्द है कि उस समय के चूंडावतों ने, बेदला और कोठारिया के चौहानों ने और सादड़ी के झाला मान-

सिंहजी आदि मेवाड़ के सम्पूर्ण सरदारों ने तन, मन और धन से अपने स्वामी की सेवा करके सच्ची कीर्त्ति प्राप्त की। ग्वालियर के राज्य छूटे हुये तंवर राजा रामसिंहजी और उनके पुत्र खांडेरावजी की प्रशंसा कहांतक लिखें कि समस्त भारतवर्ष में मुगलों के समय में वे ही एक राजा हुये जिन्होंने मुगलों की अपेक्षा महाराणाओं की शरण में रहना उचित समझा। यदि विचार कर देखते हैं तो क्षुद्रबुद्धि और पूर्णबुद्धि वालों में इतना ही अन्तर हुआ करता है जितना कि उस समय के अकबर के पादसेवी बनने वाले सब राजपूत राजाओं में और महाराणा के पादसेवी बनने वाले इन रामसिंहजी में था। जब अकबर ने ग्वालियर लिया रामसिंहजी भी और राजाओं की नाईं उसके चरणों में रत्न-जटित किरीट वाला शिर झुका कर ग्वालियर का राज्य फिर पीछा प्राप्त कर सकते थे, परन्तु उस वीर ने जब अपनी स्व-तन्त्रता जाती देखी तो उसको अपने धर्म के शत्रु मुसल-मानों को न देकर हिन्दुआ सूर्य महाराणा को दिया जो सब प्रकार से अपने सम्बन्धी समझ कर उनका विशेष सत्कार रक्खा करते थे। इसके उपरांत यदि वे अकबर के साथ होते तो भी उनको हल्दीघाटी की लड़ाई में ही काम आना पड़ता, शरीर उनका अवश्य हल्दीघाटी की लड़ाई में छूटना था, परन्तु महाराणा के साथ होकर काम आने से उनको अनन्त

कीर्त्ति प्राप्त हुई, यदि अकबर के पक्ष पर होकर वहीं काम आते तो अखंड अपकीर्त्ति के पात्र होते, क्योंकि इस पक्ष में वे अपने देश और धर्म के बचाने में काम आये, यदि उधर होते तो देश और धर्म का नाश करने के लिये काम आते। हम आर्य हैं इसलिये सम्भव है कई लोग हमको यहां पर पक्षपात का दोष लगावेंगे परन्तु हम पक्षपातरहित होकर कहते हैं कि हल्दीघाटी की लड़ाई के पीछे यदि कोई अकबर का मित्र घरू रीति से स्वयं अकबर से यह बात पूछता कि महाराणा प्रतापसिंहजी और आपके पक्ष पर होकर काम आने वाले क्षत्रियों में से आपकी दृष्टि में कौन से अच्छे हैं तो अवश्य उत्तर यही मिलता कि महाराणा के पक्ष वाले।

प्रतापसिंहजी के छोटे भाई शक्तिसिंहजी किसी कारण से अप्रसन्न होकर अकबर के पास चले गये थे, हल्दीघाटी की लड़ाई में बादशाही सेना के साथ होकर महाराणा साहब की सेना से लड़े यह उनकी कीर्त्ति पर बहुत ही बड़ा धब्बा लगा, परन्तु प्रतापसिंहजी के प्राण बचाने में ये शक्ति-सिंहजी ऐसे समय पर चेते कि उनका बादशाह से मिलना उलटा लाभकारी हुआ, उस समय चेत जाने के कारण अकबर से जा मिलने का जो धब्बा इनकी कीर्ति को लगा था सो भले प्रकार से धुल गया और इनकी कीर्ति पीछी स्वच्छ होगई।

हल्दीघाटी में महाराणा प्रतापसिंहजी के प्राणों की रक्षा करने में सबसे अधिक वीरता, बुद्धिमानी और स्वामिभक्ति मानसिंहजी झाला ने दिखलाई थी जिनका अनुकरण करना क्षत्रियमात्र का धर्म है।

महाराणा प्रतापसिंहजी के पीछे मेवाड़ में महाराणा राजसिंहजी का जीवन क्षत्रियों के ध्यान देने योग्य है; मेवाड़ के इतिहास से स्पष्ट है कि ये महाराणा भी प्रतापसिंहजी की नाईं साहसी, धैर्यवान् और बुद्धिमान् थे; इनके उद्योगों में सफलता बहुत हुई; औरङ्गजेब जैसे प्रबल शहनशाह को भले प्रकार से परास्त किया, जिससे उसको हार मान कर इनसे सन्धि करने के लिये कहलाना पड़ा। जब उस अन्याई ने आर्यों पर जजिया लगाया तब उसका उपालम्भ देने के लिये राजसिंहजी ने उसको यह पत्र लिखा, जिससे उनकी बुद्धिमानी और वीरता स्पष्ट दिखलाई देती है। "कर्नल जेम्स टाड" साहब उस पत्र की बहुत ही प्रशंसा करते हैं और लिखते हैं कि यूरोप के आधुनिक शिक्षित बादशाहों में से भी कोई इससे उत्तम पत्र नहीं लिख सकता।

मेवाड़ में राजवंशीय लोगों के उपरान्त राज की सेवा करनेवाले लोगों में से दो शरीर ऐसे हुये हैं जिनके गुणों को राजकुल की सेवा करनेवाले लोगों को सदा अपनी दृष्टि के सामने रखना चाहिये, उन दोनों शरीरों में से एक भामाशाह नामी वैश्य का था जिसके पुरुषार्थों ने चित्तौड़ में

प्रधान मन्त्री का काम करके बहुत द्रव्य इकट्ठा किया था फिर किसी कारण से वे लोग मेवाड़ छोड़ गये थे जब भामाशाह ने महाराणा प्रतापसिंहजी को राज्य की ओर से निराश होकर सिंध और विलोचिस्तान की ओर जाते देखा तब उस वीर ने अपना सम्पूर्ण धन, जो भूमि में गड़ा था, महाराणा साहब की भेंट करके अखंड कीर्ति प्राप्त की। दूसरा शरीर मेवाड़ में उस नायन का था जिसने अपने प्रिय पुत्र के प्राणों को खोकर अपने राजा महाराणा उदयसिंहजी के प्राण बचाये। राजा, महाराजा और सरदारों के पास रहनेवाले लोगों में जो आजकल कई खुशामदी टट्टू हैं वे ऊपर से चिकनी चुपड़ी बातें बनाकर रात दिन अपने स्वामी का धन हरा करते हैं उनको आंख खोल कर टुक इस नायन की ओर देखना चाहिये, इस अनुपम स्वामिभक्ति के स्मरणमात्र से ही उन लोगों के हृदय लज्जित होकर बहुत कुछ सुधर जायेंगे, इतने पर भी यदि न सुधरें तो सन्देह नहीं कि उन लोगों के हृदय में वज्र स्वामिद्रोह धसा हुआ है। खुशामदी टट्टुओं को छोड़ कर साधारण लोगों से इस बात का जतलाना अवश्य है कि यदि सहस्रों वर्ष तक संसार में कीर्ति छोड़ने की इच्छा है तो कटिबद्ध होकर उस नायन की नाईं अपने राजा, महाराजा की सेवा करने को उद्यत होना चाहिये।

मेवाड़ के विना शुभगुण धारण करनेवाले शरीर

राजस्थान में थोड़े ही हुये हैं तथापि पावूजी राठौड़, हरवूजी सांखला, वल्लूजी चांपावत, कांधलजी राठौड़ और दुर्गादासजी करनोत राठौड़ इन पांचों पुरुषों की कीर्ति राजस्थान में पूर्णरूप से छारही है, जब इनको मेवाड़ के वीरों से मिलाते हैं तो सब प्रकार से उनके बराबर ठहरते हैं किसी प्रकार उनसे न्यून नहीं, जिस प्रकार महाराणा प्रतापसिंहजी की कीर्ति है उसी प्रकार दुर्गादासजी करनोत की भी है; हम कह सकते हैं कि दुर्गादासजी जैसे सकलगुणसम्पन्न शरीर राजस्थान में दो चार से अधिक नहीं हुये, इनका सविस्तर वर्णन हम मारवाड़ के इतिहास में लिख चुके हैं, परन्तु यहां पर इतना लिखना अवश्य है कि इनकी कीर्ति के साथ मारवाड़ के महाराजा अजीतसिंहजी की अपकीर्ति सदा के लिये बनी रहेगी, जिस दुर्गादासजी ने अनन्त क्लेश सहकर मारवाड़ का राज्य पीछा अजीतसिंहजी को दिलाया था उस राजस्थान के अद्वितीय बुद्धिमान् और वीर पुरुष को देशनिकाला देकर अजीतसिंहजी ने चिरस्थायी अपकीर्ति के साथ कृतघ्नता के महापाप को भी अपने पल्ले बांधा, कांधलजी का सविस्तर वर्णन बीकानेर के इतिहास से स्पष्ट है। वल्लूजी चांपावत बहुत ही बुद्धिमान् और निडर वीर थे और पावूजी राठोड़ और हबूजी सांखला ऐसे सुशील, धार्मिक, सत्यवादी, बुद्धिमान् और प्रतिज्ञा को पालनेवाले वीर हुये हैं कि प्रायः राजस्थान निवासी उनको देवता मान

कर पूजते हैं। इन दोनों के शुभगुणों की कई कहानियां राजस्थान में प्रचलित हैं, परन्तु विस्तारभय से यहां नहीं लिखते।

इस प्रकार प्राचीन समय के ईर्षी, मूर्ख, कायर और हठी लोगों के कार्यों से जो जो हानि हुई और उदार-चित्त, बुद्धिमान्, वीर और दूरदर्शी लोगों से जो जो लाभ हुये सो राजस्थान निवासियों के सन्मुख रख कर हम परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं कि दयालु गवर्नमेंट अंग्रेज़ी के सुखिया राज्य में सब लोग ईर्षादि दोषों को छोड़ कर औदार्यादि शुभ गुणों को धारण करके अपनी मातृभूमि को सुशोभित करते रहें।

इति।

प्रार्थना

इस प्रार्थनापत्र के अंत में मैं हिन्दू-जाति से हाथ जोड़कर सविनय प्रार्थना करता हूं कि अपने अवगुणों का त्याग करें और शास्त्र में जिन गुणों की प्रशंसा की है उनको धारण करके फिर यह करके बतावें कि हिन्दू-जाति पहिले जिन गुणों से युक्त थी, अब भी वैसी ही बन सकती है। हिन्दू जाति के पतन होने का सब से बड़ा कारण आपस का द्वेष है। इसी द्वेष ने इनको गिरा दिया और यही द्वेष इनको अब जिस प्रकार लकड़ी को घुन खाता है उसी प्रकार खा रहा है। तमाम संसार में, तमाम देशों में, तमाम जातियों में आपस में छोटे छोटे मुक़द्दमे और लड़ाइयां हुआ करती हैं, परन्तु जहां जाति का प्रश्न उठता है वहां वे जातियां आपस की लड़ाई को भूल कर एक हो जाती हैं। इसमें थोड़े समय पहिले का एक नवीन, उत्तम दृष्टान्त हमारी प्यारी बृटिश जाति का है। जब जर्मन से महायुद्ध शुरू हुआ तब आयलैंण्ड अपने सब कष्टों को भूल गया और समय को पहिचान कर महायुद्ध में योग देने के लिये इङ्गलैण्ड का साथी हो गया। इसी का अनुकरण हमारे हिन्दू भाइयों को करना चाहिये।

प्रार्थना

सब हिन्दूमात्र और वैदिकधर्म को मानने वाले आर्य एक ही शरीर हैं, ऐसा विचार उत्पन्न होना बहुत ही आवश्यक है। सिख और आर्यसमाज को भी चाहिए कि वह जाति के सवाल में एक होकर रहे। हिन्दू-जाति के गिरने में मेरे विचार से सब से बड़ा लाञ्छन ब्राह्मण और क्षत्रियों पर है, क्योंकि हिन्दू जातिरूपी शरीर के मस्तिष्क ब्राह्मण और हृदय क्षत्रिय हैं। यदि मास्तिष्क और हृदय शक्तिशाली, दृढ़ और सर्व प्रकार उत्तम हों तो शरीर के और अंगों के शिथिल होने पर भी शरीर को निभा सकते हैं। एक मनुष्य का शरीर सर्व प्रकार सुन्दर और दृढ़ है और भोजन भी प्रतिदिन अच्छी तरह करता है और शरीर में बल भी बहुत है, परन्तु यदि मस्तिष्क बिगड़ गया तो पड़ोसी पकड़कर जंजीर से जकड़ कर वृक्ष के साथ बांध देंगे अथवा Lunatic Asylum पागलखाने में डाल देंगे। यदि हृद्-रोग हो गया है तो वह यही प्रतीक्षा करेगा कि दूसरे हमारी रक्षा करें और ज़रा भी हलचल होगी उसी समय घबरा जायगा, पसीना आ जायगा और यदि (heart fail) हृदय की गति रुक जाय तो तत्क्षण मृत्यु हो जावेगी। फिर शरीर किसी काम का नहीं या तो उसे जला दो वा ज़मीन में गाड़ दो। इसलिये इस हिन्दू जाति-रूपी शरीर की रक्षा के निमित्त ब्राह्मण और क्षत्रिय का असली ब्राह्मण और क्षत्रिय के गुणों से अलंकृत होना बहुत

आवश्यक है। ब्राह्मण को चाहिए कि गीता के १८ वें अध्याय के ४२ वें श्लोक को सामने रख कर सदा काम करें:—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥१॥

मन को शान्त रखना, इन्द्रियों को वश में रखना, पवित्रता, क्षमा, कोमलता, ज्ञान, विज्ञान (अनुभव) और आस्तिकता ये ब्राह्मणों के स्वाभाविक कर्म हैं।

और क्षत्रियों को चाहिये कि गीता के १८ वें अध्याय के ४३ वें श्लोक को याद रक्खें और संसार में सब प्रकार के व्यवहारों में इन श्लोकों का अनुकरण करें।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥

शूरता, तेज, धैर्य, निपुणता, युद्ध में न भागना, दान और समर्थ होना ये क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्म हैं।

क्षत्रिय जाति को यह नहीं कहना चाहिये कि अमुक ने हमको हानि पहुंचाई, तुम सोच कर देखो हानि पहुंचाने वाले तुम स्वयं हो। इसी प्रकार ब्राह्मण को भी चाहिये और ब्राह्मण और क्षत्रियों को आपस में बहुत प्रीति बढ़ाना चाहिए और उनका आपस का व्यवहार शुद्ध और प्रीति-सम्पन्न होना चाहिए जिससे हिन्दू जाति का भला हो सके और संसार में और जातियों के बराबर खड़ी होकर यह भी कह सके कि मैं जीवित हूं।

वैश्य और शूद्र भी हिन्दू जाति के बहुत बड़े अंग हैं इसलिये ब्राह्मण और क्षत्रियों को चाहिये कि इन दोनों को प्रीति द्वारा अपने साथ रक्खें और इनका भरण पोषण करें ताकि शरीर दृढ़ बना रहे, परन्तु इन दोनों भाइयों से भी यह प्रार्थना है कि पैरों से भागने दौड़ने ही का काम लेना चाहिये, वेद के मंत्र बोलना तो मुख का ही काम रहेगा चाहे वह मुख कितना ही कमज़ोर हो गया है। पैर बहुत दृढ़ और भले चंगे होने पर भी शरीर को उठाकर ले जाने का काम कर सकेंगे यह असम्भव है कि पैर की एक अंगुली से कोई अकार का तो उच्चारण करा दे। इसलिये अपने अपने अधिकारों में रह कर और एक दूसरे से प्रीति और सहानुभूति रख कर इस शरीर की रक्षा का उपाय करो।

हिन्दू-जाति में संन्यासियों का एक समूह बहुत बड़ा है और किसी समय में इस जाति को इनसे अद्वितीय लाभ होता था, परन्तु लज्जा के साथ कहना पड़ता है अब नहीं है। यदि यह सब अपने आप सुधर के सहानुभूति से इस जाति को लाभ पहुंचावें तो बड़ा और अद्वितीय लाभ पहुंच सकता है। प्राचीन समय से यह प्रणाली चली आती है कि चातुर्मास के चार महीने में साधु एक स्थान पर ठहर कर उपदेश करें और गृहस्थी उनकी सेवा करें। इससे गृहस्थियों को बहुत लाभ होता था और साधुगण चार महीने में गृहस्थियों को बहुत उपदेश कर सकते थे,

परन्तु अब वह प्रणाली केवल नाममात्र रह गई और आजकल तो उन कतिपय महात्माओं को छोड़कर, जो सब के शिरोधार्य हैं, शेष समाज एक प्रकार से कर्त्तव्य-शून्य हो गया है और इस हिन्दू-जाति पर भार रूप से स्थित है।

मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूं कि हे भगवन्! इस जाति को ऐसी बुद्धि दे कि जिससे यह अपने आप अपना उत्थान कर सके। यहां पर एक हिन्दी का कवित्त, जो अति उपयोगी है, लिखा जाता है।

सामल है पीर में शरीर में न राखे भेद,
अन्तर कपट कछु होय तो उघरि जात।
ऐसो ठाठ ठानै जातें विना जन्त्र मन्त्रन तैं,
साँप हू को जहर उतारै तो उतरि जात।
"ठाकुर" कहत या में कठिन न मानो कछु,
हीमत किये तें कौन काज ना सुधरि जात।
चारि जने चारि ही दिशा तें चारि कोनं गहि,
मेरु को हिलाय कैं उखारे तो उखरि जात॥

यदि किसी के शरीर में पीड़ा हो तो उसकी पीड़ा को दूर करने के लिये उसका साथी बन जावे और शरीर में भेद न रक्खे अर्थात् अपने शरीर की भाँति उसके शरीर को भी अपना ही समझे, क्योंकि यदि भीतर कुछ कपट रहता है, तो खुल जाता है, छिपता नहीं, इससे कपट रहित साथी बने, बनावटी नहीं, ऐसा कार्य करे कि विना यंत्र

और मंत्र के ही यदि सर्प का भी विष उतारे, तो विष दूर हो जाय, ठाकुर कवि कहता है कि इसमें कुछ कठिन न मानिये, क्योंकि हिम्मत (उत्साह) करने से कौनसा कार्य सुधर नहीं जाता, यदि चार आदमी चारों दिशाओं में खड़े होकर और चारों कोनों को पकड़ कर सुमेरु पर्वत को हिला कर उखाड़ें तो वह भी उखड़ जाय और की तो क्या चलाई, इससे यह दिखाया है कि चार आदमी मिलकर कठिन से भी कठिन कार्य कर सकते हैं ।

श्रीकृष्णजी की स्तुति

जय जगवंदन नंद के नंदन,
पांडव स्यंदन हांकन हारे।
चर्चित चंदन कष्ट निकंदन,
ग्राह गयंद निग्राह बिदारे।
इंद्र फनिंद्र कविंद्र मुनिंद्ररु,
छन्द गुणी गुणवृन्द उचारे।
आनँद कंद मुकुंद गुविंद,
करो दुखद्वन्द्व निकन्द हमारे॥

हे संसार के नमस्कार करने योग्य, नंद के पुत्र, अर्जुन के रथ के हांकने वाले, चंदन से भूषित देहवाले, कष्ट दूर करने वाले, ग्राह को मार कर गजेन्द्र का दुःख दूर करने वाले, इन्द्र, शेष, कवीन्द्र, मुनीन्द्र, वेद और गुणियों से गाये गये गुणों वाले, आनन्दकन्द, मुकुन्द, गोविन्द, श्रीकृष्ण आप हमारे दुःख द्वन्द्वों को दूर करें।

——:o:——

परिशिष्ट

श्लाघ्यः स एको भुवि मानवानां
स उत्तमः सत्पुरुषः स धन्यः ।
यस्यार्थिनो वा शरणागता वा
नाशाभिभंगाद्विमुखाः प्रयान्ति ॥

पृथ्वी में मनुष्यों में एक वही प्रशंसनीय है, वही उत्तम, सत्पुरुष और धन्य है, जिसके पास से याचक या शरणागत पुरुष आशा भंग होने से विमुख हो लौट नहीं जाते ।

परद्रविणनिःस्पृहः परकलत्रनिष्कौतुकः
परप्रणयवत्सलः परनिकारवद्धक्षमः ।
परस्तुतिविशारदः परगुणापवादोज्झितः
परार्त्तिहरणोद्यतो भवति भूरिपुण्यैर्नरः ॥

दूसरे के धन की इच्छा न करने वाला, दूसरे की स्त्री को न देखने वाला, दूसरे से प्रीति करने वाला, दूसरे से किये गए अपने तिरस्कार को सहने वाला, दूसरे की प्रशंसा करने में चतुर, दूसरे के गुणों की निन्दा करने से रहित और दूसरे की पीड़ा हरने में उद्यत मनुष्य बहुत पुण्य से होता है ।

परस्त्री मातेव क्वचिदपि न लोभः परधने
न मर्यादाभंगः क्षणमपि न नीचेष्वभिरुचिः ।
रिपौ शौर्यं धैर्यं विपदि नियमः संपदि सता-
मिदं वर्त्म भ्रातर्भरत नितरां पालय किल ॥

पराई स्त्री को माता के समान समझना, कभी भी दूसरे के धन का लोभ न करना, मर्यादा न तोड़ना, क्षण-मात्र के लिये भी नीच पुरुषों के संग में रुचि न रखना, शत्रुओं को वीरता दिखाना, विपत्ति में धैर्य रखना और संपत्ति में शास्त्र के नियमानुसार चलना ये सज्जनों के मार्ग हैं। हे भाई भरत ! तुम भलीभांति इन्हीं मार्गों पर चलो।

क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः
क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः ।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः
प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ॥

नष्ट होने से बचाता है यह उन्नत क्षत्र का शब्द लोकों में रूढ (प्रसिद्ध) है, उससे प्रतिकूल वृत्तिवाले क्षत्रिय के राज्य से क्या ? और निन्दामलिन प्राणों से भी क्या लाभ है ?

अजरामरवत्प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत् ।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत् ॥

पंडित अपने को अजर अमर समझ कर विद्या और

धन का चिन्तन करे और मृत्यु मानो चोटी पकड़े है ऐसा मान कर धर्म का आचरण करे।

> प्राक् पादयोः पतति खादति पृष्ठमांसं
> कर्णे कलं किमपि रौति शनैर्विचित्रम्।
> छिद्रं निरूप्य सहसा प्रविशत्यशङ्कः
> सर्वं खलस्य चरितं मशकः करोति॥

पहिले तो पांवों पर पड़ता है, पीछे पीठ का मांस खाता है, फिर कान में चुप के से कुछ अनोखी आवाज करता है और फिर छिद्र देख कर बिना किसी शंका के घुस जाता है, इस तरह दुष्टजन के जितने चरित्र हैं वे सब मच्छर में पाये जाते हैं।

> अपने अरि को मित्र को, एकै गति पहिचान।
> धीरज तैं सब होत है, तुरमति तैं बड़ हानि॥

अपने शत्रु और मित्र को एक ही कसौटी पर परखो, धैर्य से ही सब कार्य सिद्ध होते हैं इससे धैर्य को ही कसौटी समझो अर्थात् धैर्य धारण कर खूब समझ बूझ कर किसी को अपना शत्रु या मित्र बनाओ, क्योंकि जल्दी करने वाली बुद्धि से बड़ी हानि होती है।

A Humble Epistle

and

A Guide to the Young Aristocracy.

Dedicated

To

His Highness
Sri Sewai Mansinghji Bahadur
Maharaja of Jaipur.

by

His Highness' Most Humble
and Devoted Servant,

The Author.

CONTENTS.

THE EPISTLE.

THE EPISTLE.

MAY IT PLEASE YOUR HIGHNESS,

Ever since I heard of the news of your Highness' going to Europe, I have been thinking of rendering your Highness some service. It is of two kinds, one of mind and the other of body. Which of the two is better, more practicable and opportune? Coming to the conclusion that the former, *i.e.* of mind is better, I forthwith send my thoughts, as a present, to your Highness through this humble epistle, with the hope that it will be read attentively, from the beginning to the end. Herein I have, in conjunction with my personal thoughts, collected and put down in one place certain old, memorable, wonderfully useful and truly religious doctrines and dogmas from various scriptures. They have been poured down like nectar from the mouth of Avatars and Maharshis, from time to time, for the good of mankind.

In these days, you are travelling in Europe, and will see the different kinds of natural scenery of that continent and the works of human hands that have made the world so very wonderful. It is said that the business of the world can be accomplished through sheer hard work and perseverance. By sitting inactive and indulging in anxious thoughts no one can perform any work. A deer would not go, by itself, into the mouth of a sleeping lion, or as it is said "A sleeping fox catches no poultry". Once Sri Bhagwan Ram Chandra, sitting on the sea-shore, was praying for the sea to give way, when Sri Lakshmanji requested him to work perseveringly. By doing accordingly, success was achieved. The great enemy Rawan was killed. This proves that in this world action is the mightiest.

The various machines and inventions—being the result of the activity of work in an ingenious way by Europeans—are drowning the world in amazement. Before returning to India, you will be sure to have a look into the battle-fields of France and Germany wherefrom you will carry the lesson that, when the powerful nations, on earth, lift up their heads too high in haughtiness, there comes to pass an event all of a sudden for them to stumble and fall. Many such eventful mis-happenings have taken place upon the earth, out of which two are well-remembered generally—the Mahabharat of Kurukshetra and the Great War of Europe. In the former the Kshatriyas gave an account of the right and wrong of their duty. By the favour of Sri Krishna, those who were on the path of Duty became victorious. In Europe, some of the nations stood up against the Germans for the sake of right, and succeeded by the grace of God. India also had her part in this war. In the land of France, many a European warrior is lying in dust; there Indian heroes also are peacefully taking rest in their graves, wherefrom they are proclaiming to the world that India even in this degraded state is ready to go to distant lands to help others in the cause of right and justice. Many brave men from Jaipur have their graves in that foreign soil; therefore, to pay your tribute, with solemn love and honour, to their memory, will be a commendable act.

During your travels, you must see the Monument in Trafalgar Square which stands in memory of that chivalrous soul, Nelson. It is worth your while to notice the deep affection with which the men and women of England, from royalty down to beggars, look upon that mark of appreciation, erected in his memory. May I venture to advise a similar plan to be adopted by you towards your countrymen, past and present? Has not our motherland many instances to

offer of such illustrious, chivalrous and noble personalities—those luminous bodies which outshine others in the firmament of glorious deeds? Yea, she has; though her people for want of historical knowledge have lived in oblivion. Absence of education has driven them to this deplorable state, while the cultured countries of Europe have in all their big cities the statues of their national heroes, by which being constantly reminded of their lives men and women eventually make their own lives exemplary and sublime. Ages have passed since the true worship of men illustrious and chivalrous had its dwelling place, and this notion of idolatry handed on from generation to generation is particularly the same in object and identical in all its bearings with the modern school of thought. But, alas! the state of our country is such that people, who pay homage to Sri Krishna and Ram Chandraji, are asked not to do so, and are contemptuously called idol-worshippers. Not a whit the less, we should learn a lesson from the Europeans, who have an inherent veneration for the statues of their great men. By constantly bearing in mind the lives of these great men, their own lives are saturated with a passionate zeal for all that is noble and chivalrous. Can any other country boast of having such "avatars" as Sri Krishna and Sri Ram Chandraji, and can such famous and religious kings, as our country has had, be found elsewhere?

Has there ever been such a mighty man as Hanuman who lived unmarried throughout his life? By serving devotionally Sri Ram Chandra, in different capacities, he attained a good name in the three worlds, and performed such acts of chivalry and understanding as are difficult to copy even partially. The mighty Hanuman leapt into Ceylon from this end of the ocean. He threw into confusion the notorious empire of the most dreadful enemy when he journeyed alone

through his country. He was instrumental in making known the condition of the world-mother Seeta to Bhagwan Ram Chandra; showed his mettle by slaughtering dreadful warriors in the battle between Rama and Rawan. When Sri Laksman lay unconscious in the battlefield, a timely administration of an infallible and rare potion, procured from the Himalayas according to the prescription of medical science, restored him and thus brought all happiness to Sri Ram Chandra. Who could be so wretched and void of understanding that would not bow his head in worship of the idol of such a wonderful, brave and pure character! To the descendants of Sri Bhagwan Ramchandra, Hanuman is a true friend and a god to be worshipped, because it was he who carried the message about Seeta to Ram Chandra on that rock when his blood was boiling with anger and revenge. Mahatmas like Valmiki and Tulsi Das have sung in praise of the device thought out by him for restoring the loving and chaste Maharani Seeta to Ram Chandra. Idol-worship is voluntary—those who dissent may not worship them. But it passes my understanding that when long and eulogistic speeches are made at the statues of ordinary persons of the present day and a propaganda for universal admiration and respect is carried on, where lies the harm if people lower their heads and worship the idol of Hanuman who was an almighty saint of ideal character and of an unselfish and kind nature? I personally bear no ill-will against these personalities of the present age, nor am I against the idea of their statue-erection. I honour them and admire their qualities, but at the same time I crave to know why should there be any hesitation in worshipping those ancient warriors of the highest standard who spent their lives in serving others.

The fact that these heroes, with unexcelled prowess and chivalry, sank into oblivion, is due to

want of good education. Bhartrihari has very wisely said that without education man is like a beast.

But at times, one is tempted to amazement by the fact that even those people of our country, who have read both ancient and modern history, who have acquired a high standard of modern education and who have travelled far and wide, are easily deflected from the right to the wrong path. Certain people, by using the ancient writings to their own advantage, and certain others, under the pretext of serving their country, are such that to write or speak about them is heart-rending.

In the world, there are three ways in which sympathy and affection can be expressed—in points of religion, community and nation. People of this country greatly lack these three, and instead are fond of ostentation and looking at things through rose-coloured glasses; they are not practical either.

I have offered to you some of the anthology of ancient Indian Scriptures, and as Europe is quite rich in literature, I shall quote some extracts from one or two places, and I trust they shall make pleasant reading.

Further, I give a collection of the sayings of Christ and his Apostles and a few others from the Holy Bible, in which the peoples of Europe, America and other countries merely profess their faith. You will read them attentively and find that they are not at variance. I can say without fear of contradiction that these words which have flown from the lips of this Mahatma are identically the same that are found in the ancient writings of the Hindu religion.

You will surely make it a point to visit such individuals, who practically live up to that moral standard which Christ has set in his immaculate life. In modern times, there is every possibility of finding such lives in countries, so high up in culture as those of Europe.

And peradventure there shall not be found even a single true Christian, eventually it will not be too hard to surmise that Europe begets children who thirst not after righteousness. This world, with all its glowing progress, is an illusion—is like to the scudding foam of the seas, worthy of contempt and decay, especially when, side by side, we survey the realms of spiritual perfection.

Easier it is by far to torpedo a steamer or to bomb from the air or by like contrivances to bring about desolation and destruction, than to let truth reign supreme in one's heart that knows no lust, wrath and covetousness. And so long as people, following the true teachings of Christ, do not overcome these formidable foes within, they have no moral justification for the pride they take in their advancement in culture. The life of that man of the world, who can afford to drive in cars and fly in the air all day long and who has in his palaces furniture of gold and who has sumptuous dishes to dine from and who has all that the world can give, is unquestionably lower than the life of a man, though poor yet free from lust and wrath and covetousness.

O ye dear friends that live in Europe ! Drink in and inwardly digest what Mahatma Christ has said with esoteric wisdom; be not adumbrant and vain but seek after everything pure in life, not losing sight of the fact that man is man and is a member of one great brotherhood; try to love one another.

The great English poet Shakespeare, who has written extensively, gave certain pieces of advice to youth, some of which will be found elsewhere in this Epistle. You may profit immensely by pondering over them and finally translating them into deeds.

I trust that, before you return, you will visit all the famous cities of Europe and see all the sights of historical interest, monuments and statues of great

personalities, whose life stories shall go to make an excellent treasure of knowledge, from which Your Highness, on your return, may impart to the public instruction delicious as nectar.

Talking of these things gives me an opportunity to express my opinion on your lone trip to England undertaken for your education. When such a decision was reached, some thought that it was unwise; but if you return imbued with knowledge, well and good. The greatest benefit that one could achieve by travelling alone is already accomplished by you; henceforward the worries and hardships of travel shall no more terrify you and you will unhesitatingly undertake journeys to distant lands. It is a great education, an accomplishment in itself; and so the prominent personalities of Europe generally travel alone. Secondly, the other extraordinary phase of travel lies in the fact that the Maharajas of Jaipur have the capacity of travelling in two ways,—majestic and simple. Sriman Maharaja Madho Singhji Bahadur of Jaipur demonstrated to Europe the majestic way of travelling while you the other. Both are admirable. After you come back, it will be very useful to travel throughout our country, and even more so if it is done according to the principles of ancient philosophers. Saints have made it a rule that a person, once during his lifetime, if it is in one's power and if possible, should undertake a journey to the Four Places of Pilgrimage. The motive underlying this is that a man should have a chance of seeing his own country, to have a first-hand knowledge since pen-sketches do not give adequate knowledge of the realities of the place. By these four pilgrimages a man can be profited considerably.

1. The first should extend up to the "Badri-ka-Ashram" in the Himalayas. Haridwar, the land of the recluse, and such sacred places should be visited; and one should have at heart the purity of life that

the saints and the sages have led there. If luck favours, it may be that you will meet a saint and attain blessing for the remainder of your life.

2. The next journey should be made up to Jaggannath Puri, and on the way such pilgrimages as Mathura, Brindaban, where Sri Krishna was born, and Ajodhya where Sri Ram Chandraji was born, and Prayag, Kashi, Patliputra, Bengal and Assam etc., should also be visited. By reading their history and visiting these places, considerable knowledge can be gained.

3. The third centre of pilgrimage is Setubandha Rameshwar. From Ajodhya to Rameshwar, if capable of facing difficulties en route, one may best do it on foot. And there by reading books of Valmiki and others and remembering the life of Bhagwan Ram Chandraji, one can make one's life a success. O Rajan, this pilgrimage is redeeming, and gives a new lease of life to the youth. The profitable experience gained throughout the journey to Rameshwar will be greater than through any other journey or by reading any other book. Every stone tells a tale of wonderful deeds of chivalry, of perseverance and of noble lives. By listening to the holy lives of Ram, Lakshman and Sita the very sins can be washed away from the hearts of men. To go to those spots where they once lived and to listen to the stories of their lives and to copy them will be your foremost duty. Sri Krishna in Bhagwat Geeta says, that ordinary men follow great men in their dealings and modes of life. People, along with you, will thus turn over a new leaf in their lives. All will follow truth through your march towards it. The influence of your works by speech, mind and action will not be confined only to your people but will be far-reaching, just as

"The night has a thousand eyes
The day but one
Yet the light of the bright world dies
With the dying sun."

You are from the "Surya Bansh"; therefore, so far as it lies in your power, you should try and live up to your lineage never forgetting that the chief watchword of your clan is to remove darkness and to bring in light, and doing all this without desire for any return. By just listening daily to the history of Sri Ram Chandra and the tale of his highly charitable life and that of the righteous Sri Krishna, a man's sinful heart can be cleansed. O Rajan, a man's heart is as much prone to sin as a sword is to rust, and it is essential to clean it from time to time. Sri Krishna in Geeta says, Sacrifice, charity and penance, which should never be given up under any condition, cleanse the heart of the learned and hence should not be forsaken by them too. Tulsi Dasji has very well said:—

> Like the Sun, an enlightened ruler is the portion of his subjects. Just as evaporation by the sun is invisible but the consequent rain is seen by all, everybody should see what a Raja bestows, when he is pleased, but the tax-payers should not feel the taxes when levied which constitute the wealth of the State.

On reaching Setubandha Rameshwar, the glorious and religious life-history of Sri Bhagwan Ram Chandra, Lachhman and their allies Sugriv, Hanuman, Angad, Nal Nil and Jambawan may be read at that place, with unequalled advantage. You will be able to form a very vivid idea of what the greatness of Sri Ram Chandra was like, and what an enterprising army of archers he had, and how very advanced was the engineering of Nal and Nil, which has baffled even the famous engineers and scientists of Europe.

By visiting the spot on the sea-shore, where Sri Ram Chandraji once resided, it will be clearly noticed that the island Ceylon, as we know it, was not that which

was the Kingdom of Rawan, but is only a part of it. The real "Lanka" that was then Rawan's capital lay to the south-west of the present Ceylon, and is known as the Maldives and the Laccadives Islands, which extended up to the Equator. Nal Nil constructed a bridge from the shores of India to those of this "Lanka" island, joining up with islands that lay in between both, and it was thus that the two great kingdoms were chained together. Of this, three chief proofs are given. Firstly, that according to Valmiki the distance between the two shores does not tally with what actually is, from India to Ceylon in our days; the Laccadives and the Maldives are very probably alluded to. Secondly, the 'rakshasas', described as cannibals and of a coloured race, together with other points of resemblance, have much in common with the inhabitants of these islands. Thirdly, When Sri Bhagwan drew his bow angrily to destroy the waters, they yielded, whereupon he forgave them. But at their entreaty, he let his wrath subside by delivering the fiery shaft from his bow which once bent, the arrow had to whistle through the air. This fiery shaft lighted on the nether side of Africa, creating the present Sahara Desert. You descend from this clan, which boasts of 'avatars' of such unexcelled and superb character. Is it any wonder if we come across men of like character nowadays?

4. The fourth pilgrimage should be made to Dwarka, *via* Mathura Brindaban; and Mahabharat, Geeta and other sacred writings should be read there, in order to be fully acquainted with the moral and political science taught by Bhagwan Sri Krishna in his excellent life and to know how, from time to time, he helped women and how he patiently bore the brunt of things, both spiritual and temporal, keeping strictly on the stern path of duty, both toward God and men.

He has left in legacy to the world the Geeta which is replete with true and precious preachings, which can help a man in leading a pure and successful life. If according to the dogmas of Geeta one should live, there shall be no anxiety as to happiness of life on this earth and in the world to come. O Rajan, a raja is made an ideal raja, and a man a real man by making these four pilgrimages. I hope that you will, after your return from Europe, visit these famous places of our country. You will begin to discriminate between modern and ancient India, and you will fully understand, by constant recourse to history how the downfall of the Brahmans and Kshatriyas was brought about. I, using my own judgment, herewith attach a list of books worth your reading. In case you cannot yourself read them, you may do so by the help of very competent and learned men, because these books, if studied, will be invaluably useful in matters of government:—

1. Vedas. 2. Puran. 3. Up Puran. 4. Smriti. 5. History, of which the important ones are the Ramayan, the Bhagwat and the Mahabharat, Srimad Bhagwat Geeta, Kautilyashastra, the Bible, the Quran, teachings and sayings of Guru Nanak, the books of Swami Dayanand Saraswati, sayings of Dayalji, history of the advent of the Mohammadans in India and their struggle with the Maharana of Udaipur, history of the Sikhs, the histories of England, France, Germany and many like books, which will add to your store of knowledge considerably.

To be succinct, and ere I conclude, I shall confine myself to presenting my humble opinion on matters of vital importance, concerning social reforms and government, which brew up now and then before a raja of your order.

1. Government, Army, Finance, Police, Judicial Department, (Gow-raksha) Protection of Cows, Hospital and Educational Department (Uni-

versity College).

2. Female Education, Purdah, Drinking, Shooting, The disadvantage of self-indulgence in Worldly Affairs.
3. The Divine Worship:—Agnihotra etc. etc.

Government.—To govern well and scrupulously well is hard of achievement, and what is still harder is to be impartial towards father, son, brother and sister etc.; yes, to be impartial towards all that is dear and near, towards teacher and every body on earth, when justice holds sway. The tresspasser should be punished according to your best judgment; and you should always defend religion. That is what has been commanded by Sri Ram Chandraji and by Bhagwan Sri Krishna, and this is what will be found in Manu and other sacred writings, especially in the laws of government, written by Bhishma. This is what is said by the statesmen of modern times. But it behoves one to put one's own principles into practice. To leave undone what one preaches to others to do, is the way of myriads in these days. O Rajan, a ruler cannot bear the burden of the whole government on himself, and it is because of this that wise men have found it absolutely necessary to divide the affairs of the government into as many departments as may be convenient to carry on the work with agility and propriety, and if systematic government, and not absolutism, is desired. The petitions of women and those of religious import should always have the ruler's ear. Justice should be meted out to the offender. For maintaining justice and peace, these departments have been created, and for that very purpose do these honourable members of the Council draw their fat salaries from the treasury, which owes its existence to the poor subjects, who constantly and nobly sacrifice a part of their well-earned income. These members must discharge their duties with the utmost diligence and unsullied justice,

though always bearing in mind that
"Earthly power doth then show likest God
When mercy seasons justice.
Therefore, though justice be thy plea, consider this
That in the course of justice, none of us should
see salvation:
We do pray for mercy
And that same prayer doth teach us all to render
The deeds of mercy."

A Council has been formed; members appointed; salaries fixed and paid duly; and members have come and gone, having had their share; what remains now to be asked is, how many grievances have been redressed and how many people have been helped in their afflictions and how many affairs of deep importance have been transacted; if all this has not been carefully gone into, there is a considerable lack; and if there is anything like an unfailing friend to a raja, when faced with such a trying problem, it is the ancient, true works and history of those great 'maharshis' and 'avatars' whose sagacious teachings are helpful in making up the deficiencies.

The greatest service a raja can do for his people, is to utilize the eleven senses, that is, to see clearly with his own eyes; to hear with his ears; to smell with his nose: to walk with his legs; to write with his own hands; to speak with his lips; to taste with his tongue, to say truth, the whole truth and nothing but truth, and finally to do nothing without a meditating mind. Success lies in this path of duty.

Army.—The army should consist of men who are fearless, calm and collected in time of danger, 'slow but sure', patient and sharp-witted and such as breed not a lying and a deceitful heart in their bosom.

Soldiers and officers of all ranks should never forget those memorable words spoken by Lord Kitchner in course of his farewell speech to the men of the British Expeditionary Force, who were sent on

military service to the Continent:—

"You are ordered abroad as a soldier of the King to help our French comrades against the invasion of a common enemy. You have to perform a task which will need your courage, your energy, your patience. Remember that the honour of the British Army depends on your individual conduct. It will be your duty not only to set an example of discipline and perfect steadiness under fire but also to maintain the most friendly relations with those whom you are helping in this struggle. The operations in which you are engaged will for the most part take place in a friendly country and you can do your country no better service than in showing yourself in France and Belgium in the true character of a British soldier. Be invariably courteous, considerate and kind. Never do anything likely to injure or destroy property; look upon looting as a disgraceful act. You are sure to meet with a welcome and to be trusted. Your conduct must justify that welcome and that trust. Your duty cannot be done unless your health is sound. So keep constantly on your guard against any excesses. In this new experience you may find temptations both in wine and women. You must entirely resist both temptations, and while treating all women with perfect courtesy, you should avoid any intimacy.

Do your duty bravely,
Fear God,
Honour the King".

KITCHNER,
Field Marshal.

The most deplorable defect generally associated

with the army is that they are notoriously a "set of blustering bullies," who are usually seen treating people contemptuously and appear almost incorrigible. This defect must be removed.

When armies travel about, from one place to another, either with the motives of education or of mutual assistance, the places, where they camp, are often the theatres of vice and abject malice. It is incumbent upon the government to deal strictly with such malfeasance. Drinking is another flagrant vice freely indulged in by officers and their men, and, if drinking be prohibited, it is highly probable that many other existing evils shall follow suit.

Finance.—Financial affairs should be executed with great diligence. A raja should always fortify himself financially but not by wrongful means. The treasure accumulated foully is depletory. A number of such examples can be cited from history. A ruler should never consider the state treasury to be his own but he should know that it is a Trust from God, and that he will be required to render an account to the last pie. It is extremely difficult to follow in the footsteps of many such competent rulers of the olden days. But reviewing comparativly modern history we come across the description of a Mohammaden king Nasiruddin Mahmud of Delhi who illustrates the possibility of bringing into use the least sum of public money for himself and his wife.

Police.—This department is such that a great benefit can be had if it is controlled by and run with the help of good men. The atrocities of evil persons are detrimental to the well-being of the public at large hence if the raja can make this department as it ought to be, his subject will be immune from corruption.

Much is heard in the world about the police in London—every man speaks good of them. I trust that you will try to make the State Police as good. A

raja should constantly inspect the police and utilize them to ward off any imminent danger. He should also take care that the troubles created by the police are checked outright. All officers and ordinary policemen should be total abstainers and of a worthy character. They should scrupulously avoid taking bribes. The police officers and men often take pride in their authority, thinking it is shown at its best by maltreatment and misuse. Where such a feeling reigns, how can justice dwell secure? God has not empowered anyone with the right of absolutism. The police are meant to help the afflicted and the needy, but the poor fight shy of the police and are generally terror-stricken. There should exist mutual regard, but on the contrary even little or no assistance can be expected from them,—let alone mutual assistance. This department can easily be reformed by setting over them detectives, who should quietly observe the movements of the police.

From time to time reports should be presented to the Raja and after full consideration being given, the truth or falsehood of the statements, contained therein, should be ascertained. The police should be held responsible for the outcome of the investigation. The accused on being found guilty should be punished rigorously enough to teach a lesson to others. In this way a good many reforms can be introduced in the police department.

Judicial Department.—No pains should be spared to control the various functions of this department. Though much is not required by way of reform, yet from the Law Member down to the Judge of the lowest grade, only such men should be kept as are from a high family and are of good character, learned, and free from greed, honest and experienced; all else should be removed.

Judicial and police are the two departments which

should acquit themselves to the entire satisfaction of the public. The police are meant to lend their full support to the judicial department in the discharge of its duties, as the latter is dependent on the former for execution of most of its work. Therefore a high standard of police discipline is essential for the perfect display of justice. In olden times justice was entrusted to the Brahmans and Maharshis, who had renounced the world and were thus able to eye with equality the ruler and the ruled, the rich and the poor. They were impartial and diligent. Though it appears almost impossible to find such men nowadays, yet every effort should be made in that direction. A man addicted to drink and unwholesome of character should never be found in this department, for justice cannot always be meted out by such.

"Gow-raksha."—To protect cows is very necessary in the world. It is universally accepted that this animal does more good to others than even men do. The Hindus have fully comprehended this fact and consequently they call her 'mother'. Milk, curd, butter, whey etc. are the eatables it supplies. Next, oxen are employed for cultivation, irrigation, and as beasts of burden. This is their service during their lifetime, but after their death they provide serviceable skins, and bones for the best manure obtainable. It would have been gratifying if the Hindu people could have found a more appropriate term but failing to find any such, they have called her 'mother'. The services, parents even cannot render, are rendered by this animal; even then man is so selfish that he does not bear properly the burden of its protection. At present, of all men the Hindus are mostly to be blamed, who, knowing fully well, as they do, her value, only for name's sake utter "Cows are 'mothers' of the three worlds" and unduly boast of being Hindu.

O Rajan, I desire, and it is my primary wish too, that you will be a faithful protector of the cow, and that in her service you will consecrate your body, mind and wealth.

Today, the condition of cows venerated by Hindus is worse than that of dogs in foreign countries. Europe, which keeps her cows so nicely, has a lesson to teach us. You will note that the upkeep of the cows under the eyes of those Europeans residing in India, holds a wide contrast to that of the Hindus. But at this time, I wish to emphasize that you must ignore their cow-slaughter because it is unpraiseworthy and a mistake which they have begun to realise. It is hoped prayerfully that the day is close at hand when throughout the world cow-slaughter will be stopped. It wlll be the "Golden Age", and the names of those great men that bring it about and take part in it, will be sung by generations hereafter. O Rajan, I hope that you will gird up your loins and share largely in the great work ahead of us so that your name may live in the hearts of many generations to come. Your forefathers have done likewise. In your veins runs the blood that loves and honours doing good to cows. When Daleep saw that a tiger suddenly pounced upon a cow, he considering his body worthless, almost gave his life to save that of the cow and said these memorable words:—'Be kind to my glorious body.' Can we not expect from you what has been achieved by your forefathers ? Why not ? Certainly we can.

Whatever has been written in this discourse about 'gow-raksha' is only a drop in the ocean, but the gist is that everything shoud be done to protect the cows. First of all, according to demand, there should be one or two pasturelands for cows, and proper drinking arrangements should be made. Again near every big town, as many cow-asylums as are necessary should be established and their maintenance should be in the

hands of able men. From time to time, inspections should be made.

Hospitals.—This department helps to make the life of men happy; it looks after children; it treats the horrid diseases of women, and in various ways serves mankind in general. The man, in whose charge this department may be, should be practical and fully qualified. He should have a mastery in medicine and surgery. Every Nizamat in the State should possess a big hospital and doctors and 'vaids', and every village with a population of 3,000 and above should also have a hospital. A perfect arrangement should be made of dispensing medicines free of charge to the poor and to the rich on payment. The doctors and 'vaids' should necessarily be good tempered and free from greed, for greed makes a man digress from his moral standard and principle and makes him do all sorts of evil. In the capital there should be several hospitals and each should be controlled by doctors, who are individually specialists and expert in their own branch. Throughout the city, every morning and evening there should be a hospital-on-wheels, moving about in each and every street, to supply the needs of the suffering. These mobile hospitals should not be driven by motor or horses but by bollocks, in order to prevent haste being made by those on duty. As many such hospitals as are necessary should be introduced. After finishing their day's work at fixed hours, they should take rest in appointed places. The sounding of a bugle or the ringing of a bell may serve to announce its arrival.

Educational Department.—All my efforts to write on a subject, so extensive and so important, are but feeble. I should like to say only this much again that an uneducated man is like a beast.

O Rajan, it was education that enabled the Aryans to perform such extraordinary and unexcelled deeds through which India was able to hold her head high.

Education is that great power which has enabled America, Europe and Japan to thrill the world with such amazing works. The Minister of Education should be highly educated, religious, of exceptionally good character and a great man, whose pure life, high education and affection should fill the atmosphere of the department. He should constantly work for the progress and extension of education. It is not an easy task to impart education for the simple reason that he who has no education has none to impart. Whatever arrangement is worth doing should be done for education.

There can be founded a university in Jaipur where education can be had for men, women and children. It should have two divisions, one should be assigned to the knowledge of Vedas in Sanskrit. Research in ancient scriptural writings should be made; Ancient History should be taught in detail, and the Aryans should be reminded of what they were, why they deteriorated and how to retrieve their lost prestige. The second division should be assigned to give all secular teaching, in all languages; every town and village, should, according to demand, have colleges and schools; matriculation should be made compulsory for all; education should be entirely unrestricted and free of assessment; boarding houses should be built in various places, which should provide board and lodging free to poor students; and school-materials may also be provided. I may well sum up my jottings on the subject of education by quoting the Shloka:—"Education breeds humility and humility causes capability, capability produces wealth and wealth promotes charity, and finally charity earns peace."

This department requires a great deal of money. But I trust that Sriman, by his efforts, will see that the contributions raised from sirdars, merchants and traders and 'mahants' of temples can be profitably

invested in this big concern. Bhisma at the request of Sri Krishnaji says in Shanti Parb that a raja can rightfully extort money for making investment in good works:—

"A Raja is the master of the wealth of all his subjects except that of the Brahmans, who have stuck to their traditional duties."

"A Raja should never extort money out of the hands of righteous people but instead should extort it from the wicked and transfer it to the righteous."

Female Education.—The table talk of the day is female education, and the present slogan of women is 'independence'. I feel that they are undoubtedly independent, and that they wrongly think that they are dependent. What they really wish to do when independent is difficult to understand. In this world, man has woman for his co-mate, and one cannot live without the other.

Women should be sympathetic towards men, and men, in their turn, should fully protect them, and should give them such training as will make them devout. For how easy it is to become unsubmissive and to infringe laws but how comparatively hard it is to abide by the laws laid down in the Shastras.

The basic element of female education is that of submission to one's husband. To abstain from all intoxicants, to refrain from singing obscene songs, to give up once for all doing ungodly works—these are a few of the constituents of female education. But all this is not easily done, and consequently the present-day female institutions discard them, and clamour only for so-called independence.

There have been women in the world of by-gone days, and have been such that to be like them is difficult; all the same their temperament would not permit them to stand in public and say one thing, but go home and do another. Not to say that the women

are entirely to blame; no, the greater part of the blame rests on the shoulders of the men, because it is they who have taught them to walk in evil ways. All men desire that women should be unconditionally chaste, pure in character and gentle, but on the other hand, is it not only meet that men should first themselves be pure, virtuous, religious and devoted to their wives? They should give up liquor and doing unseemly things under its influence, as is said of wine that when it is in, all wit is out; and they should also abandon such evil practices as are variously mentioned in the Shastras. It is only then that we can hope for any good works to proceed from them, and then and then alone can one class derive benefit from another.

Purdah.—Nowadays much is often heard of doing away with 'purdah.' Ere we proceed further it is only proper that we understand what is meant by purdah. It means to save something from being perceived by the other. Men and women remain covered all day long—the object being to cover their nakedness. It might seem that there would be little harm done if they are exposed to view—not unlike animals. But that super element termed wisdom, the gift bestowed only on humanity, indicates that it is harmful rather than profitable. It shall be just immodest because, if there be any profit, well! it would be to Africans and to the inhabitants who live nude in those remote corners of the earth yet inaccessible to civilization. The question at issue is whether the immediate removal of the purdah system prevalent among the Rajputs should be harmful or otherwise. Past History makes it quite clear that purdah among Rajputs was not so very essential but as times went by it gained pre-eminence. What should happen if we do away with purdah? Nothing but that the women will experience widely the vice existing in the Kshatriya community. For now their lives are seen through a

mirror darkly but then face to face. Can the Kshatriya community boast of such a standard of life as shall please their womenfolk when they come out of the purdah? Do not vainly dwell on the glories of the past as revealed by History.

First lift your community to such a level that as soon as the purdah is removed the women may proudly visualize how excellent are the ways of their fathers, husbands, brothers and sons. Be it not so that they should be heavy-hearted and repent and think that they were better when they had remained in purdah.

Brahma, when he created this world, thought a great deal about the question whether purdah should be done away with or not. He reached the conclusion that purdah should be kept and not done away with. Accordingly, to cover the body, a man has been provided with skin; eyes with eyelashes, ears with ear-drum which if burst is harmful—this fact can be tested if one chooses to build his faith on personal experience only! Mouth has its purdah in the upper and the lower lips. If they were removed, all charms shall have fled with them. All this has been done with great care and understanding. Yet the veil of the bright day is the sombre night. From this we may learn that purdah was not meant for men but for women. There is a limit or moderation of everything in this life; even so, solitary confinement is not what purdah stands for. It is not as a punishment that purdah is imposed upon women.

But ye men and women! Why should you not strive to cast away that thick veil of lust, wrath and covetousness that enshrouds your heart, and strive to make your life successful and worthy?

Drinking.—For this topic, suffice it to say that it is universally admitted to be detrimental, and positively no good arises from its use. The Shastras have reprobated its use but if the instances quoted

therein may not be accepted in proof, results may be seen if brought into use, even as much as from those who are already addicted to it. If its use can be relinquished all at once, there seems no apparent reason why it should be drunk in small quantities when it is decidedly bereft of any advantage. Its use, moreover, is ever so much conducive to immorality.

Shooting.—The duty assigned to a Kshatriya appertains to shooting, and if done in the manners and modes mentioned therein, it can be used to advantage, otherwise it is quite the most harmful. The shooting which is done whimsically and with motives of self-indulgence is harmful but that which promotes manliness and health is justifiable.

Among the modern princes the best example is provided by the late Maharana of Udaipur Srí Fateh Singhji, who was an unsurpassably superb shot, but his gun had never wantonly destroyed a life. To kill many beasts with a gun is surely not a criterion of chivalry and prowess—were it so, butchers should carry off the palm but this is obviously ridiculous. Why shooting is justified lies in the facts that it promotes the arts of riding and using weapons and tends to build up a muscular body, that it helps us to overcome, to some extent, our frailty of hunger and thirst. On the contrary, all other kinds of shooting are perverse and insensate. A mania for shooting gradually masters the mind and it is because of this that the Shastras have reprobated it, as it leaves little or no time for other important affairs and the government of State.

Mention may here be made of another evil existing in shoots like that of panther, where animals are firmly tied down as bait or prey for the panther which is awaited to come and devour it. By such practices mercy, which sits enthroned in the conscience, falls away. I earnestly hope that Sriman will be gracious enough to stop this practice, because to allow poor

animals to be tied down and devoured in this manner is far from what a Rajput ought to do.

Very often poverty and helplessness will plead to you for redress and will seek your protection from the wicked. In shoots generally a helpless and speechless animal is tied down to be a victim of the stronger and more powerful. You will experience such things as well, and perhaps they may have your temporary approval. But is it not strange and incomprehensible how one, who upholds justice and defends the weak and punishes the offender, can bear to see the vandalism of the wicked? I, therefore, earnestly pray that you will keep to the principles of your religion on this point too.

Worldly Affairs.—Every worldly affair falls into one of the three channels—lust, wrath and covetousness. The most influential saying is found in the Bhagwat Geeta, which runs as follows:—

> "Triple is the gate of hell:—lust, wrath and covetousness; therefore, renounce them."

All my efforts to eke out what is already laid down in Bhagwat Geeta, would be vain and superfluous, because it has, time and again, been experienced that whenever man is entangled in any of the three, he seldom, or never, gains but, on the other hand, always loses. O Rajan, my heart yearns humbly to offer this prayer that in this world, transient yet tempting, you may persevere to make your life a successful one. Your greatest friend and one that will never fail you is your Duty (dharm). You will be constantly faced by these three formidable enemies, lust, wrath and covetousness. You can overcome all the three if you make duty your chariot, shield yourself with vigour and shower the arrows of truth. The adorable god Ramchandra, speaking to Vivhikshan has shown him the way to conquer the world, as is narrated in this small Epistle. Be thoughtful enough to ride on the ever-

triumphant chariot, restricting the use of aeroplanes, motor cars and such vehicles. Bhagwan Sri Krishna, exhorting Arjun, had said that it is perseverance that takes a man through work, and has taught as follows :—

"O the destroyer of foe, arise and cast aside the weaknesses of your sleeping conscience."

and proceeding a little further has said, "Lust, man's formidable foe may be destroyed through penitence."

Therefore partake of this nectar-like Geeta replete with invaluable teachings.

Rule of Life.—To formulate this rule for a Raja of your order is beyond my ability, but since I have ventured to write at length I may as well write something on this topic. To wake up at four is commendable ; morning ablutions should be followed by light exercise and massage; thereafter divine worship and incense offering; horse-riding should find a place before 'dak' and newspaper reading, and after taking breakfast some rest is desirable. During the day, affairs of the State should be attended to in consultation with a particular minister, in his turn, once a week; a day should be fixed for holding conference with a full bench of ministers; petitioners should be allowed to appear in person, and their petitions should be read out to His Highness in their presence, much to their satisfaction; because Bhagwan Ram Chandraji expostulating with Lakshman says, (in Valmiki Ramayan) "The Raja who does not attend to public duties daily, is undoubtedly in utter darkness". The evening should be spent in out-door games and stroll; dinner may be taken at a convenient hour to facilitate retiring at ten, which will give six hours of rest, necessary to good health.

General.—One of the four following works, which will be beneficial to the people of the State,

may very well serve to commemorate your return from England, on completion of your education. You may use your kind discretion and taste in selecting any one of them.

Throughout the State no one should be allowed to own a brewery, and those that are already in existence *should be closed down once for all. Foreign* liquor should be too heavily taxed to be imported. Only one shop should remain and that should be properly supervised. The buyer should affix his signature in the register provided, and the supply should be limited, debarring its access to the youth, and smuggling should be very rigorously punished. The newly-instated reforms in Jaipur have caused a return of some lakhs in revenue, and the minister concerned would undoubtedly be the last man to advise you to place a ban on its sale. But is it appropriate for a well-governed state to extort money out of its subjects through its ruinous and cankering use? The greatest duty entrusted to the charge of a ruler is to protect his people from evil and not to wrongfully exact money from them. This kind of oppression is almost similar to the case of a man extorting money from his brother, son, grandson, wife and friends etc. by getting them drunk loathsomely. To see them in the throes of foul disease or seeing them breathe their last fumes of a corrupted life and not to be moved with compassion is far from humane. Therefore, will you be kind enough to see that a very strict and restrained trade is carried on in your state, just as Americans have done in their country? It pains me to observe that the recent reforms have, besides other things, tended towards making the state wholly responsible for paying heavy toll, it shall have to, for the disdainful vice rampant through its brewing.

Should such a reformation of traffic be deemed hard of achievement, the revenue accruing from it

should be used for charity because such an income shall tinge even that treasure which was there before; for instance just as a drop of 'congee' (sour matter) turns milk sour. Similarly foully obtained treasure should not find its home in the State Treasury. If this huge amount annually were used in establishing an asylum for cows throughout the state it would be highly fruitful.

In your state, there are many waifs and strays of Rajputs and Brahmans, who unfortunately cannot acquire education without some aid, and even if they have any inclination towards school and college studies, they fail to support themselves and eventually take to begging. Throughout, their life is a bed of thorns. One of the best forms of charity will be to found a big boarding house, which will provide shelter and other bodily needs for such destitute ones. And these several lakhs can be very profitably utilized in this as well as in asylums for cows. Besides these, asylums should be erected for such men as are lame, maimed, blind and helpless, and who should be tended and looked after carefully.

These are works that shall withstand the ravages of time, within whose bending sickle's compass such miracles as these can be wrought with defying human hands. Praising Raja Daleep, Kalidas has said that by being responsible for the education and welfare of his subjects, he was more of a 'father' to them than the physical ones who were responsible merely for their coming into being.

Idol-worship.—You will come across the question of idol-worship. The only reply is that there is no country, or man or nation that does not worship idols. There is always in the mind of Christians a mental picture of the good works of Christ and similarly the lives of their prophets in the mind of Mohammadans. In the same way, there is no harm if the minds of the

Hindus are impressed with the idols of Sri Ram, Krishna, Shanker, Hanuman, Ganesh and Devi. During your travels in Europe, you must have often come across the statues of ancient and chivalrous persons. The people cherish their memory with great respect and love.

When the eye falls on these statues the past historic valour pervades the body and mind of the youth as the lightning flashes. No other type of training but that of idolatry has inspired the people of Europe with ardent love for freedom and patriotism and a fiery passion for enterprise.

The world is convinced of the fact that the later life of a disciple is considerably influenced by that of the teacher. For example, a child will grow up according to the environment he is placed in; this is true particularly of the statues and pictures of those great men, whose lives serve to remind us that we can make our lives sublime.

This led the saints of India, in days gone by, very wisely to preach idol-worship, laying down statutes, which have defied improvement. The significant effect of having idols of 'avatars' in different places in the market is worth comtemplation. All that happens in India nowadays is averse to this. A man can become pious by reading the lives of great men and 'avatars' that have once lived in India, and who have had no contemporaries in other countries. Still the people of this:country are so strange that the days of their lives are spent in lust and hoarding treasures. The nation that was once supreme now lies low, and is still labouring in the dark. We fail to see this nation up and doing anything outstanding in way of reforming others, or anything that is charitable and of good report, or in the advancement and better understanding of religion or in doing what is just and true.

What is the state of their holy temples, their own houses, their lives, their works and their conscience ! If a true account were given, few histories shall reveal darker pages. In fine, one example from Bhagwat Geeta should suffice—that when Sri Krishna saw that his kinsmen, the Yadhavs, not fit to exist in the world, and when he felt the danger of the rebellious spirit that had mastered them, he thought it fit to lay their houses desolate and he, ultimately, did so.

This disastrous policy of Sri Krishna in itself is questionable; in Geeta he very distinctly says, "An iota of my power sustains the world." Then it can be asked where lay the wisdom in the act. Similarly, it was not difficult for Sri Ram Chandraji to have given an understanding heart and have reformed 'rakshasas'; but it is of God to punish the evil just as in purifying gold, baptism of fire is necessary.

You must keep constantly before you the lives of chivalrous, indomitable, enterprising and true Kshatriyas like Maharaja Vikram. After him, history has not known any Raja of his type. When India was invaded by outsiders, Vikram at the head of a very large army reached the frontier of Hindustan and made the enemies retreat in the holy war. Nothing else could have better reminded people of the great victory than the institution of the Sambat does to every Indian. Every year, on the New Year's Day, at least for a moment, it comes to the mind of an Indian that so many years ago there had been a wonderful Kshatriya prince in our country; and to a pondering mind comes the thought that there has never been so illustrious a son in the house of any Kshatriya since. This Maharaja was very chivalrous, considerate, of a charitable heart, enterprising and adventurous. The only title he had was "Redresser of public suffering" which was conferred on him by his beloved subjects, out of deep reverence, in token of his meritorious

valour and unblemished character. To this day, mothers repeat to their children, in the form of short stories, his heroic and charitable works. But who would care to listen to such stories when the world has in it such thrills as theatrical performances, and the sweet strains of songs broadcasted through swift traversing wireless. O Rajan ! would you like to become such ? Why not; you are what he was; you also adorn the throne of Sri Bhagwan Ram Chandraji. But simply to consider that you cannot become such is a gross mistake in the light of what our highly-honoured Sri Krishna says:—

> One is one's own redeemer, and should not destroy one's ownself; one is one's own comrade, and is one's own foe; One who has overcome self, is one's own brother, and who has not is one's own foe.

If you wish to uplift yourself to that high standard, you can by having the above as your guiding principle; but it shall be done to you even as you will. When a person can change his nature, is it not practicable that you may also fill yourself with rarè qualities through your personal labour ? Dattatraya has well said that he has 24 teachers, and clearly explained the way. In 24 different places and in 24 ways he learnt the teachings, and took them to be his masters. In the same manner you, just as well, can profit yourself by observing acutely the treatment that would be meted out in dealing with the worldly. Only one thing is required and that is wisdom like that of Dattatriya. When you meet perchance a drunkard, learn that drinking is the source of so many evils, for instance the house of Jadavs is no more in consequence thereof; let the unlawful possessors of women instruct you, how highly condemnable the practice is, remembering that it caused utter destruction to Rawan and

his family; let the gamblers teach you that it is equally harmful to those who gamble as in case of the Kurus and the Pandus. We come to the conclusion, therefore, that however great a raja may be, however unconquerable a Kshatriya may be, however wise a Brahman may be and however unflinching a recluse may be, they will not escape the fatal sting of immoral works, and he, together with his issue, will be wiped off from the face of the earth.

After all has been said and done, this epistle of mine should have remained incondite were it not to include amongst its pages something about Veer Shiromani Maharana Pratap.

Ever since invasions were made on India by the Musalmans, coming through Peshawar, the pages, that fill the history of the Maharanas of Udaipur, bear testimony to the skill, nicety and that high sense of duty towards the motherland and their own community which they have constantly displayed, together with unselfishness, unstinted chivalry and the pride inherent amongst the Kshatriyas.

In those days, courageous women took full share in the work their men did, and have left eternally footprints on the sands of time. The heroic deeds of these Maharanas have been very dear to me, because from my early childhood I have heard them, for which I am indebted to my father. They should be read by all. The name of Maharana Pratap is on the lips of every child, not only in his own country but even in America, Europe, etc.

When I visited Chitore I saw an American lady there. She, on being questioned, expressed how her life-long ambition to see Chitore was gratified that day. She saw intently the Palace of Padmani, where that adorable lady, with thousands of others burnt themselves to ashes. What passed in her mind then, she alone knew. By visiting Chitore, a man in

his thought turns toward a higher plane, and in his veins courses a blood filled with a new kind of zest. Alluding to the great influence that was cast on a famous Viceroy like Lord Curzon, on his visit to Chitore, he has spoken appropriate words.

We can reckon with deep love the name of Maharana Pratap. It moves even a dead heart; is it possible that a living man may not be impregnated with this right spirit? But alas! how base are the Kshatriyas who in body live but spiritually are stone dead. Does there prevail amongst the people, living in Chitore and the neighbourhood, a spirit of true patriotism and intrinsic love for duty and for truth?

The *Durgs* (forts) have long been anxiously awaiting the day when a true, chivalrous Rajput may be born, and he by his illustrious and pure life, uplift his depressed community in the sight of other peoples. But Chitore has hoped in vain; and, considering the ways of the rising generation of the Kashatriyas, it can be safely predicted that Dryodhana and his victory shall never come again; likewise, the possession of Chitore by heroic Kshatriyas appears almost impossible. The history of Maharana Pratap is voluminous and I am not going to relate it here. I shall content myself to reproduce a few Dohas.

The Maharana who knows no humiliation, has been forced, by dint of circumstances, to pass his days attended by feudatory chiefs in dense woods.

Blessed was the night when you were born, which brought into the world the glory of the House of Shishodiya.

O Maharana Pratap Singh, when duty lost its significance in the eyes of every other country, it was you alone who protected it. It was in Meywar, your dominions, that it dwelt secure. Therefore, forsake not what you have once stood by.

When the Maharana lost his dominions he

wandered about but he truly defended the faith of which to this day the land of Meywar is proud, and the Shishodiya swell in elation.

May God send down continually to the Rajput community such illuminaries and celestial jewels as Maharana Pratap and Vikram. O Rajan, in your state there are apparently two kinds of 'Sirdars'. Firstly, those, who from your ocean-like kingdom, constantly draw out water in the form of clouds, and then empty them out on foreign soil. Secondly, those, who like rivers (tributaries), are always feeding up, day and night, your ocean-like treasure and keeping up its level. Therefore, you must try to keep both in working order and in their respective positions, lest the absence of one should impair the other.

To talk symbolically, a kingdom is like to a tree and the minor states are its roots. If these states, considering them to be immaterial, were hewn down, there will be great danger of the tree falling all of a sudden through a gust of wind. No sooner does the tree fall than the flourishing green boughs cease to be homes of those sweet-singing birds which, being honey-tongued, inveigle men and grow fat on the deliciously sweet and juicy fruits of the tree. They are mere birds of passage; as soon as the tree falls, off they fly, never to return; and there shall be no sympathy, let alone wailing and weeping for the tree that once gave them shelter to live in and fruits to eat. For them there are many such trees, and they will not miss it. All this happened simply because those tiny succulent roots were cut up.

Therefore, O Rajan, neglect not to water this tree, if to keep it flourishing and ever-green is of your seeking.

Do the present day Brahman, Kshatriya, Vaish and Shudra act according to their status and do they possess the essential qualities or not? As a manner

of test, they may make the following 'shloka' from Geeta a touch-stone for separating wheat from tares.

Are we biased with class prejudice, or is there, in reality, any quality in us worth boasting? Sri Krishna himself says that he has made four different classes of men, each according to its qualities and occupation. It is clear that they, who have not the distinguishing character of their class, cannot claim to belong to that class.

Serenity, self-restraint, austerity, purity, forgiveness and also uprightness, wisdom, knowledge, belief in God, are the duties of a Brahman, born of his own nature.

Prowess, splendour, firmness, dexterity, and also not flying from battle, generosity, and mightiness are the inborn qualities of a Kshatriya.

Ploughing, protection of kine, and trade are the duties of the Vaishya.

To serve, and serve well, is the Shudra's duty born of his own nature.

A ruler is wise when he readily accepts precepts. In his service, people are of two distinct types—those who advise freely and truly, and others, who to achieve their own selfish ends, play upon their master as a mere puppet in their hands. Such people have no regard for either the Raja or his state. The other set of people think of the interests of the raja and their own as identical. This is why they advise frankly, but such advice, since it springs from the heart and is not desired of flattery, may appear unpalatable and unseemly. But wise rajas adopt it in practice, and discern the ways of the just and reject evil. This is only possible if the advice is taken without prejudice or passion.

An incident in the career of your grand father, Maharaja Sri Ramsinghji, is worth quoting here:—In his youth he had fallen a victim to drinking, and

his flattering courtiers did not check him from falling into the clutch of this vice, which gradually made him subservient. A well-thinking, ordinary brahman, who was in the state service, used to be sorely grieved to see this. One day it so happened that in the Rup Niwas Garden, on the brink of a swimming bath, His Highness was seated, and in front of him, as usual, on a silver salver were placed silver vessels containing wine. The truth and sincerity of the Brahman predominated and he lifted the silver salver and cups with their alluring contents and pitched them into the bath. He having spoken these words relinquished the place—You rule over the Kachhawas! nobody knows what calamity will befall you. Yesterday, when the Resident came to see you, your condition was deplorable. I cannot bear to see this work carried on in my presence; we were destined to know each other as we have already done, and now it must needs end; keeping these base and selfish courtiers who know nothing but flattery, you will never be happy. When he finished saying this, he hastily made his way out of the garden, because almost everyone is afraid of the fiery wrath of a ruler. Here ends the first scene of the show.

The taciturn Maharaja Ram Singhji did not evince the slightest sign of displeasure at this apparently insulting behaviour of the Brahman. He, on the contrary, meditated for a long time and ordered that Prohit Ram Pershad should be summoned to his presence. Immediately in order to curry favour with the rajah, and to get him rigorous punishment all haste was made to present the Brahman befor His Highness. The Maharaja asked him his reason for behaving towards him in such a manner. He pleaded, yesterday when the Resident visited you, before his departure for Agra on some important business, you were so heavily drunk that you were unmanageable

and unfit for the interview. The Sahib, on asking me about you, was told that you had high fever and consequently could not see him. The Sahib went away desiring not to give you any trouble. That very liquor which had, a day before, affected your honour so much, was again served out to you early in the morning. I was much afflicted thereby, and all that I did was done in your best interest. The Maharaja sat absorbed in thought, and after a while told Purohit Ram Pershadji that he thenceforward would never drink; and he never did even unto the last. Immediately Purohit Ran Pershadji rose in the esteem of the Maharaja, who rewarded him by granting a jagir which to this day belongs to his family.

Once upon a time Thakur Fateh Singhji, during the days of his ministry, requested the Maharaja to allow him to deal severely with some villagers who had put aside a certain regulation from being given effect to. In protest, the Maharaja advised him to see whether his regulation was worth obedience or not. If it was wrong, it should be withdrawn.

Moreover, there lay an unquenching desire within the Maharaja to investigate secretly the affairs of the state and he did so, but did not succeed very much in the government of his state which was considerably in the hands of the Minister.

Previously, I have alluded to the benignant sublimity of the late Maharajah Bahadur Ramsinghji. In the following lines, four more instances are cited with a view to support and vivify that remarkable character which panted for truthfulness. The Maharaja Saheb was fond of hawking and gradually it was noticed that he began to have a deep-rooted attachment towards this cruel sport. Birds and pigeons fattened the hawks that had gained the liking of a ruler. His courtiers, grieved and sorely tried though they were by this act of merciless transgression,

yet dared not check their master from an infatuation which daily became rampant.

Then, of a sudden, it so happened that the Maharaja had some kind of eye-trouble and which eventually necessitated his immediately proceeding to Simla. An operation was performed but left as its legacy considerable pain and disquiet. Twelve hours had passed before the doctor allowed him to speak to anybody, as speech is generally harmful to an operation of the eye. His Excellency Lord Mayo, a very intimate friend of his, came to see him more than once but went away with silence unbroken. The time passed and in the evening the Maharaja was allowed to speak to some of his attendants. He summoned in Sir Pratap Singhji, Thakur Zorawar Singhji Champawat and Phulendraji to his presence and complained of a severe pain, almost unbearable. Whereupon the former two tendered their sympathies and expressed their sincere wishes for a very speedy recovery, if God so willed. But phulendraji, at last, gave vent to his feelings and shouted out, whose eyes will suffer more than those of this cruel Maharajah, in as much as he delights in witnessing the eyes of thousands of birds being picked out by hawks? Thakur Zorawar Singhji criticised him saying that his vindication was painfully out of season. Up came another retort from the lips of this truthful man, justifying his denunciation because he wanted the rajah especially at that time to know fully what it means to cause pain to others. The Maharajah Saheb intervened and showed his preference for a truthful tongue to a flattering one.

II. The hawkers often trespassed by catching birds in the premises of Sirdars and Brahmans. When checked, they used to become overbearing in their attitude because they knew that the Maharajah himself was fond of the same pursuit. They were bribed in order to make them go away from thence.

This evil practice in a short time became rife. Close upon this very Ram Bagh, where now stands a magnificient palace, some hawkers saw Thakur Vijai Singhji doing his morning worship under a bunyan tree. They thought it was a capital opportunity to annoy Rawalji, who would surely give them some money. Right enough did they begin to catch birds on that tree. Rawalji waited for some time before he ordered his men to beat those persons so soundly as to teach them a lesson for the future. His orders having been complied with, he went home.

A big petition was filed in the presence of the Maharajah against Rawalji. The Maharajah said that he did not find any fault in the behaviour of Rawalji but, moreover, forbade them continuing such evil practice.

Some hawkers went on catching birds in the premises of Thakur Fateh Singhji Champawat where, as well, they were beaten mercilessly. The Maharajah considered these mishaps and once for all gave up this infernal hobby.

III. When the Junior Maharani Srimati Rathorji Saheb departed from this life the Maharaja grieved sorely for the blow he suffered in her death He was overwhelmed with grief so much that he was seen negligent towards his food. Kunwar Narayan Singhji Champawat, who was one of the inner circle, advised him not to allow grief to weaken him in body and soul. The Maharaja said that one who had suffered could feel the suffering of others. The harsh words, that Kunwar Narayan Singhji spoke, I feel, should not find a place for themselves in this book, but all the same they were true. The Maharaja kept silent. This unexpected silence gave rise to fear in the heart of Narayan Singhji who thought he had made him angry. Months afterwards he happened to praise Narayan Singhji for his outspokenness and good

advice, which helped to make him dear to him as his own son.

IV. Maharaja Ram Singhji accompanied by a select few travelled incognito on camel-back with the purpose of getting into close contact with his subjects to gather information concerning his own rule and that of the other states. This tour was very instructive.

Once upon a time riding listlessly and having been overcome with fatigue, he came to a village Rewasa near Khandella. Here they have a temple of Sri Raghunathji Maharaj even to this day. The Maharaja and his companions sought protection of the Mahant only for the night, saying that they were strangers and would make their own arrangement for some food to eat. The mahant who was busy with dancing and singing ordered that the travellers should not be let in, but should be chased away. On not being heard, they went on and spent the night at an old woman's. When the Maharaja returned to Jaipur he passed an order to take away from the jurisdiction of the mahant those two villages which were a present to the temple from Khandella and Sikar. It was very wise of the Maharaja Saheb but his ministers through negligence did not see his orders properly carried out. But all the villages under the subjugation of the temple were confiscated by the State and have remained so to this day, and the largesse goes to the State Treasury.

Bhartrihari says :—A ruler suffers for the incapability of his minister—this proves true in this case. His ministers guided by a covetous spirit, confiscated that benefice which was offered up to Sri Bhagwan Ram Chandra and consequently the returns go to fatten the State Treasury.

Please note what Bhagwan Sri Krishna says to Udhav in the 11th Chapter of Srimad Bhagwat Geeta:—No one has any right to confiscate the

benefice which was once dedicated by oneself or by others.

Besides, it was not explicitly ordered by the Maharaja Ram Singhji that the confiscation of the villages was to be brought into force; what he desired, and quite justifiably too, was to reform when necessary, for a king should serve his subjects. The ministers did not properly catch the drift of his orders or, in all probability, his orders would not have been translated into action in this manner. Therefore, O Rajan! I confidently make this humble supplication to you that you will retrieve the lost name by reinstating those villages to the charge of the mahant of that temple. Their largesse should not go to the State Treasury because if it does, not only is the commandment broken but also the treasury is fouled. You may pray to Sri Raghunathji for the remission of this sinful error, for it is one of the commandments of Maharaja Manu:—It is the foremost duty of a man to make amends for the faults of his father and forefathers. Even the 'thikana' (estate) has no right to retake the benefice which was once dedicated by its forefathers. Along with this restoration there are a couple of reformatory suggestions in regard to it.

Firstly, that a faithful manager of these villages should be kept in the temple, and he should guard against any like crisis that may rise again. The sum of money which remains over after that which is consecrated should be set apart for Goshala and school and their upkeep.

Secondly, the returns of these villages, accumulated in the treasury, should be spent on goshala, school and boarding house or on such charitable institutions. This village of Rewasa would be a very suitable place where to build these institutions. These reforms will, no doubt, establish a good name for yourself.

Such mistakes are often committed in the states, and frequently in cases of adoption and succession. My humble self knows of some instances of infallible proof of such mistakes, and, therefore, prays that you should be pleased to rectify them as there is nothing more praiseworthy or charitable. This particular case may be untrue, my knowledge being not first-hand; but whatever the reasons of the confiscation of these villages be, it is desirable to institute necessary reforms. You must not hesitate for if you, in the best interest of the estate, do not steer a course clear of all evils and dangers, who else can be expected to do so ?

Through this incident Bhagwan Sri Ram Chandra has taught such lessons as are worthy of adoption in life. The first of these to Maharajah Ram Singhji was to be ever willing to hear the petitions of helpless people and never to slam the door in the face of a homeless stranger and spurn him away. Then the mahant was taught how Sri Bhagwan through the rajah punishes those people who squander the money entrusted to them. Again, the rajah is taught to keep a strict watch on matters of vital importance; and last of all, as it is time and again experienced that his orders are neglected or in part observed, he should clearly see that he is invariably obeyed by his ministers. This little affair has been the source of four practical instructions; likewise, a man is sometimes taught the sweetest songs of his life.

O Rajan ! The above-written incidents are true and are not concoctions of a rambling mind. I hope they will be instructive to you. I also hope that you will use all wisdom in the discernment of the right and the wrong.

A word in Praise of Maharajah Madho Singhji :—

Your revered father, the late Maharajah Madho Singhji made a signal achievement which earned for

him a name throughout this country. A band of enterprising Kachchhawas, in course of time, emigrated to Kashmere and began to rule there. From Jaipur to Kashmere is a far cry and social intercourse among the Kachchhawas of the two places naturally fell into abeyance. The late Maharajah, having acquainted himself with the modes and manners of their living, determined to bridge the gulf that was agape. He sent tokens of love for those Kachchhawas, who were in Kashmere, by giving honour to his beloved son Kunwar Man Singhji in becoming instrumental for their reception and welcome. Thus he did succeed in re-establishing a chain of brotherhood. I am confident that Shreeman in future will be too glad to follow in the footsteps of Madho Naresh whenever it is at all possible.

Maji Saheb Sri Rathorji was gracious enough to have built a 'dharmshala' outside the Chandpol Gate. This charitable institution was very serviceable for the travellers, but a few days before the demise of the Maharaja Madho Singhji changes, which obviously annoyed the Maji Saheb, were brought about in it. But it is sure that these changes were not approved of by the late Maharajah and that they just took place some how. Because people should not be misled in their thoughts, it is your duty to see that reforms are made, more so because there dwell a foreboding in the mind of Maji Saheb that such changes are to take place and that everything shall be set aright by her dear grandson. The following words, inscribed in the 'dharmshala', convey this message to you:—O Prithwinath Man Singh! Just imagine how can a sacrifice once made be innocently retaken!

Again, a raja should be like unto a 'chandan' tree which gives its sweet fragrance to its own species—the trees, whether bitter, stunted or crooked. Thus it sometimes enhances their value. Overtaken, as if by

stupor, the most dreadful serpents, not unlike vicious people, come writhing, and entwine themselves around it in order to have some of the sweet-scented fragrance in themselves. But even a tree can discern the good and discard the evil. It does not bestow its fragrance upon serpents as it does in the case of trees; but instead, they lose their lives at the hands of men who come for this sweet-scented tree.

This is what a Raja ought to be like. Many come with ulterior motives to be given something from the precious state treasure; but at the time of doing charity, he ought to consider who is worthy and who is not. The teaching of Bhagwat Geeta is invaluable:—

To be charitable is essential, but country, time and worthiness should be taken into consideration, all of which go to make charity effectual.

I hope that you will spare some of your leisure in perusing and meditating upon what has been said, and that I shall not be so unfortunate as to suffer disappointment from you, in whom I have every reason to feel confidence and hope.

Finally, I desire to add that you should not fail to act upon the teachings, laid down by Sri Krishna and Sri Ram Chandra, and to study the ancient sacred books so that God may bless you with all happiness and long life.

In order to remove the difficulties which beset the study of these various sacred books, I herewith quote these verses from Sri Bhagwad Geeta and a proverb in Hindi. By engraving these upon your heart and acting accordingly, you will have in abundance the grace of God, all the days of your life. There is no doubt you will not only immortalize your good name, but will be an example to the world and thus raise the prestige of the Rajputs.

"Triple is the gate of hell—lust, wrath and covetousness; therefore renounce them".

Listen intently what the principles of duty are, and treasure them up in your heart. It is highly probable that what annoys us shall annoy others as well. Therefore, whatsoever ye would that men should do to you, do ye even so to them.

Truth, dharma, enthusiasm for work, kindness to living beings, sweet speech, and respect for Brahman, God and guests.

The five duties laid down for a King are to punish the wicked, to respect the gentle, to increase the treasury by just means, to be impartial and to protect the realm.

O Raghav! you possess the following virtues:—

Readiness in the cause of Dharma, sweet speech, generosity, genuine friendship, due regard for guru, steadiness of purpose, purity of character, respect for virtues, knowledge of Shastras, handsome and winning personality and faith in Sadashiva.

Shiva whom the Shaiva worship, Brahma whom the Vedantis worship, Budha whom the reasoning Boudhas worship, Creator whom the Naiyaik worship, Arhat whom the Jainis worship and Karma to which the Mimansak pin their faith, may give you all that you desire.

O Krishna! would that my Swan-heart may get charmed and entrapped in the cage of your lotus feet, because it is so difficult to remember you at the time of death, when one's throat gets suffocated on account of cough, bile and gout.

I may again and again be born as a slave of those who are the true and firm worshippers of Sri Krishna.

It is desirable to sing Geeta and Sahasranam, to keep the figure of Lakshmipati always in mind, to seek the company of the wise and the gentle and to give wealth in charity.

With the propitious aid of Geeta, Janak and many

other rulers, who led an unblemished life here and eventually earned a world-wide fame for themselves, have attained divine bliss.

Upanishads are cows and Gopal Nandan Sri Krishna milks them; Arjun is a calf; Pundits are beggars and the sacred Geeta is the delicious milk.

You are like a full moon of the clan of Kachchhawas and, as luck would have it, I also happen to be a member of it. The keenness with which the waves succeed waves in rising to the sky at the time of full moon is not very dissimilar to my keenness, which encourages me to make this humble, heart-whole presentation to you this day.

My liege! In the end, I make this supplication to you that you will be gracious enough to pardon me if my pen has failed where my prudence has not. It becomes a monarch to be forgiving. I plead for forgiveness in those words which Sri Arjun addressed to Sri Krishna :—

O Lord! You, if you choose to, can forgive me my trespasses even as a father forgiveth his son, a friend doth a friend and as husband and wife forgive each other.

May the dust of the lotus-feet of Ram Chandraji bestow upon you all happiness, and peace abiding.

In the bond,

Malsisar Bhawan,
Jaipur, Chait Shukla 9
Sambat 1987.

SANSKRIT SELECTIONS.

SANSKRIT SELECTIONS

from

MANUSMRITI.

The use of five things in a household causes destruction of life. They are: fire-place, grinding stone, broom, mortar and pitcher. One who uses these commits a sin.

The ancient sages have prescribed five methods of expiating the above sins:—

Giving education, oblation to the ancestors, havan, giving food to the living beings and hospitality to strangers.

A family man who will stick to the above precepts will not be responsible for the sin committed by the aforesaid acts.

A person who denies food to gods, strangers, servants, father, mother and spirits is dead although he lives.

As all the rivers and rivulets ultimately find their resort to a sea, similarly all saints and renouncers of wordly life must necessarily depend on a family man of the material world.

Courage, forgiveness, to control the desires and the will, not to steal, to be righteous inside and outside, to understand the Shastras and Brahmagyan, honesty, and to be free from influences of anger are the ten cardinal points of "Dharma."

Following the ten precepts of Dharma, having paid off his debts and having heard Vedanta, a Brahman or Kshatriya or Vaish should take up Asceticism.

I shall deal at length as to how a king should act, how he has been created and how he can attain full success.

A Kshatriya Raja who wears the sacred thread must rule lawfully and protect his people.

In this world when there was no king, fear reigned supreme and subjects were in distress. Therefore, God created a king for their protection.

God created the king by infusing in him the spirits of Indra (god of rain and god of gods), Vayu (god of air), Yam (god of death), Surya (sun), Agni (fire), Varun (god of water), Chandrama (Moon) and Kuber (god of wealth), the eight gods who control the world.

Because the king has been created out of the spirits of the eight gods controlling the world, his will is supreme.

He who wishes to look at the king face to face is like one looking at the sun which dazzles the eye and is awe-inspiring to the heart.

A king is Agni, Sun, Moon, Yam, Kuber, Varun and Indra, through his influence.

A king assumes many forms, according to the place, time, work and circumstances, after due deliberation.

Before creating a king, God created for him Law, which gives protection to people, which is all powerful and which guides justice.

A king should punish the culprits after full consideration of the place, time, circumstances and culture.

If a king were not to mete out punishments promptly, the strong would roast the weak like a fish.

It is hard to find honest and conscientious persons. It is the fear of punishment that keeps people on the right path and makes it possible to enjoy life.

A king who makes the right use of law and dispenses justice, flourishes in wealth, in righteousness and other worldly enjoyments. On the other hand, a king who is corrupt and narrow-minded is punished and destroyed.

A king who is righteous, honest, who works according to the precepts of Shastras and is wise, can dispense justice and mete out punishments well by the help of ministers and others.

A king should be justice-loving and ready to punish the wicked. He should not be malicious towards his well-wishers and he should be kind to Brahmans.

A king who lives and acts according to these rules, earns a world-wide reputation for himself, however poor he may be. His fame spreads like a drop of oil on water.

A king after getting up in the morning should sit with wise and learned Brahmans—who should be the masters of all the three Vedas. He should act according to their counsel.

A king should revere holy old Brahmans, the masters of Veda, because even the Rakshasas always respect a king who has a regard for old and venerable people.

Many kings were ruined because of indiscretion and many got kingdoms—while they were living in jungles—through their humble and sweet nature.

There is no end to the corruptions due to the ten habits that have sprung up from self-lust and eight habits that have taken their birth from Anger. Therefore one should try to get rid of them.

A king who is in the grip of the habits that are born of lust, ruins his wealth and religion; and a king who is under the control of habits that are the outcome of Anger ruins his health.

The ten habits of 'shikar' gambling, sleeping during the day, speaking ill of others, lust for women, drinking wine, dancing, music and useless roaming are born of self-lust.

Back-biting, injustice, sedition, jealousy, finding faults in the good qualities of others, robbing the wealth of another, abusing and cruelty are the eight habits born of Anger.

Of all the habits born of self-lust, drinking of wine, gambling, lust for women and 'shikar' are extremely corrupting and harmful.

Of the habits born of Anger, assault, harsh words, putting another to loss of money are very injurious.

Addictedness to evil habits is more painful than death. A person under the control of evil habits goes to hell and one who is free from such habits goes to heaven.

It is known from ancient times that the servants of the king should be well up in Politics, brave,

excellent shots, of good family and tried. Seven or eight selected ones should be kept in the service.

How can a king alone manage such a big task of government without help, when a single person finds it so difficult to control even small affairs.

Just an adequate number of hard-working and wise servants should be employed—in the service of the king—who can do the work fully well.

Such servants should be employed who are well-informed, who can understand and rightly guess the feelings and desires in the heart of others and who are of clear conscience, wise and of good family.

The servants of a righteous, wise, skilful, loving, well-informed, handsome and fearless king of sharp memory, are praiseworthy.

A king who lives in a palace should marry a beautiful, virtuous and polished girl of his own caste and of a high family.

A king should get up very early in the morning. After attending the call of nature and performing Hawan and showing courtesy to Brahmans, he should enter the State Council.

After politely dismissing the spectators, he should discuss state affairs with his ministers.

He should eat well-tested food that has been purified of poisonous matters by 'mantras' and which has been prepared by a loyal cook who understands the right time for meals and who is incapable of being won over by the enemies.

A king should mix preventive medicines in his food to counteract the effects of any poison and he should wear jewels which would nullify such influences.

Well-decorated and tried women should serve the king in fanning, giving water and burning incense.

In this way a healthy king should rule and personally look after the state affairs. If he becomes ill, he should get the work done by his subordinates.

Just as Indra satisfies the desires of people by sending rains for four months, similarly a king should satisfy the wishes of his subjects.

Just as the sun draws water from the earth during the eight months, similarly a king should collect the taxes without causing trouble and inconvenience to the subjects.

Just as air pervades all living beings, so a king should get all information regarding his state from his servants.

Just as Yam does not spare friend or foe, similarly a king should rule his subjects impartially.

Just as Varun ties the guilty persons by his noose so a king should punish the wicked.

Just as men feel pleasure when they see the full moon, in the same way if the subjects feel happy when they see their king, that king is Chandra-vratdhari.

Agni-vrat means to be as unsparing as fire towards sinners and to get the wicked ministers executed.

Just as Earth bears the burden of all persons equally, in the same way a king should rule with even-handed justice.

leave there thy gift before the altar, and go thy way; first be reconciled to thy brother, and then come and offer thy gift.

Ye have heard that it was said by them of old time, Thou shalt not commit adultery: But I say unto you, that whosoever looketh on a woman to lust after her hath committed adultery with her already in his heart.

Take heed that ye do not your alms before men, to be seen of them: otherwise ye have no reward of your father which is in heaven. Therefore when thou doest thine alms, do not sound a trumpet before thee, as the hypocrites do in the synagogues and in the streets, that they may have glory of men. Verily I say unto you, They have their reward. But when thou doest alms, let not thy left hand know what thy right hand doeth: That thine alms may be in secret: and thy Father which seeth in secret himself shall reward thee openly.

And when thou prayest, thou shall not be as the hypocrites are: for they love to pray standing in the synagogues and in the corners of the streets, that they may be seen of men. Verily I say unto you, They have their reward. But thou, when thou prayest, enter into thy closet, and when thou hast shut the door, pray to thy Father which is in secret; and thy Father which seeth in secret shall reward thee openly. But when ye pray, use not vain repetitions, as the heathen do: for they think that they shall be heard for their much speaking. Be not ye therefore like unto them: for your Father knoweth what things ye have need of, before ye ask him.

No man can serve two masters: for either he will hate the one, and love the other; or else he will hold

to the one, and despise the other. Ye cannot serve God and mammon.

Judge not, that ye be not judged. For with what judgment ye judge, ye shall be judged: and with what measure ye mete, it shall be measured to you again.

Give not that which is holy unto the dogs, neither cast ye your pearls before swine, lest they trample them under their feet, and turn again and rend you.

Ask, and it shall be given you; seek, and ye shall find; knock, and it shall be opened unto you: For every one that asketh receiveth; and he that seeketh findeth; and to him that knocketh it shall be opened.

All things whatsoever ye would that men should do to you, do ye even so to them: for this is the law and the prophets.

Enter ye in at the strait gate: for wide is the gate, and broad is the way, that leadeth to destruction, and many there be which go in thereat: Because strait is the gate, and narrow is the way, which leadeth unto life, and few there be that find it.

Beware of false prophets, which come to you in sheep's clothing, but inwardly they are ravening wolves. Ye shall know them by their fruits.

Not every one that saith unto me, Lord, Lord, shall enter into the kingdom of heaven; but he that doeth the will of my Father which is in heaven. Therefore whosoever heareth these sayings of mine, and doeth them, I will liken him unto a wise man, which built his house upon a rock. And the rain descended, and the floods came, and the winds blew and beat upon that house; and it fell not: for it was founded upon a rock.

They that be whole need not a physician, but they that are sick. But go ye and learn what that meaneth, I will have mercy, and not sacrifice: for I am not come to call the righteous, but sinners to repentance.

Fear not them which kill the body, but are not able to kill the soul: but rather fear him which is able to destroy both soul and body in hell.

Come unto me, all ye that labour and are heavy laden, and I will give you rest. Take my yoke upon you, and learn of me; for I am meek and lowly in heart: and ye shall find rest unto your souls. For my yoke is easy, and my burden is light.

Jesus knew their thoughts, and said unto them, Every kingdom divided against itself is brought to desolation: and every city or house divided against itself shall not stand.

This people draweth nigh unto me with their mouth, and honoureth me with their lips; but their heart is far from me. But in vain they do worship me, teaching for doctrines the commandments of men.

Woe unto the world because of offences! for it must needs be that offences come; but woe to that man by whom the offence cometh! Wherefore if thy hand or thy foot offend thee, cut them off, and cast them from thee: it is better for thee to enter into life halt or maimed, rather than having two hands or two feet to be cast into everlasting fire. ....For the Son of man is come to save that which was lost. How think ye? if a man have an hundred sheep, and one of them be gone astray, doth he not leave the ninety and nine, and goeth into the mountains, and seeketh that which is gone astray? And if so be that he find it, verily I say unto you, he rejoiceth more of

that sheep, than of the ninety and nine which went not astray. Even so it is not the will of your Father which is in heaven, that one of these little ones should perish.

After these things the Lord appointed other seventy also, and sent them two and two before his face into every city and place, whither he himself would come. Therefore said he unto them, The harvest truly is great, but the labourers are few: pray ye therefore the Lord of the harvest, that he would send forth labourers into his harvest. Go your ways: behold, I send you forth as lambs among wolves. Carry neither purse, nor scrip, nor shoes: and salute no man by the way. And into whatsoever house ye enter, first say, Peace be to this house. And if the son of peace be there, your peace shall rest upon it: if not, it shall turn to you again. And in the same house remain, eating and drinking such things as they give: for the labourer is worthy of his hire. Go not from house to house. And into whatsoever city ye enter, and they receive you, eat such things as are set before you: And heal the sick that are therein, and say unto them, The kingdom of God is come nigh unto you.

When thou makest a dinner or a supper, call not thy friends, nor thy brethren, neither thy kinsmen, nor thy rich neighbours; lest they also bid thee again, and a recompense be made thee. But when thou makest a feast, call the poor, the maimed, the lame, the blind: And thou shalt be blessed; for they cannot recompense thee: for thou shalt be recompensed at the resurrection of the just.

Ostentation.—Ye are they which justify yourselves before men; but God knoweth your hearts:

for that which is highly esteemed among men is abomination in the sight of God.

Charity.—And he looked up, and saw the rich men casting their gifts into the treasury. And he saw also a certain poor widow casting in thither two mites. And he said, Of a truth I say unto you, that this poor widow hath cast in more than they all: For all these have of their abundance cast it unto the offerings of God: but she of her penury hath cast in all the living that she had.

God is a Spirit: and they that worship him must worship him in spirit and in truth.

It is the spirit that quickeneth; the flesh profiteth nothing: the words that I speak unto you, they are spirit, and they are life.

I am the good shepherd: the good shepherd giveth his life for the sheep. But he that is an hireling, and not the shepherd, whose own the sheep are not, seeth the wolf coming, and leaveth the sheep, and fleeth and the wolf catcheth them, and scattereth the sheep. The hireling fleeth, because he is an hireling, and careth not for the sheep. I am the good shepherd, and know my sheep, and am known of mine. As the Father knoweth me, even so know I the Father: and I lay down my life for the sheep. And other sheep I have, which are not of this fold: them also I must bring, and they shall hear my voice; and there shall be one fold, and one shepherd. Therefore doth my Father love me, because I lay down my life, that I might take it again. No man taketh it from me, but I lay it down of myself. I have power to lay it down, and I have power to take it again. This commandment have I received of my Father.

Verily, verily, I say unto you, except a corn of wheat fall into the ground and die, it abideth alone: but if it die, it bringeth forth much fruit. He that loveth his life shall lose it; and he that hateth his life in this world shall keep it unto life eternal.

If I then, your Lord and Master, have washed your feet; ye also ought to wash one another's feet. For I have given you an example, that ye should do as I have done to you. Verily, verily, I say unto you, The servant is not greater than his lord; neither he that is sent greater than he that sent him. If ye know these things, happy are ye if ye do them.

ii.—**Sayings of Prophets before Christ.**

Woe be to the shepherds of Israel that do feed themselves! should not the shepherds feed the flocks? Ye eat the fat, and ye clothe you with the wool, ye kill them that are fed: but ye feed not the flock. The diseased have ye not strengthened, neither have he healed that which was sick, neither have ye bound up that which was broken, neither have ye brought again that which was driven away, neither have ye sought that which was lost; but with force and with cruelty have ye ruled them. And they were scattered, because there is no shepherd............Behold, I am against the shepherds; and I will require my flock at their hand, and cause them to cease from feeding the flock; neither shall the shepherds feed themselves any more; for I will deliver my flock from their mouth, that they may not be meat for them.

The fear of the Lord is the beginning of knowledge.

These six things doth the Lord hate: yea, seven are an abomination unto him: A proud look, a lying

tongue, and hands that shed innocent blood, An heart that deviseth wicked imaginations, feet that be swift in running to mischief, A false witness that speaketh lies, and he that soweth discord among brethren.

In the multitude of words there wanteth not sin: but he that refraineth his lips is wise.

The Ten Commandments.

1. Thou shalt have no other gods before me.

2. Thou shalt not make unto thee any graven image, or any likeness of any thing that is in heaven above, or that is in the earth beneath, or that is in the water under the earth: Thou shalt not bow down thyself to them, nor serve them: for I the Lord thy God am a jealous God, visiting the iniquity of the fathers upon the children unto the third and fourth generation of them that hate me; and shewing mercy unto thousands of them that love me, and keep my commandments.

3. Thou shalt not take the name of the Lord thy God in vain; for the Lord will not hold him guiltless that taketh his name in vain.

4. Remember the sabbath day, to keep it holy. Six days shalt thou labour, and do all thy work: But the seventh day is the sabbath of the Lord thy God: in it thou shalt not do any work, thou, nor thy son, nor thy daughter, thy manservant, nor thy maidservant, nor thy cattle, nor thy stranger that is within thy gates. For in six days the Lord made heaven and earth, the sea, and all that in them is, and rested the seventh day: wherefore the Lord blessed the sabbath day, and hallowed it.

5. Honour thy father and thy mother: that thy

days may be long upon the land which the Lord thy God giveth thee.

6. Thou shalt not kill.

7. Thou shalt not commit adultery.

8. Thou shalt not steal.

9. Thou shalt not bear false witness against thy neighbour.

10. Thou shalt not covet thy neighbour's house, thou shalt not covet thy neighbour's wife, nor his manservant, nor his maidservant, nor his ox, nor his ass, nor any thing that is thy neighbour's.

iii.—Sayings of Apostles after Christ.

Women.—I will therefore that men pray every where, lifting up holy hands, without wrath and doubting. In like manner also, that women adorn themselves in modest apparel, with shamefacedness and sobriety; not with broided hair, or gold, or pearls, or costly array; But (which becometh women professing godliness) with good works. Let the woman learn in silence with all subjection. But I suffer not a woman to teach, nor to usurp authority over the man, but to be in silence.

He that giveth, let him do it with simplicity; he that ruleth, with diligence; he that sheweth mercy, with cheerfulness. Let love be without dissimulation. Abhor that which is evil; cleave to that which is good. Be kindly affectioned one to another with brotherly love; in honour preferring one another; not slothful in business; fervent in spirit; serving the Lord; rejoicing in hope; patient in tribulation; continuing instant in prayer; distributing to

the necessity of saints; given to hospitality. Bless them which persecute you: bless, and curse not.

Wives.—Submit yourselves unto your husbands, as unto the Lord. For the husband is the head of the wife, even as Christ is the head of the Church: and he is the saviour of the body. Therefore as the church is subject unto Christ, so let the wives be to their own husbands in every thing. *Husbands*, love your wives, even as Christ also loved the church, and gave himself for it; That he might sanctify and cleanse it with the washing of water by the word. That he might present it to himself a glorious church, not having spot, or wrinkle, or any such thing; but that it should be holy and without blemish. So ought men to love their wives as their own bodies. He that loveth his wife loveth himself. For no man ever yet hated his own flesh; but nourisheth and cherisheth it, even as the Lord the church: For we are members of his body, of his flesh, and of his bones............ Nevertheless let every one of you in particular so love his wife even as himself; and the wife see that she reverence her husband. *Children*, obey your parents in the Lord: for this is right. Honour thy father and mother; which is the first commandment with promise; That it may be well with thee, and thou mayest live long on the earth. And, ye *fathers*, provoke not your children to wrath: but bring them up in the nurture and admonition of the Lord. *Servants*, be obedient to them that are your masters according to the flesh, with fear and trembling, in singleness of your heart, as unto Christ; not with eye-service, as menpleasers: but as the servants of Christ, doing the will of God from the heart; With good will doing service, as to the Lord, and not to men: Knowing that whatsoever good thing any man doeth, the same shall he receive of the Lord, whether

he be bond or free. And, ye *masters*, do the same things unto them, forbearing threatening: knowing that your Master also is in heaven; neither is there respect of persons with him. Finally, my brethren, be strong in the Lord, and in the power of his might. Put on the whole armour of God, that ye may be able to stand against the wiles of the devil. For we wrestle not against flesh and blood, but against principalities, against powers, against the rulers of the darkness of this world, against spiritual wickedness in high places. Wherefore take unto you the whole armour of God, that ye may be able to withstand in the evil day, and having done all, to stand. Stand therefore, having your loins girt about with truth, and having on the breastplate of righteousness; And your feet shod with the preparation of the gospel of peace; Above all, taking the shield of faith, wherewith ye shall be able to quench all the fiery darts of the wicked. And take the helmet of salvation, and the sword of the Spirit, which is the word of God.

An Extract from Shakespeare.

And these few precepts in thy memory
See thou character. Give thy thoughts no tongue,
Nor any unproportion'd thought his act.
Be thou familiar, but by no means vulgar.
Those friends thou hast, and their adoption tried,
Grapple them to thy soul with hoops of steel;
But do not dull thy palm with entertainment
Of each new-hatch'd, unfledged comrade. Beware
Of entrance to a quarrel, but being in,
Bear't that the opposed may beware of thee.
Give every man thy ear, but few thy voice;
Take each man's censure, but reserve thy judgment.
Costly thy habit as thy purse can buy,

But not express'd in fancy; rich, not gaudy;
For the apparel oft proclaims the man,
And they in France of the best rank and station
Are of a most select and generous chief in that.
Neither a borrower nor a lender be;
For loan oft loses both itself and friend,
And borrowing dulls the edge of husbandry.
This above all: to thine own self be true,
And it must follow, as the night the day,
Thou canst not then be false to any man.
Farewell: my blessing season this in thee!

—HAMLET.

INTRODUCTION.

Lord Curzon's Speech.

I beg to draw your attention to the following speech of His Excellency the late Lord Curzon of universal fame. His speech is in itself a glowing tribute to his mature experience, high principles and illustrious career. As it is particularly addressed to a Rajputana Chief it is all the more invaluable. In a nut-shell, he has ingenuously dealt with matters of immense importance and profound interest. He has given a clear-cut idea of a true and efficient State official. I feel sure a critical study will be highly repaying.

I hope it will not be out of place to mention here a few officers who have left behind an ever-green memory through their acknowledged good-will, ready sympathy, hearty co-operation, fidelity and ungrudging help in the cause of real advancement.—

(1) Col. Pollot. Resident, Jodhpur.
(2) Col. A. C. Talbot. Resident, Bikaner.
(3) Mr. G. R. Irwin, Resident, Jaipur.
(4) Mr. C. E. Stotherd, Superintending Engineer, Jaipur.
(5) Col. A. S. Meek, President, Council of State, Jaipur.
(6) Mr. F. Henvey, Resident, Jaipur.

I had the pleasure of personal acquaintance with Mr. G. R. Irwin and Mr. C. E. Stotherd. The great and glorious work of Mr. G. R. Irwin during the famine of the year 1900 has endeared him to every one here. It has left a deep impression on the hearts of the poor and helpless and they look forward for a similar officer to relieve them in their utter distress. His philanthropic spirit and self-denial is very well known; Charity would often deny him the bare neces-

saries. One would sometimes find him with a patched suit. He has left behind an undying memory.

Mr. C. E. Stotherd, the successor of Sir Swinton Jacob was an exceptionally able and straightforward person. It is a well known fact that he could manage and accomplish difficult works at an amazingly low cost. He was an invaluable officer and a sincere well-wisher of the State.

Col. A. S. Meek, though unfortunately he remained here for a very short time, has yet won the respect of all, great and small. He had a very keen desire to redress true grievances and an ardent willingness to help. When a fire had broken out in the city, he was the first officer to reach the spot on horse-back and to give every aid and encouragement. This is an ample proof of his exceedingly good nature. An outstanding quality, that did him the greatest honour was his ready acceptance of his own mistakes. He would not insist and blame others. This shows real magnanimity of heart which all the officers will do well to imitate as it is a valuable asset.

Let us earnestly hope and pray that the Government of India will always be pleased to send such selected and sympathetic officers who will be a matter of pride both to the Government and the States.

HIS SPEECH.*

"It seems to me a not unbecoming thing that the last visit that I should pay upon this tour in Rajputana should be to this celebrated State, that the last of the Rajput Chiefs by whom I should have the honour of being entertained should be one so imbued with the

*At State Banquet at Jaipur, November, 28,1902. Quoted from *Lord Curzon in India, 1898-1905, Vol. I.*

highest traditions and aspirations of his race as the Maharaja of Jaipur, and that the concluding speech of my tour should be delivered in reply to remarks of so striking a character and so notable an importance as those to which we have just listened. At the end of my fourth year of office I now have the pleasure of knowing the large majority of the Princes and Chiefs of India; and I rejoice to learn from the lips of one so well qualified to speak on their behalf that they recognise in me a devoted well-wisher and friend. I do not merely say this as the representative of the Sovereign to whom their loyalty is so warm, and whom they vie with each other in honouring in the person of his deputy. I speak as the head of the Indian Administration, and as the champion of the interests of India itself—in which the welfare and security of its chiefs are wrapped up and involved."

"Your Highness has reminded me that three years ago I claimed the Indian Chiefs as my colleagues and partners in the task of Indian Administration. It is as such, as fellow-workers in their several exalted stations, that I have ever since continued to treat and to regard them. On many occasions I have discussed with them the conditions and circumstances of their own government, and on others, as your Highness knows full well, I have sought and obtained their co-operation and advice. I have often recapitulated the benefits which in my view the continued existence of the Native States confers upon Indian Society. Amid the levelling tendencies of the age and the inevitable monotony of government conducted upon scientific lines, they keep alive the traditions and customs, they sustain the virility, and they save from extinction the picturesqueness of ancient and noble races. They have that indefinable quality, endearing them to the people, that arises from their being born of the soil. They provide scope for the activities of the hereditary

aristocracy of the country, and employment for native intellect and ambition. Above all, I realise, more perhaps in Rajputana than anywhere else, that they constitute a school of manners, valuable to the Indian, and not less valuable to the European, showing in the person of their chiefs that illustrious lineage has not ceased to implant noble and chivalrous ideas, and maintaining those old-fashioned and punctilious standards of public spirit and private courtesy which have always been instinctive in the Indian aristocracy, and with the loss of which, if ever they be allowed to disappear, Indian society will go to pieces like a dismasted vessel in a storm."

"It sometimes seems to be thought, because the British Government exercises political control over these States—which is the reverse side of the security that we gurarantee to them,—that we desire of a deliberate purpose to Anglicise the Feudatory States in India. That is no part of my idea, and it has most certainly been no feature of my practice. We want their administration to be conducted upon business principles and with economy. We want public works to be developed and the education and welfare of the poorer classes considered. *We want to diminish the openings for money-grabbing, corruption. or oppression.* We want a Native State, when famine comes, to treat it both with method and with generosity. In so far as these standards have been developed by British rule in this country, may they be called English. *But if any one thinks that we want to overrun Native States with Englishmen, or to stamp out the idiosyncrasies of native thought and custom, then he is strangely mistaken.* Englishmen are often required to start some public undertaking or to introduce some essential reform. In industrial and mineral development, and in scientific work in general, outside enterprise is in many cases absolutely indispensable, since the resources of the

State might otherwise remain unutilised and unexplored. What good work is capable of being done by an Englishman in a Native State may be illustrated by the career of an officer present at this table to night, whom I had the pleasure of recommending recently for the title that he now bears, namely, Sir Swinton Jacob. Such work—modest, unobtrusive, characterised by fidelity to the highest traditions of the British public service, *and yet also by perfect loyalty to the State—is a model that may anywhere be held up for example. But we cannot always be sure of a succession of Sir Swinton Jacobs; and accordingly, whenever I lend a British officer administratively to a Native State, one of his main functions in my view should be to train up natives of the State to succeed him; for there is no spectacle which finds less favour in my eyes, or which I have done more to discourage, than that of a cluster of Europeans settling down upon a Native State and sucking from it the moisture which ought to give sustenance to its own people.*"

"Similarly, if a Native State is ruled well in its own way, I would not insist that it should be ruled a little better in the English way. A natural organism that has grown by slow degrees to an advanced stage of development has probably a healthier flow of life-blood in its veins than one which is of artificial growth or foreign importation. Therefore it gives me pleasure to visit a part of India where these old fashions still survive as in Rajputana, and still more to be the guest of a Chief like your Highness, whose State is ruled efficiently and well, but ruled upon Native lines. The British in this country have already rendered a great service to Rajputana in the past; for it was by their intervention in the first twenty years of the last century that the Rajput principalities were saved from ruin just when they were in danger of being overwhelmed by the mercenary hordes of the Mahrattas

and the Pathans. But for the action of Lord Wellesley and Lord Hastings and for the treaties that they made, Rajputana, as a distinct political unit, would have been wiped out of existence. For that service the Rajput Chiefs have always been profoundly grateful, and they have repaid it by unswerving loyalty to the British Crown. But it would be a thousand pities if, having thus saved Rajputana from the break-up of war and rapine, we were now to see this aristocratic structure and these ancient institutions go to pieces under the scarcely less disintegrating influences of prosperity and peace. I would fain hope that this ancient society, which was never absorbed by the Moghul, and which has stood the strain of centuries of conflict and siege, may learn so to adapt itself to the conditions of the age as to find in the British Sovereignty the sure guarantee of its liberties and traditions, as well as a trustworthy guide on the pathway of administrative progress and reform."

"Your Highness knows also that I have made no concealment of what are my views as to the character and duty of Native Chiefs. Those views have not always been popular, and I have often seen them misrepresented or misunderstood. *My ideal has never been the butterfly that flits aimlessly from flower to flower, but the working bee that builds its own hive and makes its own honey. To such a man all my heart goes out in sympathy and admiration. He is dear to his own people, and dear to the Government whom I represent.* Sometimes I cast my eyes into the future; and I picture a state of society in which the Indian Princes, trained to all the advantages of Western culture, but yet not divorced in instinct or in mode of life from their own people, will fill an even ampler part than at present in the administration of this Empire. I would dearly like to see that day. But it will not come if an Indian Chief is at liberty to be a spendthrift or an idler or an

absentee. *It can only come if, as Your Highness has said, he remains true to his religion, his traditions, and his people.*"

"Your Highness, if I may say so, has set a noble example of what such a ruler may be and do. We know your princely munificence in respect of the Famine Trust and many other good works; and we are aware of your single-hearted devotion to the interests of your State. When I persuaded Your Highness to go to England as the chosen representative of Rajputana at the Coronation of the King, you felt some hesitation as to the sharp separation from your home and from the duties and practices of your previous life. But you have returned fortified with the conviction that dignity and simplicity of character, and uprightness and magnanimity of conduct, are esteemed by the nobility and people in England not less than they are here. I hope that your Highness's example may be followed by those who come after you, and that it may leave an enduring mark in Indian history."

"In the concluding observations of your speech, Your Highness alluded to the forthcoming Durbar at Delhi to celebrate the Coronation of His Majesty the King; and I was beyond measure gratified when I heard you say, on behalf of the princely class whom you represent, that after a close consideration of the proposals that have been made for the participation of the Indian Chiefs, you entirely approve of their nature. I can scarcely describe to Your Highness the anxious labour that I have devoted to these arrangements. My one desire, as Your Highness knows, since I have explained it by circular letter to all the Chiefs, has been that the Indian Princes, instead of being mere spectators of the ceremony, as they were in 1877, should be actors in it. It is their King-Emperor, as well as mine and ours, whose Coronation is being celebrated; and it seemed to me entirely wrong

that the Chiefs should sit or stand outside, as though it were a function that only affected the Viceroy or the British officials in this country, but had no concern for them. The Durbar is not the Viceroy's Durbar. It is held for the Sovereign, and the Sovereign alone; and it is to mark the feelings that are entertained towards him by all the princes of India without exception that I have invited their personal participation in these great and imposing events. So far should I be from seeking to detract from the honour of the Chiefs that my one preoccupation has been to add to it. I am glad that Your Highness has so thoroughly understood and so generously appreciated my desires; and I have every reason to hope that a successful realisation will lie before them."

CONSTITUTION OF THE STATE COUNCIL.

CONSTITUTION OF THE STATE COUNCIL.

1. **Prime Minister.**—He should be chairman of the Council: should be gentle, righteous, generous and an all-round statesman gifted with foresight and who can renounce self-lust, wrath and covetousness. He ought to be middle-aged—neither very old and decrepit, nor very young and inexperienced. He should be of sound mind and body, and should be energetic; a man of letters, having a thorough knowledge of Sanskrit, Hindi and English, and a man having a good name, adorned with virtue. He should be made permanent after being given a fair trial.

2. **Foreign Minister.**—He should be of middle-age; free from self-lust, wrath, and greed; should be well-versed in English, Hindi and Persian. His portfolio should consist of all matters relating to the Native States and Government of India; he should be sharp-witted. and a trustworthy statesman.

3. **Revenue Minister.**—In addition to the above-stated qualities, he should be free from greed, in the true sense of the word, truthful, industrious and capable of touring on horse-back. He should be well up in his work. The state revenue should be under his charge.

4. **Finance Minister.**—Endowed with virtue, he ought to be a learned man, who abhors squandering of money and at the same time is not a miser. To draw up a budget of the State and to spend money when necessary should be his work.

5. **Military Minister.**—He should be a born warrior and a veteran. Apart from other virtues he should be an excellent horseman and a superb shot. He should provide education to the whole army; all military affairs should be under his charge.

6. **Treasury Officer.**—Should be in charge of

State Treasury, but he should not have control over the Private Purse of the Maharaja or over that Reserved Fund which is under the direct charge of His Highness. This officer ought to be an expert accountant, free from greed. He should not be extravagant but on the other hand his outlook should be to enrich the treasury; he should be able to establish one or two banks in the state for the benefit of the public, and to handle other financial affairs efficiently. He should also have charge of the State Mint.

7. **Minister of Forts.**—His work should consist of all affairs concerning state forts. Occasional repairs and reconstruction should be done. They should be kept well-fortified and garrisoned. There ought to be some arrangement for the education of sepoys. Timely inspection should be conducted, erection of tanks and wells should be arranged for. He should be profusely equipped with fortitude, brilliance and loyalty.

8. **Minister of Police.**—Portfolio—The full State Police force with Inspector General etc. under him. Despite all other qualities, he must especially be gifted with mercy. Capable of sifting out the truth of any case investigated, he should be unselfish. Care should be taken by him that bribery does not find access in his department. Persevering in nature, truthful in speech, thought and deed, an able administrator; protector of the innocent and guiltless from the cruelty aud malicious mockery of the police; promoter of mutual regard between the department and the public at large.

9. **C. I. D. Minister.**—This minister should be full of such qualities as mentioned above, but should be expert in carrying on his investigations secretly. He ought to be a man who knows not greed, and is hard-working and patient. He may be trusted by the

ruler and the ruled, between whom he should try to promote concord. A man, who acquits himself to the entire satisfaction of the public, should be appointed the minister of this department.

10. **Home Minister.**—Endowed with many virtues, he should be middle-aged, of exceptional character and have the capacity of guiding the ruler in matters of importance. He should know his work thoroughly; should be grave and tactful and able to keep his own counsel in vital matters of government; should know ancient traditions and customs, and respect them.

11. **Minister of Education.**—He should have mastered Sanskrit, Hindi, English, Persian and such languages as are current; a total abstainer, of good habits, an energetic man of principles, gentle, supporter of Vedic religion and such other qualities. His character should be exemplary; he, who can be esteemed and loved by people, should be in charge of education. He may be able to found various colleges, schools and libraries to infuse the people with culture. Education makes a man above par. Work of this minister is of great responsibility, and hence a man who excels in these virtues should be at the helm. He may also be capable of teaching the Raja.

12. **Minister of Commerce.**—This man should have a thorough knowledge of commerce; free from greed and partiality, and should understand which particular trade should be encouraged in the State and how to develop it. He should have full control of the State supplies ('Modi Khana') and the disposal of the surplus.

13. **Minister of Railways, Post & Telegraph and Telephone.**—He should be a very skilful engineer. Every part of the State should be made easily accessible by a net-work of railways. Every comfort in travelling should be extended. He should have a

knowledge of everything concerning railways which should be manufactured in the State. He should be responsible for efficient management of Post and Telegraph and Telephone.

14. **Minister of Public Works.**—He should be a man of rare abilities; prudent in expenditure but flawless in the discharge of his duties; such as Col. Jacob and Mr. Stotherd whose works in Jaipur speak for themselves. He should be sincere towards the State and should not be a spendthrift. Such a man should be at the helm of this department.

15. **Health Minister.**—Beside moral excellence this minister should be physically healthy. He should spare no pains in making the people thoughtful enough to keep sound health. Every effort should be made to keep the city sanitary and clean. He should teach the use of clean air, clean water, and fire as purifiers of dirt and disease. He should advise people that cleanliness is conducive to good health. A committee should be instituted to promote in public the spirit of cleanliness.

16. **Law Minister.**—This minister should be a scholar, righteous and one who knows law fully, both ancient and present day. The judges of all courts should be under him. Whenever it is desirable, he should establish law courts, and appoint learned and gentle judges. Every three months, he should make inspections of these. He should be of unreserved behaviour, even ready to hear what people have to say, and after thoroughly testing what he sees and hears he should ascertain the truth. He should be just enough to satisfy the people. Such rules should be enforced that will facilitate the investigations of truth and falsehood. He should not be partial to judges who are at fault, but at the same time he should be mindful of the interests of his subordinates. Full opportunity should be given to the accused to give his

version before he is punished. While examining him, he should not lose his temper. Time should not hold preference over truth in making investigations.

Himself being a man of principles, unselfish, pure, righteous and not given over to anger, he should not appoint, on any recommendation, judges of any rank who are not free from lust, wrath and greed.

17. **Charity Minister.**—This work is in itself virtuous but much depends on the ability of the man in whose hand it is. The basis of success is to know when to give and to whom to give. He should be made responsible for all the 'gow-shalas', orphanages, 'sadabrat', inns, wells and tanks, made for charitable purposes. He should inspect personally all these centres of charity. This minister should be absolutely unselfish. He should be merciful and hard-working. The management of all the temples of the State should be in his hands, and a monthly report which should serve as a ready-reckoner of the income and expenditure of these temples, should be published. At the end of every year a final report should be published. The money in balance should be used for religion, for the afflicted, etc. Public legacies, left to the State for charitable purposes, should be utilized strictly according to the will and always in good faith.

18. **Medical Minister.**—He should be a first-class medical man. He should help the growth of the science of medicine, ancient and modern. He should keep unselfish and skilful 'vaids' and doctors; for unselfishness and skill are the greatest qualities of a doctor. The poor should be treated free of any charge and the rich on payment which should not be left to suit the whim of doctors, but should be stated and fixed. According to demand, hospitals should be founded all over the state; and the doctors and 'vaids' in service should be subject to strict discipline. At times, great harm has been done by a doctor or

'vaid', being selfish, unskilled and not fully qualified. Therefore, every step towards the acquisition of skilled service should be taken. Twice a year he should personally inspect the hospitals throughout the State.

In summer and in the rainy season, snakes assail the security of the public, sometimes *most furiously*. The village people often pay a heavy toll for want of timely treatment of the snake-bites. The medical minister should make necessary arrangements and should invariably encourage the rich men and the state servants to keep infallible remedies, for the free and unrestricted use of these villagers. 'Sowars' should patrol occasionally and distribute without charge the remedy, when needed.

19. **Minister of Ceremony.**—This minister should work according to the traditions, old and new, and his duties should be clearly laid down in a book for his guidance. It should contain instructions for the various ceremonies throughout the year, and about the processions of the Maharaja, Durbar, etc. and their proper arrangement. This minister may be authorized to manage flawlessly all the processions and durbars of the Maharaja according to these rules.

20. **Minister for General Workshops.**—Under his charge should remain all workshops and their establishment. In these workshops, instructions should be given in metallurgy, and all efforts should be made for development in machine manufacture.

21. **Minister Court of Wards.**—This minister should be gentle, learned, righteous and middle-aged. The management of the states and the homes of many minor sardars is in his hands, and their education besides. Hence a capable man can do much good but incapability, considerable harm. A good trial should, therefore, be given to this minister. The Maharaja himself should watch the interest of this department

because the relations of this department is with those minor chiefs who, on their coming of age, shall become members of his Council, and symbolically are the roots and off-shoots of the tree. Therefore, to keep this tree flourishing, the strengthening of the roots and the greenness of the boughs are essential. The absence of either or both of these qualities will deprive the tree of its gorgeous splendour. In English they say, "Take care of the children, and the nation will take care of itself." Hence, this minister should be, in all ways, a very capable man.

22. **Private Secretary.**—This man, whose work it will be to stay with the Maharaja and to be personally acquainted with all his affairs, should be of great ability. He should admittedly be intelligent, smart and capable of the trust reposed in him by the Maharaja. He should be pure in character and a good counsellor, always ready to give his mind in matters confronting the Maharaja.

Each day, he should prepare a statement of account showing all receipts, and expenditure out of the Maharaja's Private Purse, for presentation on the following morning. This will enable the Maharaja to know how he financially stands. At the end of every month, however, a balance sheet should be prepared and presented to him, and also one for the year. This system will prove very useful and must be adopted.

Every day will bring many petitions for the Maharaja to consider. In the palace-premises there should be a box, with an opening for petitions and letters; the seal should be removed from the lock only in presence of the Maharaja. These letters and petitions should be entered in a register by the Private Secretary, and presented to His Highness for orders to be noted down. Keeping a copy of this order for reference, these should be forwarded to the various departments concerned, which, on failing compliance within

a fortnight, should be reminded for immediate action.

23. **Minister of Forests, Mines, Sports, Hunting, Gardens, Stables and State Conveyances.**—This minister should be qualified severally in the multifarious duties assigned to him. He should appoint a secretary for each of these departments. In addition to monthly and annual reports, he should receive extracts from the diaries which latterly should be summed up in weekly bulletins. When necessary, he should inspect these departments; make a strict scrutiny, not overlooking any mistake that he may find. Besides all this, he should be a hard worker.

24. **A. D. C.**—From days long past, it has been customary that among other courtiers, there used to be one, whose integrity of character and ingenuity were unquestioned, and who was attached to the person of the king. Such persons used to be scholarly and of exceptionally good character and were so noble that they used to serve the Raja without being expected to do so and without any guidance. They were tactful statesmen with unusual capacity to deal with complicated affairs in a most canny way. As for example, Maharaja Sri Ram Chandra had an A. D. C. in Sri Lakshman. The meaning of this word, at a certain time, was a 'privileged vessel' (kripa-patra). Afterwards the name used was 'approved adviser' (marzidan) or 'lord-in-waiting' (huzuriya). Now this official has come to be called A. D. C. Change in word takes place according to time but the duties involved have been left unchanged ever since the days of Lakshman and Ram Chandra.

It is commendatory of a rajah to be able to secure the services of an ideal A. D. C. This post should be exclusively elective. The rajah should test his A. D. C. from time to time, and his ministers may help him to gauge his abilities, his temperament, his character and his qualifications. His personal reputa-

tion should never be left out of consideration. Great care should be taken to know exactly what people have to say about him, not forgetting such maxims as "Birds of a feather flock together", and "Tell me whom he lives with and I will tell you what he is".

Jaipur State it was whose famous Maharajah Ram Singhji had for his A. D. C. two Kshatriyas; Thakur Zorawar Singhji Champawat and his very able son Thakur Narayan Singhji Champawat. They discharged their responsible duties faithfully to the end and thus proved worthy of the company of a maharajah. Maharajah Ram Singhji endeavoured to make a rally of human gems, as it were; he respected them and honoured them. This was one of the reasons that he succeeded in having illustrious personalities about him.

25. **Adviser to a Young Ruler.**—It is very important that a ruler should have a very capable 'purohit' (Adviser to a ruling chief). In but a few words it can be explained what this man used to be and what his rank was. We shall take for example the angelic Vishistha who acted as 'purohit' to the merciful Bhagwan Sri Ram Chandra, and Shatanan to the Videh Rajah Janak. But what a misfortune! There are neither such rulers nor such purohits now. The wonderful things that have once happened in this country now lie hid under the sable mantle of eternity. Their sweet memories and unfaded recollections only bring in their train remorse and anguish to a pondering mind. How unfortunate of us that we do not see them even in dreams. But who is to be blamed? We are responsible for our works; we must reap as we have sown; how could men gather grapes of thorns, or figs of thistles.

To advise in the interests of the government and to explain the art of governance are the duties of a 'purohit'. But to prevent a slave mentality in desire

and pleasure from mastering the ruler should also be his main outlook. He should advise how to avoid impending difficulties. He should be a patriot and a man of sterling abilities. Such a man should be appointed a 'purohit' to the rajah. Changes and alterations in the meanings and usages of words have crept in as the times went by but notwithstanding the true and strict sense of the word, a 'purohit' means an adviser to a king.

My feeble pen forbids me to dwell more upon this subject. I shall simply wind up by praying that a man really worthy of such a station in life should be kept as an adviser or 'purohit'.

26. **Intelligence Secretary to H. H. the Maharajah Saheb.**—This official should be learned, virtuous and sharp-witted. His duties will be to keep the Maharajah well informed of affairs concerning the government and the country. To read out various letters importing general news and to keep the Maharajah aware of important news should also be his work. To carry out this, men of the Intelligence Department should be kept in every nizamat and important place and these should report to the Secretary such events as are expedient.

But I should like to lay further stress on the fact that the Secretary should not be authorized to open these reports but the Maharajah himself should see to this as Maharajah Ram Singhji used to do. The administration of this department should be entrusted to the Secretary. If anyone makes any statement which is unfounded and is untrue, he should be punished according to his crime. This department, if properly managed, can be an asset to the State, but corruption shall be most harmful to the well-being of the State. Therefore, the Secretary-in-charge should be a very able man. Telephonic arrangements should prove convenient to this department.

PROPOSALS.

PROPOSALS.

Reception to H. H. the Maharaja Saheb Bahadur of Jaipur on his return from England.

His Highness the Maharaja of Jaipur is homeward bound after completing his education abroad. Accordingly the leading lights of Jaipur, His Highness' kith and kin, the sardars should prepare themselves for His Highness' reception. I may venture to say that reception does not mean to present one self, gorgeously dressed, at the station or to accord a welcome at the station—lasting ten minutes—with elaborate preparations and great pomp and show. His Highness the Maharaja of Jaipur is young. Soon after the death of His Highness the late Maharaja Madho Singhji Saheb Bahadur, the responsibility of the young Maharaja Saheb's education and the responsibility of looking after the welfare of the State of Kachchhawas devolved on his kith and kin, the sardars—who present a magnificent spectacle by their presence at Diwankhana on certain occasions of Darbar. Such sights impress the minds of the lookers-on and give them a belief that so long as such brave Sardars of ideal character, such learned men, such able and diplomatic officers and statesmen are present, the State can never sustain injury and is bound to maintain its traditional respect and honour. One feels sure that the young Maharaja will find a good number of his sardars and relatives who will help him to become an ideal ruler, and that it will not be necessary to call anyone from outside for such purpose.

Honourable Sardars! it is high time for you to make a present of what is best in you—which you have gained either by education or what mature

experience has taught you. I earnestly hope that honourable sardars will give due consideration to my prayer.

His Highness the Maharaja of Jaipur stands in no need of training in the matters of pomp and show and how to roll in luxury; as anyone can have them through wealth. It is no good teaching to drive hours together in Rolls Royce Cars or to spend months in Shikar Camps to no purpose. But as Sri Ram Chandraji says the same time should be utilized in ascertaining as to how many came with prayers and whether they have had a hearing, whether there was no such person who sat for the whole day and went back home in the evening disappointed without getting a chance to put forth his grievances. Ram Chandraji once said to Lakshmanji:—

> "A king who does not discharge his responsibility and does not daily do his duty towards his subjects, undoubtedly remains in hell."

Bhishmapitamahji while preaching Rajdharma (ways to rule) said:—

> "The greatest duty of a Kshatriya lies in meting out adequate punishment to the wicked."

Honourable Sardars! This is an opportunity which should not be lost; as it is said "There can be no worse loss than to lose an opportunity." This is the time for you to act up to the above maxim and make use of it Kith and kin of His Highness! you should bear in mind that the sardars and the subjects of Rajputana are watching you with eager interest. It is a period of transition and obviously you have to handle it most carefully.

I may now take the liberty of suggesting some reforms that will make the State up-to-date and be a source of pride to both the ruler and the ruled.

If the sardars now, in the present age, find it difficult to follow the illustrious and nonpareil precepts of Dharma Shastras, it will be quite gratifying if they walk in the foot-steps of brave, capable, enterprising, zealous, loyal and patriotic Durgdasji Rathore. He is quite a recent example for the sardars to make their ideal. Just as the life of Maharana Pratap is full of instruction for the rulers, similarly the life of Durgdas is highly educative for the Sardars. Durgdasji, completely proved the following saying in Hindi .—

"A lion is never troubled by the thoughts that he is an enemy to all, is old, weak and helpless."

Newspaper.

It is of vital importance that in every state there should be a local newspaper maintained at the State expense. It should be published in Hindi (Deonagri) or the language of the place. The newspaper should enjoy complete freedom and should not be required to work to the dictates of the state bureaucracy. It should be edited by some competent person. The editor should be at liberty to criticise fully the actions of the state officials and write his views on judicial, executive and legislative matters. He should also deal with the financial budget and give his opinion on all points of state, public and general interests.

It is of paramount importance that there should be a check of some sort. Without the policy of check and balance there is a likelihood, rather a constant danger, of the State falling into a stage of inertness. Without a newspaper there is no means of giving a rude awakening when there is a lull in the State improvements. It will not be stretching it too far to say that a newspaper will be a mirror where the whole State affairs will be reflected. Further a State can be compared to an elephant that does require goading at times. At the same time it should be noted that some

must be scrupulously guarded against. It is not an easy matter to dispense justice, with an even hand, and equally treat a friend and a foe. Specially, the High Court judges should be appointed after a very critical examination and selection. The supreme object of having so many courts is that in case a court errs in its judgment, the error may be corrected and the grievance redressed in the next.

Obviously it is of vital importance that the superior judicial officers should be appointed after a searching enquiry in respect of their past history and the popular opinion concerning them. It is indispensable in view of the fact that there is practically no possible remedy, if the High Court judges err in their judgment. The real test of a judge lies in his clear cut, unbiassed decision of a dispute between the rich, influential people and the poor helpless persons. A still better criterion of a judge is to be found in the manner in which he handles a case between the bureaucracy and the poor, powerless subjects. Under such circumstances he should give full consideration to justice, remain firm and unmoved by the influence and undue pressure of the state officials and he should pray to God—after taking his seat of responsibility and trust—thus: "O God Almighty! help me in doing justice because in truth a man cannot judge others, it is you alone who can sit in judgment. Merciful God! we are weak and helpless and do not understand the elements of justice, inspire us and give us light so that we may keep in the right path. A man is avaricious, lustful, and wrathful, therefore how can he have the right of judging others. Save us from lust and greed. It is my pay that obliges me to come and sit here, otherwise I would never have come here. O God ! my heavenly father, support me in my utter helplessness, guide me to do what is just and right." A judge, who thus prays with a true

heart and clear conscience, is always helped by the gracious God. God is omnipresent, hence He comes to know of the thought, as soon as it occurs.

If a State can secure the services of such judges it should, indeed, be very fortunate. The efficiency of the State depends, to a very large extent, on the quality of the judges. The Dharmshastra of Manu says that the sixth part of all the good and bad deeds of the State subjects and servants go to the ruler. He enjoys or suffers, as the case may be, the good or bad effects of their deeds. Thus it is the first duty of the ruler to appoint prudent, pious, impartial, brave, straightforward and justice-loving judges of exceptionally good character.

There should be a new department to hear the appeals of the Chief Court or the High Court in place of the Maharaja and to acquaint the ruler with the subtle central point of the cases and the grievances of the two parties. This department should consist of two men, or any other adequate number of persons, of the above-mentioned qualities. They should be well-versed in Criminal and Civil laws. The decision of the Department should be final and unappealable but for a chance of review.

It is very often seen in the States that the posts are supposed to be hereditary. A son tries to succeed his father notwithstanding whether he be a deserving successor or not. It is of vital importance to ascertain carefully that a candidate is a deserving person before appointing him, otherwise his appointment is likely to do tremendous harm. Another point in this connection to be considered is that the practice of suddenly changing a person from one department to another should be totally stopped. It can under no circumstances be profitable. Just imagine a Judicial judge all of a sudden made the head of a hospital and required to treat serious

diseases, without any training or experience, or an engineer suddenly made a high court judge to dispense justice. If the aforesaid is impossible, it is equally impossible to expect good results from an officer changed all of a sudden from one department to another without any special training or experience. It is also very harmful to appoint persons who have been dismissed by some other department or another State and do not hold a good certificate from their former employer.

Court Language.

Men and animals both stand in need of justice but the difference between the two lies in the fact that the latter cannot express their grievances in the same manner as a man, because Nature has deprived them of the power of speech. On the other hand, man has been endowed with the power to express his thoughts through the medium of his mother-tongue.

It is seldom that well-educated men go to the Courts, but hundreds of cases daily come up for hearing, in which the parties do not know any language besides their own mother-tongue. Such poor and helpless persons are obliged to explain their cases to Vakils, who appear on their behalf and argue the cases in a language quite incomprehensible to the parties. Even the judgments are not fully explained and clearly understood and the poor villagers have to go away unsatisfied. It is of paramount importance that the court proceedings should be conducted in a language, which is spoken and understood by the majority of that particular place. If a judge of that place does not know the language of that place, it is highly unjust to sacrifice the interest of hundreds for the sake of one.

It is very necessary that this reform should be introduced in the Police Department also. Poor

subjects are put to great inconvenience as the reports are not taken down in their mother-tongue. For the sake of illustration, I may be permitted to relate the following facts:—

There was a certain villager who went to a Police station to make a report. The Munshi while taking down the report asked the name of the complainant. The complainant replied that his name was Ganga Singh. Next he was asked his father's name and replied that his father's name was Gopal Singh. The Munshi wrote down the two names and read aloud for verification Ganga Singh 'vald' (son of) Gopal Singh. The complainant at once spoke out, "Munshiji, outwardly you appear to be a gentleman but you write false reports in the Raj file. Take care that next time you do not call my father a "balad" (bullock) otherwise I will teach you a lesson" The Munshi assured him that he was correct and that in Urdu it was always written in that way. The villager who was a Rajpoot replied, "Munshiji you may very well be pleased to call your own father a bullock but in my presence I will not tolerate your calling my father a bullock". The Munshi replied that he was doing nothing offensive and that he could ascertain the truth from other people who were sitting close by. The Rajpoot was highly bewildered and began to think, "Do all the persons, who come here, call their fathers bullocks".

The Munshi almost lost his patience and said, "Look sharp and let me know your complaint or else you go away". The Rajpoot replied that he had lost a bullock. The Munshi took down that a "Nargao" (bullock) had been stolen. The Rajpoot was again in a fix. He thought, "I never had an animal of that name how could it be stolen". He spoke out, "I do not understand what you write. I never heard that name before and I never had such an animal.

You first called my father a bullock and afterwards wrote the name of an animal I never saw or heard of in my life. I will not give my thumb-impression". Despite all assurances and scolding the Rajpoot would not give his thumb-impression. He was exasperated and went home.

The next day when the other cultivators were sending their ploughs to the fields, the grief of this poor Rajpoot was inconceivable. On being asked by his wife whether he had reported the theft to the Police, he said, "I had been to the Police Station. Munshi first called my father a bullock and afterwards wrote the name of such an animal which we never had. Therefore I was afraid and came back home". After one or two weeks the report was dismissed on the grounds of insufficient proof. So many cases of a similar nature cân be found, but no steps are taken to remedy the defect. If all the proceedings were carried out in the mother-tongue such things could never happen.

Tika.

Among the Kshatriyas in these days the bridegroom's party demands a heavy sum from the bride's party. It is called Tika (earnest money for marriage). This evil is prevalent even among highly educated and polished Kshatriyas. Ordinarily there are some laws in certain districts, but these are of little avail. Unless all the Kshatriyas of India co-operate it is hard to be uprooted. If one district or province passes a law against it, others are unwilling. This is the main reason why it is tenaciously clinging in Kshatriya Society. It is of paramount importance that a wholesale movement should be directed by all the Kshatriyas to overcome this evil which is extremely harmful. Of course, it demands self-denial and this is the main cause of its being persistent.

Our society requires immediate redress of this crying evil.

Infanticide of Daughters.

At some places among Kshatriyas infant daughters are murdered. One cannot conceive a more heinous crime. The Kshatriya caste has undergone a tremendous deterioration. It has climbed down from a highly honourable position and high moral standard to an equally degraded condition on the wrong side. Many such corrupt and disgraceful evils have crept in. Immediate steps should be taken to stop the evil customs. Some say that the daughters have been murdered because people cannot afford to give fat dowries, and others hold that this evil custom found its way in during the Mohammadan rule when daughters were forcibly taken by the Mohammadan rulers. Whatever may have been the cause it should be put an end to at once. It seems impossible to redress this evil custom through law. The only way to overcome it is through educational reforms and vigorous preaching to cut at the root of ignorance and die hard tradition.

Rajput Women's Education.

It is extremely essential that religious education should be spread among Rajput women. They have frightfully developed among themselves the habit of quarrelling and feeling jealous of one another. They quarrel all day long and create life-long enmity on trifling matters. Such things are abundantly found in Rajput homes nowadays. These women initiate their children from their very chidhood in such arts. This is the root cause why among Kshatriyas enmity prevails to an exorbitant degree. Besides educating the Rajput community as a whole, full concentration should be given to Rajput women's education, so that they may get rid of these harmful tendencies.

Examples are not wanting to illustrate the above point. Mahabharat was fought and Yadava clan came to destruction because of the same reasons. So long as these evils are allowed to continue, there cannot be the least hope of progress for hundreds of years to come. I daily painfully observe the corruptions—that have sprung up from jealousy—that are doing tremendous damage. Specially among women it has reached limits that cannot be easily imagined. Now in the present situation if there is at all a ray of hope it lies in the immediate concentration on the education of Rajput women.

Condition of Animals.

So far as I have personally seen and heard, animals are very cruelly treated by selfish, unconscientious people. No one cares for them when they fall ill. Obviously it is very important that laws should be formulated to fix the amount of burden to be carried, and to ensure due care when they fall ill. Until they are fit no work should be taken from them. Some conditions should also be made for letting loose a breeding bull. The persons so doing should be asked to contribute for its maintenance for life and it should be of a very superior kind, proportionate and healthy. There should also be State breeding bulls maintained at the State expense. The practice of letting loose cows and bulls to roam in the city lanes should be stopped. The cows and buffaloes kept by milkmen should also be inspected often and it must be seen that they are well treated and that they are fed on proper materials. If the buffaloes and the cows are fed on filthy materials, this feeding affects the milk and various diseases are produced through it. Cows and buffaloes should be daily sent to the State grazing grounds and proper watering arrangement should be made for them. Improper

food and improper water both contaminate the milk and ghee which in their turn destroy the spirituality of the Brahmans and chivalry of the Kshatriyas. It is necessary that the man in-charge of this subject should be very capable and should have full sympathy. In my opinion it will be better if the management is given to some European instead of the so-called Hindus who are responsible for bringing the mother cow to this wretched and deplorable condition.

Zoological Gardens.

A collection of birds, beasts and aquatic animals are kept at places for people to enjoy and appreciate nature. Thereby poor animals are encaged for their life. Of course it is true that such things increase one's store of knowledge and accordingly are useful. But one or two points should be kept in mind. In the first place they should be kept in a very small number. As for instance a pair of lions is quite sufficient. No additional benefit is derived by keeping a score of them. Secondly the place where they are kept should be very spacious in order that they may be comfortable. Thirdly the zoo gardens should not be a part and parcel of the gardens in the heart of the city. It should be outside the city so that the air may remain wholesome.

Animal-slaughter.

Animals are daily killed for meat. It is necessary that some rules should be made concerning animal-slaughter. Female animals should always be spared because they help in increasing the species and their destruction is a loss from the economic point of view. According to the Vedas one should not eat meat sold by butchers and Kshatriyas in particular should abstain from it, because it is very likely that they may mix bad quality of meat and thus cause physical and

mental harm. Strict arrangements should be made so that undesirable meat may not be mixed and sold.

Charity.

People are always pouring in for charity before Maharajas, Rajas and wealthy persons. One should discriminate in giving charity.

Charity should be given in the most useful and the most urgent cases. As for illustration, if two prayers come simultaneously, one from an Orphanage and the other from a Theatrical Association, one should give preference to the former. One should make it a guiding principle for Charity.

Ambulance.

There should be a very efficient arrangement by the State to carry the poor and helpless sick persons to the hospitals. After treatment they should be sent back home by the same State ambulance cars. Such cars should attend the station at train times in order that they may help the sick persons and carry them comfortably to the hospitals.

Boy Scouts.

The Boy Scouts movement should be organised in all the important towns of a State. This movement is of immense service to the public and of inestimable good to the boys. It builds character and imbues a spirit of brotherly feeling and readiness to help others. If the boys are adequately encouraged and guided in the right direction, it will unquestionably give excellent results. At the time of Melas and similar other occasions, the police also derives great help from the Boy Scouts. Another noteworthy point in this movement is that it requires just a very nominal sum for its upkeep.

But all this can be hoped for, on one condition, namely, that the leader should be exceedingly industrious, energetic, vigilant, capable and a man of sound principles. He should be a fit person for the boys to hold him up as their ideal. He should keep a strict watch and check the Scouts from falling into evil habits or becoming rude. A slight negligence in management and control is likely to prove highly injurious and therefore due care should always be taken.

Precautions against Fire Accidents.

The out-break of fire is a source of great damage. Properties worth thousands are burnt to ashes in no time. Villages where houses are built of straw suffer the most. There are many causes of fire accidents ; but particularly smoking of cigarettes, cigars, bidi and hukka plays an important part. Even children hardly six years old consider themselves of no worth until they feed their vanity by smoking a packet of cigarettes every day. The most easy method of stopping this evil is to levy a heavy deterrent tax on the import of cigarettes so that except wealthy people no one may afford to buy them.

To provide against fire accidents in the houses made of and thatched by straw another suitable scheme is that a subscription should be raised every year. Those people who have straw-huts should be given a part of the fund to improve their huts in such a manner that they may not fall an easy prey to such accidents. People should be instructed to make high walls and to cover their houses with tiles instead of thatching them. Tiles should be made on a very grand scale at places where suitable earth is found for the purpose and they should be distributed free to the poor people. This scheme should be given a fair trial for ten years and if found beneficial adequate steps should be taken to consolidate it.

Anger.

The Shastras (holy scriptures) say that anger is very harmful. He who is given to anger creates many enemies. The way to overcome anger is to think how he would feel if some one were similarly angry with him. By so thinking he would be able to control anger. He should not do anything while he is angry as it is sure to bring evil results. Anger comes like a storm in a sea. While it lasts the ships toss and tremble. It depends on the ability of the Captain to steer it safe from danger. Similarly he should be very careful who is under the control of anger. He should refrain from doing anything and should either go to sleep or for a solitary walk. Sri Krishnaji says in Gita :—

"From anger proceedeth delusion ; from delusion confused memory ; from confused memory the destruction of Reason (Buddhi) ; from destruction of Reason he perishes."

Obscene Songs.

It is very necessary to stop the obscene songs as they are very harmful. It is a source of great moral degradation. These songs are sung before father, mother, brother, sister and daughters. Children get a very bad impression from them. A law should be promulgated to put a speedy end to such songs, whereby people should not be allowed to sing obscene songs at public places or thoroughfares. Such songs are profusely sung in the homes of Brahman, Kshatriya and other castes. The public should be persuaded to co-operate in bringing about a complete abolition of this evil custom.

Rules of Diet.

It is very necessary to have a thorough understanding of diet rules. Particularly for rulers it is of

paramount importance. One should have a very clear idea of all the eatables that are conducive to health and sharpen the wit and also of all those that are injurious and dull the intelligence. It will be very helpful always to keep in mind the fifth chapter of Manu which deals with this subject and also three shlokas of Gita that explain the three kinds of food, namely Satwik, Rajas and Tamas They are given as follows :—

(1) "The foods that augment vitality, energy, vigour, health, joy and cheerfulness, delicious, bland, substantial and agreeable, are dear to the pure."

(2) "The passionate desire foods that are bitter, sour, saline, over-hot, pungent, dry and burning and which produce pain, grief and sickness."

(3) "That which is stale and flat, putrid and corrupt, leavings also and unclean, is the food dear to the dark."

Food is essentially meant to strengthen the body, keep it wholesome and improve and sharpen the intellect. Those who desire to keep their mind pure should always use pure food as success in life depends on soundness of mind. Food varies according to the climate and peculiar conditions of a place, and man adapts himself to such eatables as are suitable and advisable. Obviously, it is not commendable to use a foreign menu which does not agree with our climatic conditions and is liable to be injurious.

Tobacco.

Tobacco is also one of the very injurious articles and thus steps should be taken to check its use as far as possible. Specially young children, who have now grown so much addicted to it and take pride in smoking, suffer the most. Its corrupting use is enormously

increasing from day to day and a law should be made whereby its cultivation should be discouraged, and a deterrent tax should be placed on its import.

Harm done by Motor-cars and its Remedy.

Motor cars are a source of great annoyance to pedestrians. Much injury is done by fast-driving. Accordingly very strict rules should be made on motor-driving and exemplary punishments should be meted out to persons breaking the laws. Chauffeurs should be well-educated and cultured. The police should be authorized to stop any car—no matter to whom it belongs—when found driving faster than the speed-limit. This will considerably lessen the number of accidents and mitigate the harm done to the public.

Another remedy may be suggested. Sardars and wealthy persons fond of fast driving should walk once a week and experience the annoyance and fright one feels when a motor car tears along to within an arm's length. This process will give them a good idea of the inconvenience one feels. His Highness the late Maharaja Saheb Ram Singhji would never allow his carriage to be driven faster than a brisk walking pace. His Highness used to often go out walking and had ordered that no one should inconvenience himself or disturb his daily routine by His Highness' so doing.

If an owner, while driving his car, meets with an accident, the case shonld be treated just as if a chauffeur was driving it and no concession should be made. It is heard that very strict rules of motor driving have been made in Spain. If they are really helpful similar laws should be formulated here.

Distribution of Factories.

Scrupulous attention should be paid to the distribution of factories, mills and other concerns which

consume great quantities of coal. Infinite harm is done by the smoke emitted by them. The public inhales the smoke which is highly injurious from a hygienic point of view. Such factories or mills should not be allowed to cluster at one place. Apart from the question of smoke they encourage very dense population of labourers followed by accumulation of filth and unhealthy matters. Often on account of smoke-poisoning people fall a prey to certain diseases that make them cripple and half-dead for all their life. It was on such principles that in ancient days it was prohibited to establish an unusually big machinery at one place. It is justifiable to establish a big factory near a town but it is highly objectionable to allow dozens of factories to cluster and thrive in one city at the cost of the public health. If the said factories were distributed throughout the country it would have facilitated trade by cutting down transit expenses and above all improved the health problem. It is apparent that villagers maintain better health than the townsfolk because of the purer air that they breathe.

To add to the misfortune, a new practice has now come into fashion—when a pucca house is under construction, generally a kiln fed by coal is started near-by for lime-supply. Smoke and obnoxious fumes spread out and proclaim the palatial building and its wealthy master through suffocation. The kilns work more vigorously during the night and the exhausted persons, who retire after hard labour, get an experience of the great war and are reminded of the horrible trenches and the cold-blooded murder of thousands through poisonous fumes. May we be so fortunate as to hope that adequate measures will be taken to stop this public nuisanse or that gas-masks will be supplied—at the expense of the gentlemen who should be responsible for such injurious and suffocating fumes—to those who have their residence in the vicinity and under their direct influence.

Agnihotra.

Agnihotra has been highly praised and recommended in the Vedic Dharma. As a matter of fact, it was a rule among Aryans that they must perform Agnihotra every morning and evening. But unfortunately this useful practice has been almost totally abandoned now. Besides other gains, the three most important and apparent are that it purifies the air, it is a preventive of disease and over and above causes timely rains and good crops. Its usefulness is further proved by the following shlokas of Bhagwad Gita:—

Life depends on food, food depends on rains, rains depend on Yagya and Yagya depends on Karam (deeds).

As for example, if the Agnihotra will be daily performed in every house of Jaipur both morning and evening, it is certain that all the obnoxious and bad smells of the filthy lanes will be destroyed and the general health of people will progress and improve. The question may arise that the performance of Agnihotra daily requires considerable money which some may ill-afford to spare. In reply I may venture to ask, how much you spend for medicines and over doctors' fees. If you compare the two, I assure you Agnihotra will not be a heavy burden on your budget. Just imagine the benefit of timely rains. I may draw your attention to another implied gain. When people will begin to perform Agnihotra daily, they will require ghee for the purpose and naturally they will begin to take better care of the cows.

I may be permitted to take the three gains of Agnihotra one by one:—

1. It ensures timely rains which in other words mean excellent crops, the most important item of human life. The bad quality of grain affects the vitality, energy and health infinitely.

2. The second commendable quality lies in its great power to purify the air and kill the germs that are responsible for all kinds of terrible diseases, namely, plague, cholera, phthisis, and obstinate fevers. Man by his very life and existence pollutes the air and accordingly no house can boast of absolutely pure air. To counteract such influences, the wise and farsighted Maharishis had devised means so that people may immediately destroy the bacteria, as soon as they were produced. So long as the children were too young to perform Agnihotra, the responsibility lay on the parents. The ruler answered for those who were ill and helpless.

3. As Agnihotra could not be performed without ghee, the wise Rishis emphasized the care and protection of the cows and made clear that if we would take care of the cows, we would derive innumerable advantages thereby. In the texts of the Vedas the following is written:—

Yajurveda.

(*i*) "Take care of the cows."

(*ii*) "The cow is venerable."

(*iii*) The lord of the creation says, "Of all the things that I have created, the most useful of them all is the cow, because it is indispensable for performing Yagya."

(*iv*) "The cow is the wealth of the world; rulers rule by the grace of the cow. The cows produce "Som", by which the plant grows. The more the cows the greater shall be the corn-supply." "Dear Cows! give strength to the weak, improve the appearance of those who are ugly, and make the homes prosperous. May you be respected and revered in the assemblies."

(*v*) "Pay obeisance to the gods, Som and Agni

that live in the cow. They will protect you and make you prosperous. The cow is the most useful thing, do not destroy it."

Rigveda.

(*vi*) "The cow is mother of god Rudra, daughter of god Vasudev, sister of god Sun and producer of nectar. I ask all gentlemen never to kill it, she will never do you any harm."

(*vii*) "You say to the Cow, 'You feed on good grass and prosper and make us happy. Drink pure water, and roam about without any restriction.'"

(viii) "O Kshatriya Rajan! you desire to eat a Brahman's cow. Gods never gave you the cow for this purpose."

(ix) "As far as the odour of a Brahman's cow's beef—while cooking—will spread, it will ruin the kingdom. The ruler's son shall have no issue and thus there will be an end to his dynasty."

(x) "The cow should not be slaughtered."

Sanitation of the City and the Houses, and Gardening.

For the health and happiness of mankind, it is very essential to ensure pure air, pure water and pure food. In order to keep the air wholesome, 'agnihotras' should be performed and the houses should be modelled in such a way that there may be a good passage for air and the sun. Where there is no light, there the doctor must be. The public roads and lanes should be sufficiently broad. At open places in the city, small gardens should be laid out and fountains erected. The gardens should contain such plants as give out a comparatively greater amount of oxygen and absorb nitrogen and carbonic acid gas so that the atmosphere may remain

Mahant is found deficient in the above qualities he should be straightway removed as he does not deserve to remain a Mahant.

2. The Pujaris of temples should be appointed after careful selection. They should not be given to any evil habit. They should be sufficiently paid so that they may live comfortably and be able to give their whole time to temple duty. To give them insufficient pay means teaching them to steal.

3. It is very objectionable to allow the Pujaris to live with their families inside the temples. It lowers the prestige of the temples and makes them dirty. There should be separate quarters, near the temples, for the Pujaris.

4. Elephants, horses, palanquins etc. should not be kept by the temples as it is waste of money. The whole world is the creation of Shree Bhagwan hence there is absolutely no necessity of such things for a temple. On occasions of processions etc. these conveyances can be had from the State.

5. There should be a capable *munsarim* to look after the management of every temple and prepare and submit for audit accounts of income and expenditure.

6. It is extremely objectionable to make latrines in a temple. There should be a strict rule that no one may even spit inside the temples. It is often seen that socks are prohibited inside the temples but on proceeding further one is struck with amazement and much pained to see latrines attached to the temple-buildings and quite near to kitchens. In such cases there is only one consolation that one should not be surprised taking into consideration the deterioration of the Hindus.

7 All the money that is left over after paying the salaries of the Pujaris and other requirements as for instance "bhog" etc. should be given to *gaushala*,

5. It is very probable that people will propose that a gate should be made at the end of Chaura Rasta in front of Tripolia. In my humble opinion no such gate should be made. Maharaja Sawai Jai Singhji himself planned the city of Jaipur. The Maharaja Saheb was well-versed in astronomy for which he was well-renowned throughout India. It cannot be at all imagined that a gate at the end of Chaura Rasta was left out by over-sight. There must be some hidden ulterior important reason for omitting a gate at the place. In view of the above facts it is not commendable to make a change in this respect.

6. It will be highly useful to establish a University at Jaipur as it will be of incalculable service for the education of students of Jaipur and neighbouring places. There should also be a grand boarding house to match the University. The former should be named Madho University and the latter Man Boarding House. Due attention should be paid to their management for it is absolutely no use making a thing when it is not ably managed. It is often seen in the states that many acts are done on very high and noble ideals but unfortunately on account of mismanagement the subjects do not get the least advantage. The palatial buildings remain just for outward show and their imposing looks add to the pride of the State but in reality there is no substance in them, since the very object is defeated. This point is of the highest importance and I hope it will receive full attention.

7. There should be an excellent arrangement of water-supply in the city. All around the water-taps strong perforated thick iron sheets should be laid so that the water may not spread and create mud and filth. By the above device water will pass down immediately through the holes and there will be no chance of mud and filth. The iron sheets should have

lously explained. Now let us consider the points on which immediate reform is necessary and how it should be carried out. Vigorous steps should be taken for the intellectual development of Brahmans and Kshatriyas.

Kshatriyas should create power and magnanimity of spirit in themselves. They should make every effort for the advancement of their community In Dharmashastra of Manu etc., it is clearly written that one's intelligence, power, understanding and capacity develops according to the food one eats. History also shows that a person's wit is dulled by taking bad food. Therefore, the best quality of food should be given to the Brahmans and Kshatriyas so that the former may become more fit for spiritual work and the latter may become strong and large-hearted. According to the Gita a Vaish should carry on trade and agriculture and look after the welfare of the cows. These are three items on which the spiritual qualities of the Brahmans and the chivalrous habits of the Kshatriyas solely depend. If the food supply in a State is efficiently managed and inferior injurious materials are kept out of the way, that State is bound to improve in health and general prosperity. If the cows will be properly looked after, the condition of the milk and the ghee will improve. When the food materials, milk and ghee will become cheap and abundant, the whole out-look of the State will be changed and progress will follow automatically.

We are well acquainted with the fact how the Vaish community is working to-day and we are also familiar with the conditions of trade, agriculture and how far cows are protected. One need hardly say a word about the adulteration of ghee and milk and the quality of the food-materials sold in the market. So long as it serves one's ends no one cares in the least how it will affect others. Every one is selfish and his

actions are self-centred. Food materials of bad quality are unscrupulously imported. The Vaish community is largely to be blamed for the deterioration in this respect. Are they justified in expecting sound spiritual counsels from Brahmans and protection from Kshatriyas after stifling their spirit and polluting them through improper food and money? Just a glance at the bazar sweet-meats, ghee and milk is enough to convince one of the truth of the above statement. The same materials when prepared under European supervision are sure to be excellent and wholesome. Is it not a matter of disgrace? Improvement, if at all, is possible only when the Vaish community will bid good-bye for a while to their base selfish ends, and carry on a wholesale improvement; or it is possible when the Kshatriya community will shoulder the burden of management and take again with an enterprising spirit the reins of the whole administration in their own hands.

Rules of Succession to and Adoption by Sardars.

Numerous cases of adoption and succession are fought among sardars. Such prolonged litigations cause considerable loss of money and are injurious in various other ways. A special committee should be formed to enquire exclusively into cases concerning adoption and succession, and clear, comprehensive rules should be made to facilitate enquiry. The aforesaid committee should be composed of the highest judicial officer and sardars fully conversant with the customs and peculiarities of their community. It is strongly hoped that the decisions of such a committee will be most satisfactory.

A Word for Subjects.

So far I have dealt with what concerned the ruler, now I should like to say something for the ruled.

PROPOSALS.

There cannot be a country without a ruler. He may be in any shape whether as a maharaja or a king, or a president. In other words, there has to be some one to guide and control. To conceive of a body of persons without a head or a leader is to think of a mob. As long as a ruler remains in his position he sees that his orders are promptly obeyed and the subjects consider it their duty to carry them out. In respect of demanding obedience there is no difference between the ancient rulers and the present ones. If there is at all a difference it consists in the fact that the ancient rulers understood their responsibility in a different light, in a more extensive sense and had a greater regard for the prestige of their race and welfare of their country. Unlike the present rulers they did not take their responsibilities lightly and thus concern themselves with only what was to be of consequence during their particular reign. The present rulers never bother themselves with those things that are not likely to benefit or affect them during their reign, however important they may be for posterity. Leaving aside the ancient rulers, I shall take a comparatively recent example of Chitore. During the bloody Mohammadan rule, how the Rajput rajas sacrificed their lives and interests for the sake of country, race and faith need hardly be said. Even the Americans and other foreigners read their history with great interest and regard. They belonged to that race and type of ancient rulers who sacrificed their so many relatives on the battle-field in a single day for their faith. They have left a glowing memory and an example of true patriotism. The main reason of their maintaining such an ideal standard is to be found in the atmosphere in which they were brought up. It was ingrained in them and they inherited the belief that one should not care the least for one's life in defence of religion or country when it was at stake.

Similarly the history of Rajput women is worth a careful study. They have left an immortal name and one can hardly find a history, of any nation, where women have been painted in such bright colours. They are nonpareil for their courage, self-denial, racial pride and patriotism. They preferred to burn themselves alive to suffering a blot on their chastity. They had such a high sense of morality that young girls would proudly walk into the flames undaunted, without a hitch. The subjects will be immensely benefitted to read the histories of these illustrious women.

It is highly unjust to criticise a ruler and point out his short-comings without showing constructive means how to overcome the evils. Suppose a person has a lump of gold which has been spoiled on account of a mixture of some alloys Would it be advisable to cast away this lump of gold which has been spoiled to a certain extent or to melt it so that the foreign elements can be taken out? Decidedly one would approve of the latter idea, gold is not so easy to find and suppose you throw it away, you cannot be sure that the lump you will bring as substitute may not be of a similar kind. In case the second one also happens to be so, you cannot do but take to melting. Obviously it is unquestionably expedient to purify the one you have got. It is just possible the substitute may not suit your purpose. You are in the dark about its ins and outs, whereas, on the other hand, you are perfectly acquainted with your own. Apparently you should concentrate on finding out means so that the evils that have crept into your ruler may be eliminated. At the same time it is highly probable you may be in the wrong. Examples are not wanting where the subjects are wholly and solely to be blamed. This proves to us that we should carefully weigh both sides before acting; and secondly

it should never be lost sight of that the action should always be constructive and never and in no way merely destructive.

By going through the description of Sitaji's unjust accusation in Valmikiji, it becomes clear that Sitaji was examined twice and both times she was proved to be innocent and chaste. The first test took place at Lanka when Agni Dewta and many other gods stood as witnesses. She underwent the most difficult test of entering the fire and came out unhurt because of her supreme chastity.

The subjects did not spare even the unparalleled king Ram Chandraji and most-chaste Sitaji. They unjustly and without any basis accused Sitaji of being unchaste. One cannot conceive of a greater wickedness. Ram Chandraji in order to save his illustrious race from calumny and maintain the prestige of his family sent Sita on a second exile. Exoneration was impossible in any other way as people would never have stopped from casting reflections.

Ram Chandraji knew from the very beginning that Sita was innocent, but simply to establish the truth and chastity of Sitaji, he went through the above process however painful. It was to teach the subjects a lesson that they should not blame a person without a basis in future.

When Sitaji came to exonerate herself, she kept her face down and in this particular posture prayed to the goddess Earth, "If I am innocent give me a place in thy bosom." The reason why she did not look up was that she did not like to see the subjects who had thus received her. Ram Chandraji was extremely pained and enraged by this shameful act of the subjects and this is the reason why India has ever since been unhappy and a victim of constant decline, immorality and disunion.

I do not hereby mean that the subjects should

not correct their ruler when he is unjust or in the wrong. Of course, they have every right to do so when the ruler is liable for punishment and the subjects are competent to judge. In ancient days when Ven son of Ang was incorrigible inspite of repeated warnings and preachings, the Brahmans destroyed him and made an ideal king and queen out of his body after eliminating the sinful elements. But can we imagine for even a moment that the subjects will always be in the right and that they will only mete out adequate punishment to the guilty and not accuse the superb characters such as that of Ram Chandraji and the supremely chaste character of Sitaji.

Similarly in England the subjects executed Charles I. But the subjects should note that though adequate punishment was meted out to Ven and Charles I yet the tradition of kings was not destroyed. Punishment in the real sense means just that amount of chastisement which is absolutely necessary and expedient. As for illustration if a Brahman is guilty, he should be adequately punished, but it does not mean that the whole race of Brahmans be annihilated.

A MESSAGE TO THE RAJPUT COMMUNITY.

A MESSAGE TO THE RAJPUT COMMUNITY.

A critical study of history—from the age of Mahabharat to the present day—reveals and clearly proves that the main two reasons for the decline of the Rajput Community are as follows :—

1. Disunity and Jealousy
2. Lack of an enterprising spirit.

Of course the community has other draw-backs in common with others but the two above-mentioned are not at all so predominant in others. Disunity, jealousy and lack of enthusiasm have singled out this community, because of their marked degree, and have been responsible for the present state of the community, that is to say, their constant deterioration for thousands of years.

Before dealing with other points I may be permitted to say something on what is the place of Rajput community in mankind, what is its form and what for and how it came into existence, and what are its duties. For the sake of illustration I propose to take Kshatriya community as a human body. According to the Vedas, the wonderful treasure of the best knowledge, the various functions and duties of worldly life and the working of its machinery have been explained through the example of a human body. It is said that Brahmans were produced from the mouth, the Kshtriyas from the arms, the Vaish from the belly and the thighs and the Shudras from the still lower part of body of god. It becomes clear by reading the Vedas that the Brahmans were produced from the portion above the shoulder, the Kshatriyas from the neck up to the stomach. Now since I am concerned only with

the duties of Kshatriya, I shall leave aside the duties of Brahmans, and concentrate on the duties of the Kshatriyas.

Let us consider the various parts that belong to the portion from the neck to the stomach, and what are their several functions. Thus, to wit, there are shoulders, arms, lungs and heart in the said portion of the human body. The duties of the Kashtriya community should be just what are the functions of the above-mentioned parts. Now it is apparent there are two shoulders to bear the burden of himself and others and there are two arms to defend himself and give protection to others. The lungs which carry on the process of respiration are intimately connected with the life of a human being, thus the Kshatriya community is of vital importance. Heart, the central part of the body purifies and circulates the blood, wins the affection of others, vanquishes the enemies through courage and remains steady at the time of calamity and adversity. Now the duties and responsibilities of a true Kshatriya can be easily deduced from the aforesaid data. The Kshatriyas should always remember how and why they are created and what others expect from them. Just as 'Brain' and 'Mouth' are to the Brahmans, similarly 'Heart' and 'Arms' are of vital importance to the Kshatriyas. Heart is the seat of will, courage, energy and enthusiasm, therefore the heart of the Kshatriyas should be generous and bent upon progress. The second item is 'Arm' which means that the Kshatriyas should always be vigorously working and ambitious; they should never be idle and self-satisfied. The Veda lays down the following rules for the Kshatriyas:—

"One should think that one has been granted the life of one hundred years for work. One should make it a point to spend the whole life thus. By so doing a person will be happy both in this world and in the next."

I shall heretofore confine myself to three cardinal points namely I Moral II Financial and III Social positions of the Rajput community. A clear conception of the draw-backs on the above three points will facilitate our finding out means and ways to remedy the evils.

I.—*The Morality* of the community is in a deplorable condition. Let me now point out the evils that have crept in under this head. They are the disgraceful habits of (1) Wine (2) Polygamy and concubines (3) Jealousy (4) Lack of Education (5) Disregard for good counsel (6) False pride (7) Indiscriminate expenditure of money (8) Tika (9) Infanticide of daughters. Allow me to take them one by one as follows:—

1. *Wine.*—One of the greatest obstacles in the way of advancement of the Kshatriya community is wine. It breeds bad habits, weakens the heart and undermines a person both physically and mentally. This is an arch enemy of the Rajput Community. Yadava family of Dwarka came to destruction because of wine. On one side in Mewar history we find that the glorious Maharanas sacrificed their whole families for the sake of their religion and country and on the other side we find to-day so many Rajput families sacrificing themselves for wine. Yes, both destroyed themselves, but just think for a moment of the difference in their objects. To add to the misfortune, the Rajputs have now begun to drink costly foreign liquors. The same bottle which could be had for a rupee before now costs ten rupees. Thus we get an idea of the incalculable loss and terrible increase of the expenditure. Where Rs. 10 was spent, now Rs. 100 is required and where Rs. 100 was sufficient Rs. 1,000 is necessary A Kshatriya who does not drink wine is not considered to be a Rajput.

I just recollect an account given by one of my

friends. He was putting up with a Rajput family for a while. The Thakur Saheb of that family had recently died because of excessive wine-drinking and the Dwadasha (twelvth day) having passed, they happened to be celebrating the customary ceremony of ending the mourning. This noteworthy ceremony is performed by making the son, of the deceased, to drink wine. When he drinks the wine it is supposed that the mourning has come to an end. My friend who was there felt a heart-felt shock and spoke out, "The mourning has not finished but it has begun anew. You people are making him drink just the same thing which was the cause of his father's death. It is a pity the Rajput community cannot overcome this great enemy of theirs."

It is a tradition among Rajputs that if two families happen to fight and a member of one family is killed by the other, an enmity is established for life between the two families and all their relations cease. This is termed "got-ghao" or blood feud. Wine has killed so many Kshatriyas but they never think of avenging their relatives. You have lost even that much of pride that you are not willing to make a stand against your father's assassin. On the contrary you embrace it.

The Kshatriya community should imitate America in overcoming this evil. You should scrupulously guard your treasuries from being polluted by the money received from contracts of wine. It is said in Dharmashastras that money exerts its influence according to the good or bad source it comes from and casts its shadow upon the person owning it.

2. *Polygamy and concubines.*—The second evil in the Kshatriya Community is the practice of having many wives or keeping concubines. It is hardly necessary to point out that the unparalleled king Ram Chandraji was exiled to please the whims and caprice of a favourite wife. Many innocent children

have been unscrupulously poisoned by step-mothers and many noble daughters of the royal family have been foully murdered by the concubines. A study of history will reveal any amount of such black deeds that have stained the record. I need not go into details for want of space and time.

3. *Jealousy.*—It has found a wonderfully comfortable and undisturbed place in the bosoms of Kshatriyas. They take pride in speaking ill of others. Many notable and worthy Kshatriyas think it a matter of credit to cause division among themselves and never feel ashamed of doing so. I mark on all sides the various communities establishing meetings and societies for their advancement. But two Rajputs cannot sit together and discuss the ways and means for the progress of their class because of the jealousy that has taken a firm hold on them.

4. *Lack of Education.*—Kshatriyas find it exceedingly pleasant not to bother themselves with education. They do not pay the least attention to it. They would willingly and lavishly spend money on useless items but would not be prepared to give a single shell for education. If they were to co-operate and direct their energies towards this object it would be most easy to establish even a University and make a real constructive move towards education. When ordinary people have been able to make universities, there is absolutely no reason why they should not; they have better means to do it. But they can ill-afford to give a thought on such subjects, they are so busy in pleasure-seeking.

Westerners have fully proved the achievement of an honest effort. Just a few centuries back they were very scantily dressed, in fact they did not know how to dress. But to-day they are supplying clothes to a large part of the world, and the people who took false pride in themselves, imitate them and learn how to

dress. It is said, that at a time they knew no other food besides potatoes and fish but to-day the world appreciates their food and thousands consider it a distinction to eat Western food.

Dear Rajputs! just notice what comes of perseverance and honest efforts for advancement. You know that the Westerners are unexcelled to-day for their scientific researches. They have proved the truth of the proverb, "Necessity is the mother of invention." Education is not a subject with which I can adequately deal. I leave it for better talents. But before I end this topic I should like fully to emphasize the dire necessity of education among our community. If you cannot invent, just learn to imitate and improve yourselves.

5. *Disregard for good counsel.*—Another great drawback in the Rajput community is their disregard for good counsel. It falls on their deaf ears. They begin to look down contemptuously upon those who give them good advice and very often begin to hate them. They avoid all meetings where education is discussed and keep away from the wise. In this way, they evade all sources of getting education. It is a pity where there are elaborate and up-to-date arangements for garage, stables and zoo gardens there is no place for education. Herbert Spencer mentions in his book, there are arrangements for training horses but no provision for educating mankind.

6. *False Pride.*—This is another drawback in the Kshatriya community. They have lost all their good qualities, which had raised them to a very honourable position, and the only remnant of all is the false pride in them. False pride always brings downfall in its train. Rawan the king of Lanka, Bali the king of the underground kingdom and comparatively recently the Kaurawas, all came to destruction because of false pride. Nowadays the Kshatriyas have grown so self-conceited and mean that in many places

in Rajputana they take daughters in marriage from certain clans but take it as below their dignity to give their daughters into the same clans. It is beyond one's comprehension. When once they have formed relationship, the blood of the other clan has united with their own. Now where is the sense in refusing to give their daughters into the same clan. There are many evils of a similar nature that require immediate reform.

7. *Indiscriminate expenditure of money.*— Heavy sums of money are unnecessarily spent to no desirable purpose. People may not get sufficient to eat and dress properly, but they always entertain a desire to possess a motor car. In hundreds of houses, so much is spent for motor cars that if the same amount would have been given towards education, a university could be easily established. If what you spend in your litigation were given for the uplift of the community it would have made such a big difference. In the same way wine, luxurious food and dress are putting a big strain on your purse. In fact, a very modest sum is required for food and clothing. But it makes one feel giddy to hear the expenses incurred in getting tubs filled with scents of rose, *kewra* and *khas*. A Rajput boy has a claim on the State treasury for his education. If a Rajput lives the life of a brute and ultimately dies a miserable death, it is the rich people who should be answerable for it as they have denied him his share and spent money in pleasure-seeking without the least regard for their poor, helpless brethren. This has been one of the greatest factors in bringing about the downfall of the community. You belong to the same race wherefrom such illustrious persons as king Ram Chandra, brave Lakshman and true Kshatriya Arjun had taken their birth. You take pride in calling yourselves of solar race but never try to follow their footsteps. At

the time of king Ram Chandraji every one could easily put forth his grievances and pray for redress but now it is so difficult to get even access to the rajas and maharajas. Many do not at all get a chance and are sorely disappointed. Even ordinary sardars of small estates do not like to hear the prayers of a person in distress. India has produced people like Karan known and respected for his generosity and king Vikram of Ujjain famous for his wisdom and exceptionally peaceful and prosperous rule. The subjects gave him the title "Deliverer of the distressed" which is full of meaning and rightly conveys the sense and the mark of appreciation.

8. *Tika.*—This is one of the most objectionable practices in the community. It has been highly injurious. At first it was prevalent in Rajputana only but now it has spread all over India. If the Rajput community takes it to heart it can be stopped in a day. There is not much trouble, only if the bridegroom's father should consent to accept in friendly mood and spirit what the bride's father can afford to give. It is highly condemnable to fix the amount for *Tika* and compel the bride's father to give the contracted sum. It is strongly hoped that the community will wake up to the immediate need and do away with this hateful custom. I thank the gentlemen who have been trying to uproot this evil and trust that others will follow them in their commendable work.

9. *Infanticide of daughters.*—This is the most horrible and sinful practice which can hardly be conceived. There cannot be a more heinous crime than to murder one's own daughter. Not to speak of civilized races, even the savages of Africa are not found to kill their own children, and so also the rakshasas with kingdom of Rawan never murdered their daughters. Just note that we are even more

degraded than the savages and the rakshashas. Immediate and honest efforts should be made to stop this sinful practice. I may humbly suggest two remedies. In the first place the State Treasury should bear the marriage expenses of the daughters of the poor Rajputs who cannot afford to do so. Secondly they should be educated and sufficiently enlightened so that they may realize the weight of the barbarous practice. It is humbly prayed that the Rajput community should be pleased to consider the importance of this matter and take steps to put a speedy end to this atrocity.

II. Financial position.—Having dealt with the moral position of the Kshatriya community I may venture to say something on its financial position.

Leaving aside the Kshatriyas for a while it is of paramount importance for all the communities that they should try to improve their financial position. Only a wealthy community can risk and achieve. The financial position of Kshatriyas is equally deplorable. Those who are rich want to grow richer at the cost of their poor brethren and leave them to go from bad to worse. They never care to learn how to make money by honest means. They never think of how to improve our agriculture. Despite this wretched condition every one desires to have sumptuous food, luxurious apparel and palatial buildings. Those who are fortune-favoured and in good circumstances make ill use of their money. They try to imitate others and afterwards suffer serious consequences because of spending beyond their position. It is a pity, those who have they ill use it and those who have not, are miserable.

III. Social position.—The Social position of the community is none the less regrettable. Social evils have also kept up their proportion with others. Two Rajputs cannot sit together and discuss their social position and how to improve it. In fact, they cannot

have free and open talk on any topic; it must necessarily be in view of some other ulterior motive. When they meet, they make an outward show of cordial relations and sympathy, but in reality there is no substance in it. Their *sabhas* proclaim to the world that they are doing much, but in truth achieve nothing. The authors of shastras, who were from this very race, have laid down the following test of a *sabha*:—

"That is no *sabha* where there are no learned, pious and experienced old persons, they are not venerable who do not support Dharma, that is no Dharma where there is no truth and that is no truth which is full of wiles."

Observe the high standard of your forefathers, their learning and love for justice. They could give the essentials of a *sabha* in just one shloka. This shloka will apply to any *sabha* in the world and would not be out of date. It is marvellous.

The world is progressing, we should also follow in the wake. But there can be no advancement until there is full awakening. There is no royal road to it, it is hard to accomplish. In the first place we should have patience to hear truth and then perseverance to follow it. The leaders will have to bear great hardships in this cause. We can learn from the history of Shankracharya, the great difficulties that he had to face.

Is the Kshatriya community prepared for even harder trials? In case it is so, there is nothing to hold it back as it is said, "Wind and waves are always on the side of good sailors." It is no easy task to steer the old boat of the Kshatriya community safe, through the whirlpools and whirlwinds of the vast ocean of the world; heavy storms will try to capsize it. If we follow the sound teachings of Sri Krishnaji there is hope for us as it helped the Pandawas when they were in utter distress. Sri Krishnaji while discoursing with Arjun said that he alone is a true Kshatriya who naturally possesses the following virtues:

"A Kshatriya by nature should be chivalrous, magnanimous, courageous, clever, one who does not run away from battle, generous, and resourceful." I earnestly hope the Kshatriya community will try to bring the aforesaid virtues in their nature, as they are forerunners of true advancement.

Kshatriyas have been a ruling community from time immemorial, therefore the Kshatriyas should make it a point to thoroughly educate themselves in political science. Even the Kshatriyas residing in small villages should be taught a high standard of Politics, as without it they cannot be prepared to take part in political matters. They should be fully acquainted with political science and there should be several *sabhas* at various places to give them an opportunity to express their independent thoughts on the subject. In my humble opinion it is further important because from a Maharaja down to a petty landlord everyone necessarily has to carry on the administration of his holding and has often to face knotty problems concerning it. If due consideration is not given to this subject it will inevitably follow that even that trace of practical politics, which the community has somehow retained, will be lost for ever. We are giving an opportunity to other communities to criticise our administration. Naturally when we are not capable of criticising and correcting, others must take our place.

How very desirable would it be if the ruling Kshatriyas would place the knotty problems of their administration before their own community and thereby find out the solutions by joint efforts. They should further proclaim that if any other community would point out their defects they would be thankful to it and consider it their greatest friend. In this world he who points out the defects is the greatest friend. If the ruling Kshatriya community wishes to

convert itself into a trading community in future then of course it is fully justified in dispensing with political science. As for example, if it is possible that the son of a Brahman can become a successful Brahman without education and similarly if it is possible that the son of a trader can become a successful tradesman without learning trade then we can expect Kshatriyas to become successful rulers without politics. This can never be. How very strange we rule but never give a thought to politics.

We are living in an age of transition. On all sides we find change but, alas, we never try to improve our condition. Nowadays there is a general cry for betterment and people are not satisfied with our rule. The newspapers are full of scathing criticism. Now it is the duty of the Kshatriyas to pay immediate attention and show a real achievement on the way to progress. It is no time for them to remain inert and unconcerned. They must grasp the situation and create a wholesome and peaceful atmosphere. They should whole-heartedly try to remove all the defects that have found their way in and demand an honest effort to drive them out. They must awake to the present need.

When something is said for the good of the Kshatriya community or when historical account of the Rajputs is given, it will be highly unreasonable to leave out the Charan community. The Charan community is very ancient and has been alluded to in the Valmiki History and the Purans. The Charans have shown great sympathy and immense love and regard for the Rajput community. There had been many brave, courageous, capable, righteous, and truthful Charans. First of all, I pay my obeisance to Karnidanji, an *Avtar* of *Mahashakti*. The village Deshnok in the Bikaner State in his memory is still held in great reverence and people come from far and wide every

year for pilgrimage. I mention with inexpressible delight, love and appreciation, the names of some of the famous Charans.

It is evident from the history of Rajputana that the Charans had done at different times many praiseworthy deeds for the benefit of the Kshatriya community on account of which they were held in great esteem, so much so that the Maharajas made a law that the Charans were to be free from punishment. It is a very great virtue to hear truth and work on it; and especially the rulers should always have this quality. But wealth and power hardly leave a place for such things and accordingly it is very rare. It was to safeguard this very fact that the Kshatriya rulers had given full liberty to the Charans to speak the truth. The Charans gave at various times beautiful counsels to the rulers in a few selected words. For the sake of illustration I give below one or two instances:—

1. In Sambat 1793, Maharaja Sawai Jai Singhji of Jaipur and Maharaja Abhay Singhji of Jodhpur had gone to Pushkar for bathing. Barhat Karnidanji was present there. Both the Maharajas pressed Barhatji to say something regarding both of them together. The truthful and straightforward Charan Karnidanji recited the following piece of poetry in which he accused Jai Singhji of the murder of Kunwar Sheo Singhji and blamed Abhay Singhji and Bakht Singhji for the assassination of Maharaja Ajit Singhji. Here the honesty and frankness of Barhatji and the forgiveness of the Maharajas are commendable. Barhatji said:—

> "How far shall I praise the master of Jaipur and the master of Jodhpur, each excels the other. The leader of Kachchhawas murdered his son and the leader of Rathors assassinated his father."

2. Bakhat Singhji, after murdering his father

Ajit Singhji, ascended the throne of Jodhpur. One day he was patting and encouraging his horse by calling him "Bapo", "Bapo"—the word also means "father". A bold and honest Charan was present there. He at once spoke out:—

"O King Bakhat Singh! do not address the horse by the dreadful word "Bapo". It is trembling with fear, as it has begun to expect death in the very near future. The steed will surely die if you will even once again pronounce the word."

The above-mentioned two illustrations prove the courage, frankness and straightforwardness of the Charans. It also shows how bravely the Charans would speak out the truth and what beautiful counsels they gave to the rulers from time to time. But the Charan community can no longer boast of such jewels. Perhaps to give company to the Kshatriya community and because of great sympathy, the Charan community has also deteriorated with the decline of the Rajputs. O Charan Sardars! this is a blunder that you have committed. One who knows swimming can save a drowning friend. If you desire to uplift the Kshatriya community, then you must rise to your old level and give up greed and narrow-mindedness. I have not written all this to give you a sermon, I have made myself bold to give you an awakening as a friend. If you find it offensive, pray excuse me. I give below a list of eminent Charans for you to compare yourselves with them and find out for yourself if there is a great gulf in between, as regards character and principles. The names of the distinguished Barhats are:—

1. Barhat Isardasji.
2. " Narharidasji.
3. " Asoji.
4. " Bankidasji.
5. " Chaniramji.
6. " Vijaiji Sultani.

7. Barhat Mahadavji Maidu.
8. „ Shivadan Malji.

Organization.—Having dealt with jealousy which is so prevalent among Kshatriyas, I take the liberty of expressing my views on the problem of organization and brotherhood, though I feel that to this I can hardly do adequate justice. Before taking up the question of brotherhood and mutual love, it is necessary that we should consider the disadvantages of jealousy and enmity and on the other hand the advantages of organization and mutual love. A clear understanding of these facts will give impetus to the realization of mutual love and brotherhood. Every one by nature desires happiness but unless and until he knows the means and methods of attaining happiness, he cannot be happy. Specially the Kshatriyas should concentrate and give their best attention to eliminate jealousy from their community for it is certain that so long as jealousy and enmity will hold sway there cannot be the best possibility of mutual love and feeling of brotherhood. In the case of every community that has arisen in this world and which has been the subject of appreciation and respect in other communities, the main predominating fact responsible for its advancement has been infallibly mutual love and power of organization. No sooner does jealousy get a foot-hold than downfall is inevitable and the same community begins to be looked upon with contempt. Now let us examine what the word *sangathan* (organization) really means.

Sangathan (organization) in the real sense of the term means perfect union and harmony of all, just as, there are seemingly so many wires in a *sarangi* (violin) or *sitar* (guitar) but they produce one note. If the Rajput community desires organization, it need not take the trouble of looking into so many religious books and shastras for direction, but make the 21st

Verse of the 16th Chapter their guide. It says that one should forsake lust, anger and greed because they are three gateways to hell. It is my firm belief that if the Kshatriya community will follow the above precept, nothing can stop it from attaining the highest place of honour and appreciation. When the Kshatriya community will become one body, there will not be much difficulty in giving up lust, anger and greed. Some people may think that when one renounces lust, anger and greed one becomes an ascetic and they may wonder how this will work in bringing about the advancement of the community. But they are in the wrong. Sri Krishnaji has pointed out the ways to be happy in this world and the next. The very fact that he encouraged Arjun to fight supports my view. Further Sri Krishnaji says in the VIIth Chapter, 11th Verse:—

> "And I the strength of the strong, devoid of desire and passion, in beings I am desire not contrary to duty (Dharma), O Lord of the Bharats."

This clearly shows that the teachings of the Gita to renounce lust, anger and greed can be applied with equal benefit both to the worldly life and the ascetic life. Now hereafter I shall explain at length how the Kshatriya community can organize itself into one body and how it can renounce lust, anger and greed and thereby make progress.

(i) The Gita teaches renunciation of Lust. Let us consider the meaning of lust and the kinds of lust that the Kshatriya community should get rid of. The rich people should not pass their days in idleness—doing nothing except rolling in luxury and shifting their duty on to others. They should not pass their valuable time in pleasure-seeking. If the same money which is lavishly and unscrupulously spent on dancing and singing, decoration of houses, wines and

dinners, valuable dresses, marriage ceremonies and similar other occasions, were spent on education, hospital, orphanage and *gaushala*, I feel confident the Kshatriya community in no time will become one of the most respected and honourable communities in the world. It is my sincere prayer that the Kshatriya community should overcome these evils and spend their money in useful pursuits. By these entreaties, I do not raise a wall against this tendency and the flow of money, but I only urge a change in the direction of the flow. This will be of immense help to the Kshatriya community and a real advancement. I recollect the words of Sir T. Madhorao that are full of sound advice and mature thought. He said that prayers for help are always pouring in before the Rajas and rich people. Such persons should make it a guiding principle that they should give first consideration to the prayers of the needy and the second place to the prayers of those who seek help for amusement. As for example, when two applications are simultaneously received, one a prayer from an orphanage and the second from a theatrical association, the former deserves primary consideration.

(ii) I may now proceed with "Anger". Anger casts a gloomy shadow and makes one devoid of reason. One cannot discriminate right from wrong and becomes totally blind. A community given to anger cannot realize its duty and consequently cannot prosper. A lion falls an easy prey to armed *shikaris* because of excessive anger. Jealousy breeds anger and anger destroys reason. Do not be jealous and angry because anger is a weapon which injures the person who holds it. If you desire to equal some one, do not feel envious. Try to find out your own deficiencies and to make them up. It is very probable that not only will you become equal to him, whom you

envied, but you will excel him. Honest efforts never remain unrewarded. The Kshatriya community should whole-heartedly concentrate on and overcome anger, without which real organization is practically impossible.

(iii) Greed is another great enemy to be conquered. There can be no organization and advancement so long as greed is not overcome. I do not hereby mean that one should leave food and clothing. I desire to draw your attention only to what is harmful. We can find no better example than hundreds of law suits that are daily fought and that are incessantly undermining the community.

It is said that there is a natural tendency in man to imitate. But it is unusually strange the Kshatriya community inspite of remaining constantly in contact with Englishmen, do not imitate them. We can find no better example than the ideal organization of the British.

The goddess of wealth goes uninvited to live with an enthusiastic, methodical, brave, steady and grateful person who is not given to pleasures and procrastination and who is supported by firm and trustworthy friends.

The enthusiasm and enterprising spirit of the British nation deserves careful study. They have proved to the world their noteworthy and praiseworthy qualities of steadiness, bravery, skill and expediency. While India was declining, it was the time of British ascendency. The bold sons of Britain embarked on tiny ships and braved the hardships of wind and wave with an unflinching courage and full of confidence in God. They set out in search of India guided by two principles :—

"God helps those who help themselves."

and "Rule Britannia, Britannia rules the waves,

"Britons never, never shall be slaves."

They boldly faced disappointments and reached

America and ultimately through their unabated zeal did succeed in finding out India.

On reaching India they brought the divided Hindu community under their influence and checked the aggression of the Mohammadans on Hindus. They never interfered with the religion of any community and through their tact won the confidence and approbation of the people and attracted them like a magnet. There is not the least shadow of doubt that but for the timely help of the British, the various ancient temples at different places would have been a thing of the past.

As my subject centres on *organization*, I should not allow myself further digression. The ideal organization of the British Nation, at the time of the Great War, is the best illustration. They worked up like the wild bees, who when disturbed, put elephants, lions, horses and men to flight—because of their perfect organization. Let us take another example. When Miss Ellis was kidnapped and Mrs. Starr, braving all dangers, went in search of her, the prompt action of the Chief Commissioner and His Majesty King George's message of congratulations on Mrs. Starr's success conclusively bears testimony to the British Nation's sympathy, bravery, resolution and expedition. The very fact that His Majesty immediately got intelligence of Miss Ellis' disappearance and his congratulation on Mrs. Starr's success prove the quick and expeditious action of the British Government, His Majesty's love for his race and his unfailing recognition of the Government Officers' commendable actions.

There can be no possible obstacle in the way of advancement, rather the progress is automatic, where the links connecting the ruler and the ruled are so securely forged. The king and the subjects form one body. Just as, when the toe is slightly pricked, the brain receives the sensation instanta-

neously, in the same way, the king immediately gets the information of the slightest disturbance at any part of his Empire. The British Cabinet loses no time in thinking out the solution and the matter is promptly nipped in the bud. Backed and guarded by such an ideal administration, the English Nation wanders over the world fearlessly. A turtle lays its eggs on the beach and helps its incubation by will power although absent in body; similarly the British Cabinet protects its roving sons in the different corners of the world. By remaining in incessant touch and seeing their various activities day and night, will not the Kshatriya community rather the Hindu community take a lesson and overcome its inertia? Do you require any other example besides the ideal of the British Nation? It is a matter of regret and disappointment that the sons of the Kshatriya community should remain idle, jealous, greedy, drunkards and unrighteous and still boast of themselves to be a treasure of wisdom. Devoid of courage and strength they think themselves to be above others. They feel no disgrace in wading through immorality. They have lost the sense of truth and justice and feel no enthusiasm for religious and righteous works. They would give long lectures from the platforms and lip-assurances but when it comes to practical working they would avoid and refuse responsibility without the least shame or a prick of conscience. How should one expect advancement so long as such conditions exist? Instead of hoping for their betterment, I feel grave doubts lest they even exert their influence on the Britishers, their companions and near neighbours.

Bhring by repeated efforts gives its appearance and virtues to *keet*, but so far the British *bhring* has not influenced the Kshatriya *keet* and not imparted to it its virtues. Perhaps the Kshatriya community is not willing to accept and

assimilate. Now we find the two parties standing face to face, the Hindu community on one side and the British on the other. The latter desires to make the former equally advanced but despite repeated efforts the former has remained indifferent because of its long imbecility. May God make the Britishers successful in infusing the healthy spirit.

THE RAJASTHAN HISTORY.

Charan Ram Nathji Ratnoo, a resident of Jaipur, was a notable person of good reputation. He compiled a History of Rajasthan in 1892. In the concluding part of the said book he deals with the vices and the virtues of the ancient Rajputs which make a profitable and interesting study. Therefore, I venture to give an English translation of the last Chapter, trusting that it will prove helpful and beneficial.

Kshatriya community to improve, but no advancement can be hoped so long as the Kshatriyas do not conquer the vices that have been handed down from their ancestors. As long as the patient does not abstain from certain harmful things the medicines are of no avail.

Before enumerating the evils that are persistently and obstinately clinging to the Kshatriya community, it is reasonable to make clear that there were countless virtues as well, and specially in the Sishodia clan and its Sardars. But for the last hundred and fifty years they have been equally forward on the wrong side and the greatest deterioration of Mewar during the above period has been the direct result. The British Government deserves warm gratitude and congratulations for saving the ancient Mewar from destruction.

Therefore, I proceed with the vices of the ancient Kshatriyas so that the modern ones may take a lesson and get rid of them and later I shall deal with the virtues of the ancestors in order that they may work as a stimulant on the present ones and they may advance under the kind Government.

Vices of the Ancient Kshatriyas.

First—One of the greatest vices that has been handed down and still holds its sway, is jealousy. The nearer they are connected to a person, the keener the jealousy. The nearest relative of a person happens to be his brother and naturally there should be love and sympathy among brothers but in Rajasthan we find just the contrary. There is a popular proverb, "I do not feel sorry for the loss of my own cattle but I feel unhappy because my brother-in-law (husband's brother) has not lost any". It is indeed strange to see that they are unusually friendly to foreigners and equally jealous and inimical towards their own

kith and kin. They would patiently bear the injury done to them by a third person, but despite all help and attentions of a near one they would feel malicious towards him. We find ample proof of this fact in history. They discarded their own men and ran to make the foreigners, the Musalmans their best friends. They even went the length of helping Musalmans against their real friends and well-wishers, their own benefactors and relatives. As for example, Selaundi Tanwar betrayed Rana Sangram Singhji of Mewar. The wise and able Maharana had almost succeeded in driving the Mohammadans out of India. But Salaundi Tanwar betrayed him at the most critical hour. He thought in his black heart that in case Babar would be defeated he will have to live as a subordinate chief to Rana Sangram Singhji. He could tolerate a foreign yoke but could not bear the sight of Rana Sangram Singh becoming the Master of India. Thus Salaundi Tanwar was responsible for all the atrocities and oppressions during the later Moghul rule. The second illustration is the shameful work of Rajputana which sided with Akbar against Maharana Pratap and preferred to remain under Mohammadan subjection. As you sow so you reap. One need hardly repeat the consequences of these disgraceful deeds and how they suffered at the hands of Akbar and his successors. It is beyond imagination and yet we find it as a hard fact that Maharaja Surjan Singhji of Bundi, in whom Maharana Pratap fully relied, betrayed him and surrendered the famous fort of Ranthambhor in order to transfer his allegiance from Maharana Pratap to the Mohammadan ruler Akbar. What did he gain thereby except infamy? How very desirable would it have been if Maharaja Man Singhji of Amber had conquered Kabul, the Punjab, Bengal, Orissa and Gujrat for himself or for Maharana Pratap in place of Akbar? If he had not been at the back and call of

Akbar, his rightful heir Maharaja Maha Singhji would not have been deprived of the Amber throne and there would have been none of the internal domestic troubles and disturbances in Amber which came to an end on the accession of Mirza Raja Jai Singhji. During the same period Maharaja Rai Singhji of Bikaner took pride in forming fealty with Akbar and in causing the slaughter of thousands of Rathors, his own kith and kin. How very sad that just for becoming a ruler of Jodhpur for three years, Maharaja Rai Singhji stooped so low. Those three years passed away quickly and for good but they have left a lasting impression on account of the irreparable loss and later ruthless activities of the Moghuls on his own Rathors. Maharaja Udaisinghji of Jodhpur got an opportunity of earning an immortal fame—like Ram Chandra Maharaj and Chudaji Shishodia, the great ancestor of the Chudawat clan—by abdicating the throne of Marwar in favour of his younger brother Chandra Senji as desired by his father Maldeoji. But it was too much to expect from the degenerate Kshatriyas of the 15th century. Udai Singhji sold his independence and sought help from Akbar and waded, in the blood of thousands of his own Rathors, to the throne of Jodhpur. His period was a wholesale misrule so much so that the people of Rajasthan consider it a sin to take his name and call him "the fat ruler". He could have avoided this everlasting blot by giving up the throne of Jodhpur. Suffice it to say that almost all the chiefs of that horrible period were of the same mentality.

If some one may argue that Akbar was so powerful that the Rajput chiefs could not help submitting in order to save themselves from destruction and thus their action was justifiable, in reply it may be said and emphasized that if all the different chiefs had found a union under the leadership of some one capable

among them and had shown a united front, it was very likely they would have conquered Akbar. God would have undoubtedly helped them just as He helped Maharana Pratap in his just cause and bold struggle. The petty States of Bavaria, Saxony and Wurtimburg in Germany stood in no comparison with France, yet when they realized their utter weakness and understood the strength of the enemy, they formed a union under the leadership of the Prussian king, that is to say, the German Emperor and made an honest effort towards progress. Very soon Germany was changed beyond recognition. The tables were turned and instead of Germany being afraid of France, France was afraid of Germany and its superior power. To-day Germany is one of the powerful nations of the world. If the Rajputs had acted like the Germans and made a common cause when Mohammad Ghazni, Mohammad Ghori and other Pathan kings invaded India or when the struggle was going on between Akbar and Rana Pratap, they would not have been made to suffer the cruel Mohammadan rule for seven hundred years, till the British delivered them. For thousands of years, the Rajputs have been working in the wrong direction. There was disunity at the time of Mahmud Ghaznavi's invasion, there was enmity between Prithwi Raj Chauhan and Jai Chand Rathore at the time of Mohammad Ghori and I have already dealt with their farsightedness during the times of Babar and Akbar. Now we can easily come to the conclusion that for the last thousand years there was a readiness in the Rajputs to bear a foreign yoke however heavy and painful but they could not tolerate to be ruled by one of their own men. There is a proverb in Sanskrit, "As the ruler so the ruled", accordingly because the Rajputs have been the rulers here, the subject, followed in their footsteps and suffered the consequences. Even to-day this vice is

prevalent to the same degree and especially among Rajputs it is very predominant. So long as this vice remains deeply rooted, there can be no hope of advancement. Thus it is my prayer to the people of Rajasthan to overcome this evil as soon as possible and cultivate a hearty and loving co-operation among themselves and their countrymen. If they see some one among them prospering, they should not feel jealous but should be proud of his prosperity and consider it their own, and they should be thankful to the British Government to whom they owe their happiness.

The second great evil practice among the people of Rajasthan and Rajputs in particular, was polygamy and keeping of several wives. It was to a very great extent responsible for their degeneration and irreparable loss. It was a tremendously harmful practice. This was the root cause of jealousy and hatred among themselves, among the sons and with other relatives. There are numerous examples in the history of Rajasthan where many Rajas and Maharajas were murdered or poisoned by their wives, sons or the relatives of the Maharanis. Col. James Todd suspects that once Maharana Sangram Singhji of Mewar was poisoned at the instigation of one of the Maharanis. Charan Surajmullji in his reliable Banshbhaskar says that a Maharani tried to poison Maharana Raj Singhji with a view to make her son the successor. But the plot was discovered and the Maharani was killed. But for the capability and courage of Raj Singhji, it was just possible the whole Rajputs of Rajasthan would have met a terrible fate at the hands of wicked Aurangzeb. Over and above this Aurangzeb was specially against the Sishodias and the Rathores and hated them. Leaving aside the Rajas and Maharajas, countless Maharaj Kumars fell a prey and were heartlessly assassinated. If there were two or three sons

from different Maharanis and in case the mother of the heir-apparent happened to fall into disfavour or in case she was dead, the favourite Maharani invariably got the heir-apparent killed so that her own son might succeed to the throne. Some of the Maharanis were so heartless that although their step-sons were not heirs-apparent, they got them killed by the Maharajas who were puppets in their hands. Not to speak of other petty chiefs, even the educated and enlightened Maharaja Sawai Jai Singh of Amber was not an exception. He got his eldest son and heir-apparent Sheo Singhji killed in order to give the throne to his second son Ishwari Singhji. The step-brothers were seldom on good terms. They were constantly fighting and seeking one another's destruction. This was the reason why Rajasthan fell an easy prey to Mohammadans and Marhattas. In this connection the example of Maharaja Ishwari Singhji and his younger brother Madho Singhji deserves study.

The keeping of concubines was still more harmful. Maharaja Lakhaji's sons Chacha and Mera, from concubines, are well-known for their evil deeds. Similarly a worse crime was done by Maharana Sanga's nephew Banbir, the son of Prithwiraj's concubine who murdered Maharana Vikramaditya and became master of the throne. The favourite concubine of Maharana Bijay Singhji is another example. She was responsible for the murder of so many Rajkumars of Marwar that after the death of Maharaja Man Singhji, Maharaja Takht Singhji had to be brought from Ahmedabad and taken in adoption. Later on she was the root cause of internal and domestic troubles among the Rathores, which gave an opportunity to the Mahrattas and Mir Khan to suck their life-blood like leeches until the British saved them. Maharaja Bakhtawar Singhji of Alwar fell a victim to his concubine Musi and thereby laid a foundation of

misery in Alwar. It is just possible that Alwar would have been totally ruined but for the help of the British. Nevertheless, there was constant agitation till the death of Balwant Singhji, the son of the aforesaid wicked concubine Musi. If the Kshatriyas desire to progress, it is of paramount importance that they should have only one wife and should never keep concubines.

The third vice predominant among the Kshatriyas is their false family pride. Some of them think themselves superior to their brethren and look down upon them with contempt. It is indeed very curious. So long as both the paternal and maternal connections are faultless, there should be no question of superiority or inferiority. There may be a difference of position; one of them may be a cultivator and the other a big landlord, but there can be no difference in caste or purity of family so long as one is not illegitimate. This was carried so far among Rajputs that different minor branches that is subordinate clans sprang up from Shishodia, Kachchhawa, Rathore, Bhati and Chauhan who were considered to be of a lower grade. Naturally, marriage alliances with them were avoided and every one wanted to give his daughter into the recognised superior families.

When the would-be bridegroom's father was approached by the bride's party for the settlement of marriage, he invariably demanded a high price, considering himself to be of superior grade. Such sums that were demanded were always far more than bride's father could afford. Obviously the poor fellow had to mortgage his estate and marry his daughter. Even this was not all. When the bridegroom would come and the marriage would be performed, he would demand a heavy sum at the end. The poor father-in-law could have no alternative but to accede to his son-in-law's exaction inspite of his being

in a very wretched condition. In case the son-in-law was not satisfied with the dowry, he would ill-treat his wife and very often marry another girl and thus making his previous one miserable for all her life. In view of the said facts, the poor and helpless father-in-law was compelled to appease his son-in-law, although it might mean his complete ruin. The net result of all these evil-practices was that the Rajputs took recourse to daughter-infanticide. If they took a girl in marriage from a certain family they would think it below their dignity to give their daughters into the same family. Children considered their paternal side superior and more honourable than their maternal side. Their mentality was simply marvellous in giving preference to their paternal side. In case the maternal side was not up to the mark, could they be justified in calling their own-selves quite pure and of a high standard? Taking the correct view, they were paying a compliment to their own-selves by drawing a line of demarcation between their paternal and maternal sides and holding one in esteem and the other in contempt. It was such misunderstanding that gave rise to the utterly disgraceful, sinful and heinous crime of daughter-infanticide. One can hardly conceive of a greater and more dreadful sin. Kshatriyas should be indebted to the British Government because it was through their influence that this evil-practice could be uprooted not only from Rajasthan alone but from the whole length and breadth of India.

The fourth vice among the Rajputs was dacoity and plundering. Originally the Kshatriyas were made to protect the weak from the aggression of the strong. So long as they remained firm on this praiseworthy principle, their glory remained untarnished and they were prosperous and happy. But later on, they began to take pride in plundering the poor and

helpless people. Just imagine their total departure from what was virtuous and commendable to the other extreme. They made plundering their profession. They never thought that in future this black deed would degrade them to such an extent that people would begin to count them among the Bhils, who were given to such mean practices. The Rajputs, sometimes, did not have scruples in plundering a rich *bania* of their own village. During the night they would get him plundered through Minas and the next morning they would come forward to give the poor victim, of their own creation and foul play, all assurances of keen investigation and full justice. They would make all preparations and go out armed to the teeth, not to save the poor and friendless but on the contrary to plunder them. They would go out and plunder the helpless *banias* returning home with hard-earned money and a long separation from their near and dear ones. One can hardly conceive the anguish and shock that the poor creatures must have suffered. No one can adequately imagine the suffering and the heart-rending pang, until he can visualize himself plundered at his own doors after carrying safe a treasure, from thousands of miles, accompanied with its usual troubles and worries. At places these heartless people would not even spare their lives after robbing them of all their wealth. The prayers of such miserable people were at last heard and God in his mercy sent the Britishers from thousands of miles to save them from Rajputs and Mohammadans. The Rajputs should learn the way to rule and protect from the British Government and no longer blacken the word "Kshatriya."

The fifth fault among the Rajputs was their narrow-mindedness. It was due to this that jealousy and malice had such a firm hold on them. They preferred to remain as subjects of Mohammadan kings

rather than as subordinates of their own kith and kin. Instead of protecting their subjects they began to plunder them. Their heart was black with selfishness and greed. I do not hereby mean that others were not selfish or greedy but I want to lay stress on the point that they were not so narrow-minded. A man is justified in being selfish to that extent that he may gain his ends but not at another's cost. But the Kshatriyas through their narrow-mindedness gained nothing but injured many. The Kshatriyas have always been given to encroachment of land. They could not conquer and annex land in other countries nor could they win back their own land from Mohammadans and thus they resorted to encroaching on the land of one another. There is a proverb in Hindustani, " One should take the land of one's own brother, and the daughter of one's own relative (*saga*)." There is no need of dwelling any more on this subject. One can easily surmise the result and the condition of those working on such principles. Every Rajput wanted to snatch away the land of his own brother. If he was unsuccessful, he would go to a Mohammadan ruler or a Nawab and promise a part of the land if he would help him in getting it. In later times Amir Khan and Marhattas made good use of such offers and it is because of this that the big states of Rajputs have now been diminished to small principalities. In Mewar Vikramaditya promised Babar to give him the famous fort of Ranthambhor in case he helped him in winning his own brother Ratan Singh's throne. How very desirable it would have been if the Rajputs had considered the following points before entertaining an unjust and unlawful desire of getting another's throne or wealth :—

First he should consider whether he is fit to rule. There is a saying that in law suits when one's conscience believes that one's cause is right, one

always wins the case, without the aid of any third person. Truth prevails at last. In the same way one should think whether his claim to another's throne is a just one, whether he can get it through his own exertions and whether he has capacity to manage the state when he becomes a king. If the above points happen to be in his favour then there is no necessity of taking help from the enemy of his community, country and faith. But if the above points are against him, it is clear that his claim is an unjust one and he cannot win without help. This practice of taking help from outsiders was a staggering blow and the Rajputs from that time onward grew weaker and weaker. There were two reasons for their downfall, based on the above evil-practice. In the first place, the persons who succeeded to the thrones through the help of Mohammadans were incapable and unworthy to rule and secondly the porson who gave them help came to know all the ins and outs of the estate and ultimately tried to get the whole for himself. Over and above, the estates were getting smaller and smaller because of giving away the promised portions of the newly-won land to the helpers in recognition of their timely aid. Guided by such principles were the worthy chiefs of Rajasthan during the reign of Babar, Humayun and Akbar. The Rajputs of Rajasthan are still exceedingly narrow-minded. They even now stick to the same old rule that one should take the land of one's own brother. Thousands of cases, in the State Courts, among brothers for very small portions of land are the convincing proofs. The Rajputs have degraded themselves to such an extent that now they have begun to confiscate the lands that were given away in charity to the Brahmans and the Charans. This is just like a drowning man catching at a straw. For the last six hundred years, the Rajas, Maharajas, Sardars, Ministers and the

inhabitants in general of Rajasthan have been extremely narrow-minded. Broad-minded persons have been so few and far between that they are negligible. Therefore all educated people should pay attention to this problem and try their level best to uproot this evil.

The sixth short-coming amongst Rajputs is that they are slaves of many habits and especially their addictedness to wine. Although so many royal families have been ruined on account of this evil habit, yet the Rajputs have taken no lesson from them. When the Rathores won Kher, they slaughtered Gohelos; when the foundation stone of Kishengarh was laid Gharsiòts were destroyed at Setholao, all due to wine. No sooner does one begin to drink wine than one forgets himself and loses all capacity to manage and take due care of his duties with the result that he brings about his own utter ruin. Nowadays the sardars have begun to drink foreign wine which in addition to all its bad effects is so costly. Tho Kshatriyas should abstain from wine and teach others to leave it.

The seventh vice among the Rajputs is or was their habit of developing deadly quarrels. If a man killed another in his family, out of greed, malice or anger, there was immediately a split in the family. Many would side with the murderer and many would take the cause of the deceased and a deadly fight would ensue. Each party would try to annihilate the other. Thus they caused the destruction of their own family and gave a good chance to their enemies to get an easy victory over them. I do not mean by pointing out this evil that the guilty should not be punished. It would have been well if the near relatives of the deceased could have gathered together and punished the murderer and thereby saved hundreds and thousands from perishing in a trifling matter. How

commendable it would have been if they had used all this energy in driving out their common enemies.

The eighth fault among the Rajputs was lack of sympathy and unity. They identified themselves by clans and never thought that they belonged to the same Kshatriya Community. Shishodia, Kachchhawa, Rathore, Bhati, Chauhan and Saulanki, the different clans had absolutely no sympathy with one another. They had nothing to do with one another's weal or woe. It is a very curious and puzzling matter. In fact they were all one and most closely connected with one another. They did not have the common sense to work out the simple fact that since there are no inter-marriages in the same clan, the mother must have come from some other clan. Now father and mother have an equal claim on the son and naturally the son should have equal interest in both the clans, that is, of his father and of his mother. He should have equal sympathy with both. But unfortunately we do not find it so. The mother's side is totally avoided and the son exclusively concerns himself with his paternal side alone. If they had only realized this, they would not have sat quiet and enjoyed the plight of their brethren of the other clan and the Moghuls would not have found an easy task to subjugate them.

Besides the above-mentioned defects there were many other vices; but to put the whole matter in a nut-shell it was all because of lack of education. It was due to this one great drawback that so many vices cropped up. The Rajputs considered it injurious to educate themselves. There was a notion that if one gets educated he becomes a coward. How very ridiculous indeed! Could not they think for themselves whether Maharaja Raghu, Aj, Dalip. Arjun, Karan, Sri Ram Chandraji and Sri Krishnaji—who are well-known for their courage and bravery—were

without education. On the contrary, they were highly educated. Just compare your own courage and bravery with theirs and see where you stand. The question may arise that Ram Chandraji and Krishnaji were incarnations of God and the other kings enumerated above do not belong to this age and thus education did not affect them as it does now, in making one a coward. In reply to this I should only like to point out Vikramaditya who is well-known for his chivalry, courage and generosity. He was well educated and belonged to this age and obviously is a recent example. Now the Rajputs are an ignorant mass. According to their theory they ought to have been extraordinarily rather abnormally powerful, but we do not find them so. On the other hand, the British Nation with its high education is so powerful that the Rajputs should wake up now and take a lesson from the English Government.

Virtues of the Ancient Rajputs, responsible for the existence of the Community.

While considering the various vices that I have enumerated one is inclined to think and wonder as to how could this community exist, with such a big burden of vices. In reply I may quote the Hindi saying, "The world is never totally devoid of brave persons."

Although the Kshatriya Community was full of vices, yet at times it produced brave, capable, prudent and generous men, who were the prop of the community and responsible for its existence. But for their timely help and expediency, it is just possible that the Kshatriya community would have been altogether destroyed. However, exceptions only prove the rule.

When we begin to dwell on the virtues of the Rajput Community, the Sishodia clan comes to the forefront. With the exception of eight or ten, all the

predecessors of Maharana Bhim Singhji were exceedingly brave, generous, prudent, capable rulers and ardent lovers of independence. If you desire to get an idea of their bravery and self-sacrifice you will do well to pay a visit to Mewar, the famous Chittorgarh, an outstanding mark of their undying fame, Haldighat, Nahigam and various other small ruins that proclaim the self-sacrifice of the Sishodia clan for the sake of its independence, country and faith. I dare say that only a few countries can boast of so illustrious a history. From the time of Baparawal down to the time of Maharana Raj Singh they were incessantly engaged in warfare with the Mohammadans. During that period the Mohammadan rule was at its zenith and it spread its long arm throughout the length and breadth of India, and even from Bengal to Portugal. Amid this vast area 'of background, Mewar stood out a singular figure and defied the Mohammadan kings with all their resources and teeming army. It was the only place to hold its head high. In the 14th century when the Mohammadans were dominating the whole of India and when their hands lay the heaviest, the Sishodia clan could not bear to see their brethren in agony and came forward to help them despite the fact that often it meant their own ruin and destruction. Six Maharanas of Mewar lost their lives in the cause of religion at Gaya. They could easily have sat quiet at their own places, like others, but they preferred to undergo all sorts of hardship and rescue their brethren outside. They were not on bad terms with the kings of Delhi and accordingly all their troubles were self-imposed. There cannot be a better example of self-denial and the spirit of generosity. On the other hand, the other chiefs of Rajasthan did not care a fig for the Mohammadan aggression so long as they were left undisturbed. The self-lessness

and magnanimity of the Sishodia clan deserve appreciation and admiration. Their heart was overflowing with the love of country, faith and their fellow-beings and therefore they could not bear the sight of the cold-blooded murders, razing of temples and raising of mosques in their places, the slaughter of cows at holy places and people being stopped from giving oblations to their ancestors at Gaya. They had an equally keen love for their fellow-beings outside Mewar and their broad-mindedness considered the whole of India their motherland. They were always ready to side with justice and take up the cause of the poor, helpless and friendless. They considered it an honour to lay down their lives in rescuing others. They held fast to the motto that they used to write on their banners, namely, "God takes care of those who follow truth and righteousness." Indeed, God helps those who help themselves. The whole Hindu community of India feels indebted to them. In their utter helplessness they had the satisfaction of knowing that at least there was a fraction of people who had full sympathy with them and were ready to take up their cause at the cost of their lives. This is the reason why they gave the epithet, "The sun of the Hindus" to the Sishodia clan.

In the end of the 14th century, the Rajkumars of Mewar and the eight brothers of Maharaja Lakshman Singhji through their activities outside Mewar, set an example of nobility, capability, mutual love and courage. How very beautiful it would have been if the Rajkumars of other states had followed in their wake. The general public would have appreciated them for their virtues. But alas! except a handful of Rajkumars of Mewar, almost all the the rest were a centre of vices.

In connection with the siege of Chittorgarh at the time of Maharana Lakshman Singhji, it is said,

that one night when the Maharana Saheb was having a round of the fort, a huge figure presented itself before the Maharana. On being questioned it said that it was the guardian angel of Chittorgarh. It said to the Maharana, "Unless you sacrifice your twelve sons to me on the battle-field, Chittorgarh will pass for ever from your hands into the hands of Mohammadans. They will break your idols and slaughter cows at this holy place of your ancestors." This had no material bearing on whether one would remain a king or not. It was a question of "Dharma" (duty) and therefore the Maharana did not care in the least for his own life or for the lives of his sons. He immediately sent for his sons and told them the whole happening. Some people may dispute the presentation of the goddess, but this carries no weight. It may have been an illusion but all the same it is true that the Maharana and his sons did believe in the goddess. No sooner had the princes heard this than each one of them became eager to lay down his life for the sake of their holy capital Chittorgarh and in the cause of religion. These noble princes were not like others who preferred to remain as slaves to the Mohammadan kings to risking their lives and enjoyments. The brave princes knew that they had to die one day. There was no wisdom in preserving life with ignominy when death was inevitable sooner or later. With such noble and praiseworthy ideas the eleven brothers and the father, in place of the twelfth, sacrificed their lives on the battle-field, thereby earning an immortal name.

In the beginning of the 15th Century we find an excellent and most wonderful example of self-denial. We can hardly find its parallel except in the case of Ram Chandraji or Bhishmaji. Maharana Lakhaji wanted to appoint his youngest son Mokulji as his successor. When the noble prince and heir-apparent

Chudaji came to know of his father's desire he most willingly abdicated in favour of his youngest brother Mokulji. Later on, because of ill-counsel Mokulji began to suspect him and entertain black thoughts against him. Chudaji presently left his home and went to the king of Malwa, who immediately gave him an estate of 9 lakhs. Contrary to the general rule, the noble prince Chudaji never bore ill-will towards his youngest brother nor did he create a disturbance. He did not behave like other narrow-minded princes of his age, who under similar circumstances would immediately go to some Mohammadan chief and seek help against their own kith and kin and bring destruction to their own home. But Chudaji was too large-hearted for such mean designs. It is certain that despite his living in Malwa, if the king of Malwa had attacked Mewar, Chudaji would have been the first man to fight for his home and mother country. In fact, the king of Malwa would have been so glad to help Chudaji in winning back Mewar, because he would have got quite a good share for his services and aid. But Chudaji would never think of such things. He would rather die than retract his words. Chudaji well knew that it was on account of bad company that his foolish brother was suspicious towards him. But did it mean that large-hearted Chudaji should take recourse to the usual disgraceful custom of the day and thus ruin his own home? Some people may ask why Chudaji did not convince his brother that he was wrong in suspecting him. But may I venture to reply that it was impossible? When one becomes biassed and jealous, the more you try to convince him, the worse he becomes and takes your well-intended words as taunts. Accordingly Chudaji thought it expedient to leave the place and thus cut at the root of further misunderstandings. Afterwards, when he found the Sishodias in distress,

he endangered his life and with a handful of men forced his way into Chittorgarh and slew Rao Ridhmalji of Mandaur and delivered the Sishodias. He made Kumbhji, the son of Mokulji, the king of Mewar and carried on excellent administration of the State. Salumber was the place given to Chudaji where even now his descendants rule. Raoji of Salumber is the premier nobleman of Mewar. The Kshatriyas should follow the example of Chudaji and thus prove themselves to be true Kshatriyas.

So far we have dealt with the direct descendants of the Sishodia clan. Now let us trace the history and virtues of somewhat distant branches of the same clan. The brave and noble characters of Pratapgarh present themselves in the forefront. Col. Todd's account shows them to have been exceptionally brave, righteous and generous. There was a great struggle between Surajmalji and Prithwirajji for Chittorgarh. But Bagh Singhji son of Surajmalji remained firm on his principles and did not care for the much-coveted Chittorgarh although it was within easy reach. Bagh Singhji could easily have won Chittorgarh if only he had sought the help of some Mohammadan King. It was too degrading a deed for the Sishodia clan and his self-lessness predominated in spite of this tremendous temptation. Such people were the jewels of their clan and community and they always gave preference to independence, religion and country rather than enjoy all the worldly pleasures in bondage or at the expense of religion. Bagh Singhji's son Rai Singhji deserves a greater tribute because he won Chittorgarh and afterwards gave it to Vikramadityaji. Rai Singhji's son Bikaji was equally broad-minded and kept up the honour and prestige of his family.

The Sishodia clan abounds in such illustrious and brave people. All the same, Sangram Singhji and Maharana Pratap Singhji's history deserves a critical

study on account of their unusual and unprecedented chivalry. During the rule of his son Udaisinghji, Akbar laid siege to Chittorgarh and Udai Singhji had to leave the fort and fly. At that time Medtia Rathore Jaimallji and Pattaji Chudawat made a name for their courage and bravery. They have been so widely known in Rajasthan that even a child of 10 years is well acquainted with the names of Jaimal and Patta. I myself heard the names of Jaimalji and Pattaji when I was seven years old, not from any book nor from any old person but from my own playmates. The children had divided themselves into two parties, one representing the Delhi king and the other the Sishodia clan. The names of Jaimalji and Pattaji were loudly called out by both the parties and it was an inspiration for them to fight with full zeal and vigour. Is it not a matter of pride to have one's name called out with respect by all, young and old, throughout the country? Now I proceed to deal with the history of Pratap Singhji. My pen is too feeble to trace correctly the unparalleled career of Pratap Singhji. He is best known in Rajasthan for his courage and perseverance. He defied the Mohammadan king Akbar although he was nowhere in comparison with the mighty strength of the enemy. His career throughout was full of thorns and he fought against tremendous odds. It was courage and perseverance supported by a mighty will that carried him through. Just imagine the Mohammadan Empire stretching from Burma to Persia and from the Himalayas to the Vindhyas and, on the other hand, the small tiny State of Mewar, incomplete in itself at the time, since Chittorgarh with many *parganas* had already passed into the hands of the Mohammadans. On one side, Akbar with his millions of soldiers and all the chiefs of Rajasthan with him and on the other side, Maharana Pratap Singhji single-handed with a handful of his own kith and kin. In short, all the

chiefs of Rajasthan and Akbar wanted to totally annihilate the Sishodia clan but by the grace of God, Maharana Pratap never yielded and he remained unvanquished.

It is necessary to make clear that the kith and kin and the Sardars of Maharana Pratap, with the exception of Bundi, remained loyal and faithful to him to the very last. Akbar held out many tempting offers to them but they remained firm and all his efforts were of no avail. I take great pleasure in mentioning here that Chudawats, Chauhans of Bedla and Kotharia, Jhala Man Singhji of Sadri etc. and all the Sardars of Mewar served their master with all their heart and soul. When Tanwar Raja Ram Singhji and his son Khanderaoji lost the throne of Gwalior, they were the only exception of that age, who preferred to take refuge with the Maharana to binding themselves in slavery to the Mohammadan ruler. They could easily have got back the throne if they had given allegiance to the Moghul Emperor and accepted his suzerainty. The Maharana welcomed them and held them in great esteem. Afterwards, these two true Rajputs were slain at the battle of Haldighat and earned a world-wide reputation. They remained true patriots and righteous to the very end of their lives. If some one had privately asked Akbar's frank opinion about the two sets of Rajputs, namely the one who were giving their lives for him and the other who were fighting for Maharana Pratap, he would undoubtedly have said that the latter were better and far superior.

Maharana Pratap Singhji's younger brother Shakti Singhji once got displeased with his brother and took service under Akbar. It was a great stain on his name. Later on, at the battle of Haldighat he came to fight on behalf of Akbar against Maharana Pratap. But just at a very critical juncture, he

responded to the national feeling and saved the life of Maharana Pratap and thus cleared his blot. In a way, his going over to the side of Akbar was a blessing in disguise.

Man Singhji Jhala showed the greatest loyalty, courage and presence of mind in saving the life of Maharana Pratap Singhji at the battle of Haldighat.

After Maharana Pratap Singhji, the life of Maharana Raj Singhji makes useful and interesting reading. He was equally capable, courageous and resourceful. Therefore his plans and schemes were mostly successful. He outwitted and defeated Aurangzeb, his powerful enemy, in many ways and compelled him to make negotiations for peace. When the unjust rnler Aurangzeb imposed *Jazia* tax on the Hindus, Raj Singhji wrote a letter criticising this step in such a way that it bears testimony to his ability, courage and learning. Colonel James Todd writes in his praise that the modern kings of Europe could not write a better letter.

Besides the royal family, there were two persons of different caste whose actions were exceedingly praiseworthy and commendable. One of them was Bhama Shah Vaish whose ancestors had amassed great wealth in the service of Chittorgarh as ministers. When Bhama Shah saw Maharana Pratap Singhji leaving for Sindh and Baluchistan in a despondent condition, he offered all his wealth that lay buried and thus made a name for himself. The second person is the wife of a barber who sacrificed her own child and saved the life of Maharana Udai Singhji. The flatterers of the present day who rob their masters unscrupulously should take a lesson from the peerless fidelity of this maid-servant. The general public should also be as loyal to their Rajas and Maharajas if it desires to leave behind an undying memory.

Outside Mewar such great persons of superb

character and ideal principles have been just a few. Nevertheless, Pabuji Rathore, Harbuji Sankhla, Balluji Chanpawát, Kanthalji Rathore and Durgadasji Karnot Rathore are in no way less than the Mewar heroes. I dare say that we cannot find more than two or three persons, in the whole history of Rajasthan, to equal Durgadasji. I have already dealt with his life at length in the history of Marwar but I cannot help mentioning that along with his good name the bad reputation of Maharaja Ajit Singhji goes hand in hand. Maharaja Ajit Singhji proved himself to be highly ungrateful in exiling Durgadasji. It was wholly and solely due to the courage, capability, statesmanship and talents of Durgadasji that the Marwar Raj was won back for Maharaja Ajit Singhji. He had to endure incalculable hardships and undergo untold dangers in accomplishing this great work. The detailed account of Kandhaji can be found in the history of Bikaner. Balluji Chanpawat was a capable and dauntless hero. Pabuji Rathore and Harbuji Sankhla were so brave, righteous, courteous, chivalrous and resolute that even to-day the whole of Rajasthan worships them for their virtues. There are numerous tales prevalent in praise of their illustrious career which I am unable to write here for want of space.

Thus I have placed before the inhabitants of Rajasthan the harm that has been done by the jealous, obstinate, narrow-minded and craven Rajputs and also the benefit derived by the activities of the generous valorous, capable and farsighted Kshatriyas. In the end, it is my prayer to God that under the benign Government, people may overcome the vices and adopt the virtues and march on the way to progress, thereby bringing credit and honour to the mother-country.

PRAYER.

PRAYER.

In conclusion it is my earnest prayer that the Hindu Community should overcome its short-comings and embrace the virtues laid down in the precepts of the illustrious Shastras. It should thus conclusively prove to the world the high and honourable position that it maintained in the ancient days and that the blood of the memorable ancestors which runs in its veins has not grown too cold to catch a spark. It should convince the world that it still retains the capacity and can again rise to the same place of respect and appreciation.

The sole reason to bring about the decline of the community, has all along been "jealousy" and even now it is undermining, like a wood-worm that makes wood hollow and flimsy. Of course, in every country and every community people fight and litigate but when there is a common cause or a national call, they throw all such minor differences into the background and show a united front. We need not go far to seek for an illustration. We find one of the best examples in the recent Great War. Ireland forgot all its grievances against England and gave full support in fighting the common enemy, namely Germany. We should follow in their footsteps. It is very necessary that the whole Hindu Community including Sikhs and the Arya Samaj should consider itself one body. There should be no section or group to strike up a different term when there is a common cause.

In my humble opinion Brahmans and Kshatriyas are mostly responsible for the deterioration of the Hindu community, because the former are supposed to be the head and the latter the heart of the Hindu body. If the brain and the heart function well and

happen to be strong and efficient, they can manage the whole body despite the weakness of the other parts. But, taking the other view, if the head fails to work properly, the whole machinery goes wrong inspite of the body being strong, handsome and perfectly fit. The neighbours secure him with chains and tie him to the nearest tree, or send him to a lunatic asylum. In the same way if a person suffers from a heart disease, he has to depend on others to help and protect him. On the least disturbance he feels a shock and begins to perspire. In case the heart fails, there is an end and the body remains of no consequence and has to be quickly disposed of either by cremation or burial. Accordingly, it is of vital importance that the Brahmans and Kshatriyas should cultivate the virtues and duties of a real Brahman and a true Kshatriya in order to keep the body—of the Hindu Community—up and doing. A Brahman should always keep in view the following Shloka No. 42. Ch : 18 of the Gita:—

> "Serenity, self-restraint, austerity, purity, forgiveness and also uprightness, wisdom, knowledge, belief in God, are the Brahman duty (karma), born of his own nature."

Similarly a Kshatriya should make the following Shloka No. 43 of the 18th Chapter of the Gita, his guide in daily life.

> "Prowess, splendour, firmness, dexterity and also not flying from battle, generosity, the nature of a ruler are the Kshatriya duty (karma), born of his own nature."

There should be a better understanding and a loving co-operation between the Brahmans and the Kshatriyas.

Vaish and Shudras are also a highly significant part of the Hindu community. Obviously, the Brahmans and Kshatriyas should take them hand in hand and give them their due share in order to keep.

the body vigorous and energetic. At the same time, I may venture to say that the legs can be serviceable only in locomotion. The work of pronouncing the Veda-mantras should be left to the mouth, however weak. Every part must function in its place, discharge its own responsibility and work in unison. The harmonious working of each part automatically ensures the smoothest working of the machinery as a whole.

While discussing the Hindu Community, one cannot neglect a big group, namely, the *sanyasis.* In the olden days they were of immense value and benefit to the community but, it is a matter of incalculable regret, they are to-day a burden to the community. If they would only take it to their hearts and realizing their true duty would make an honest effort to uplift the community they might be of untold good. To-day we find them in a deplorable condition. But for a few really good and worshipful ones, they are wholesale parasites.

In the end, it is my sincere prayer to God Almighty to inspire the heart of the community so that they may feel and understand the pressing need and make a radical move towards advancement. May He grant the will to do and success will follow.

I recollect a Hindi 'kavit' and take the liberty of writing it down here, hoping that it will not be out of place :—

"There should be full and heart-felt sympathy with those who are in trouble or agony, and one should consider other's unhappiness as one's own. There should not be an iota of malice in the heart. A person possessing such qualities is capable of curing a snake-bite without the least aid of *Mantras.* Courage and perseverance can work wonders and make impossibilities possible. If four men work in harmony and make a united effort they can even uproot *Sumer* Mountain. Unity is strength.

* * *

A strong man and a water-fall channel their own way.

Where there is a will there is a way.

A *pundit* should toil for wealth and wisdom as if he were immortal but he should do his duty as if the sands in his life's hour-glass were nearly run out.

Begin nothing without considering what the end may be.

Do whatever you like but don't do wrong.

Hope for the good and prepare for the worst.

It is never too late to mend.

First of all a mosquito falls at one's feet and then goes behind and bites on the back. He turns round to the ear and whispers some strange secret. If he finds a way in through the net he readily avails himself of the opportunity. Even so is the life work of a wicked person.

If we work upon marble it will perish, if upon brass time will efface it, if we rear temples they will crumble into dust. But if we work upon our immortal minds, if we imbue them with principles of the just love of God and love of our fellow men, we engrave on those tablets something that would brighten through all eternity.

* * *